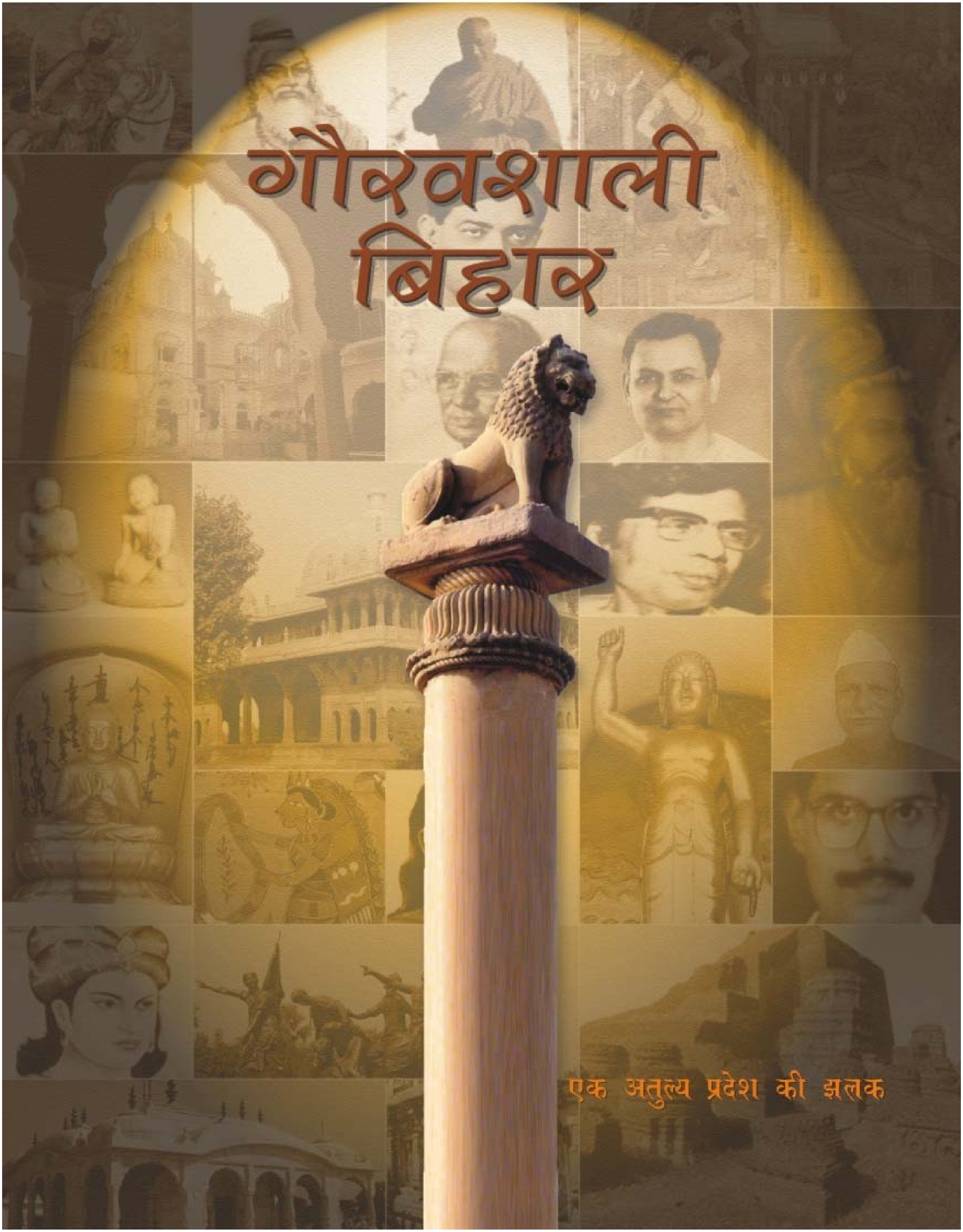
गौरवशाली
बिहार
एक अतुल्य प्रदेश की झलक

गौरवशाली बिहार की अंतर्कथा

करीब दो साल पहले मैं 35 साल का हुआ तो मैंने अपनी जिंदगी पर निगाह डाली। पाया कि मुझे वे सब चीजें लगभग प्राप्त हो गयी हैं या हो जाएंगी जो कि एक निम्न मध्य–वर्ग के बच्चे की ख्वाहिश होती है। जैसे कि आई. आई. टी. से इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर पाना, अमेरीका व अन्य देशों में काम करना, घर, गाड़ी, परिवार, थोड़ा बैंक बैलेंस जुटा लेना वगैरह। इस बीच मेरे एक करीबी मित्रा, जो मेरे घर आए हुए थे, ने बातों–बातों में अनायास ही मेरे 'बिहारी' होने पर टिप्पणी कर डाली। इस मित्रा के प्रति मेरी बहुत श्र(ा है और उन्होंने भी ज्यादा–कुछ सोच कर टिप्पणी नहीं की थी। कहने का मतलब यह है कि आज 'बिहारी' होने पर कोई भी, कहीं जब टिप्पणी करता है तो उसे इस बात का ख्याल नहीं रहता कि कब लक्ष्मण रेखा को पार किया जा रहा है। और लोग इसे स्वाभाविक समझते हैं।

इधर मैं अपनी जिंदगी के ऐसे मोड़ पर खड़ा था, जहां मुझे आगे क्या करना है, साफ नहीं था। विडंबना या संयोग यह है कि जिस मित्रा ने अनायास मेरे बिहारी होने पर टिप्पणी की थी, उन्होंने ही मुझे इस बात का आभास दिलाया कि जिंदगी में इंसान के लिये 'क्या बनना है' से ज्यादा महत्वपूर्ण होता है यह समझना कि 'उसे क्या पाना है'।

अगले पाँच–छह महीनों के आत्म मंथन के बाद यह बात साफ हो गयी कि मुझे बिहार के उत्थान के लिए काम करना है। फिर मैंने पहला काम यह किया कि इंटरनेट के जरिए बिहार से जुड़े कई ई–ग्रूप का सदस्य बना और 'प्राउड बिहारी क्विज' निकालना शुरू किया। जैसे–जैसे मैं बिहार के इतिहास का अध्ययन करता गया, वैसे–वैसे मेरी आँखें खुलती गईं और फिर खुली–की–खुली रह गयीं। मैंने समझा कि गौरवशाली भारत का तीन–चौथाई इतिहास बिहार केंद्रित है। और लोग, खासकर बिहार के लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं।

'प्राउड बिहारी क्विज' बिहार के लोगों को खूब पसंद आया। इसी दरम्यान मैं इंटरनेट के जरिए कुछ और लोगों के संपर्क में आया, जो मेरे ही जैसे ख्याल के थे और इस दिशा में पहले से काम कर रहे थे। बाद में हमलोगों ने मिलकर एक टीम बनायी, जिसका नाम 'वन बिहार टीम' रखा।

पर वह जमाना बिहार में अराजकता भरा था। प्रतिभाशाली और ज्ञान संपन्न लोगों की कदर नहीं थी। लेकिन नवंबर, 2005 में वक्त बदला। नीतीश कुमार काफी जद्दोजहद के बाद बिहार के मुख्यमंत्राी बने स्थितियां पूर्वापेक्षा थोड़ी सकारात्मक नजर आने लगीं। और हमलोगों के लिए 'प्राउड बिहार क्विज' से उठकर जमीन पर आने का वक्त आ गया।

मैं जनवरी, 2006 में हैदराबाद में प्रवासी भारतीय दिवस में 'बिहार डेलीगेशन' से मिलने गया और नीतीश कुमार जी से मिलकर काफी प्रभावित हुआ। एक टेक्नोक्रेट होने के नाते मैंने बिहार सरकार को पर्यटन के मामले में कैसे आगे बढ़ना है, इसके बारे में सलाह दी। फिर इसी दरम्यान एक किताब पढ़ी 'अडरस्टैंडिग दी प्रासेस ऑफ इकोनौमिक चेंज'। इसके लेखक हैं नोबेल पुरस्कार प्राप्त 'डगलस सी. नार्थ'। इससे यह बात मुझे समझ में आई कि प्रदेश के विकास के लिए मनोवैज्ञानिक विकास उतना ही जरूरी है, जितना की तकनीकी विकास अथवा वित्तीय विकास।

इधर पर्यटन के मामले में मैं बिहार के मंत्राी नंद किशोर यादव से अप्रैल, 2006 में मिला और उन्होंने मुझे 13 अगस्त 2006 को मुख्यमंत्राी नीतीश कुमार से मिलने के लिए पटना बुलाया। नीतीश जी मुलाकात मेरे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण साबित हुई, क्योंकि मैंने यह महसूस किया कि बिहार के नेता के पास वो चार गुण हैं जो आजकल दुनिया के राजनेताओं में एक साथ नहीं मिलते। ये हैं– मेध, ईमानदारी, बिहार के प्रति समर्पण और मेहनत। इस मीटिंग में मैं ब(ध्र्म का ज्ञान रखने वाले प्रेम कुमार मणि जी से भी मिला, जो विधान परिषद के सदस्य हैं। उनके साथ हमने बिहार की उपराष्ट्रीयता को बढ़ाने पर चर्चा की। और इसी दौरान मेरे मन में बिहार पर किताब निकालने का ख्याल आया।

मैं गांधी जी की एक बात पर खूब विश्वास करता हूं कि अगर आप बदलाव देखना चाहते हैं तो आपको बदलाव का कारक बनना होगा ;ठम जीम बींदहम लवन ूंदज जव`ममद्ध।

इसके बाद सितम्बर, 2006 में किताब पर काम शुरू हुआ। 'प्राउड बिहारी क्विज' के मेरे अध्ययन से किताब की विषय सूची बनाने में आसानी हुई। फिर शुरू हुई लेखकों की खोज। चूंकि मैं खुद एक लेखक परिवार से आता हूं सो काम की शुरूआत में आसानी हुई। पिताजी ने कुछ विषयों पर लिखने का जिम्मा लिया और कुछ पर उन्होंने श्रीनारायण समीर जी से लिखवाने की सलाह दी और कुछ पर नरेन जी से जब पटना में मेरी मुलाकात हुयी, तो उन्होंने इस अभियान में काफी गहरी रूचि ली। उन्होंने न केवल कुछ विषयों पर लिखने की हामी भरी, बल्कि इसके संपादन का भी जिम्मा लिया। साथ ही अन्य बचे हुये विषयों पर अन्यान्य विषय विशेषज्ञों से आलेख लिखवाने की भी जिम्मेवारी ली। उन्होंने फौरन हेमंत जी, डॉ. दीपक कुमार राय, डॉ. रवीन्द्र पाठक समेत अन्य कई सुधीजनों से चर्चा की और इस अभियान को तीव्र गति से आगे बढ़ाया।

इसके बाद चारों ओर से मदद मिलती गई और कारवां बढ़ता गया। बंगलौर के एक मित्रा दिव्यांशु वर्मा जी ने अखिलेश झा जी से हमारा संपर्क कराया। 'वन बिहार टीम' के ठाकुर विकास सिन्हा जी ने ठाकुर हरिंदर दयाल जी से कुछ विषयों पर लिखवाने का जिम्मा लिया। 'वन बिहार टीम' ने बिल्कुल आगे बढ़कर इस किताब को सफल बनाने का संकल्प लिया। किताब की छपाई, कवर, पेज डिजाइन, मार्केटिंग और इसका व्यय भार आदि इस टीम ने अपने ऊपर ले लिया।

किताब की छपाई के लिए कई बार सुझाव आया कि छपाई दिल्ली में कराई जाए। सस्ता होगा। परंतु हमने निर्णय लिया कि जब हम बिहार के विकास की बात करते हैं तो छपाई भी वहीं होगी। बिहार का आर्थिक विकास यूं ही नहीं होगा, बल्कि छोटे–छोटे काम से ही यह आगे बढ़ेगा। कल को यहां की छपाई दिल्ली और कलकत्ता से सस्ती और अच्छी भी होगी। और सबसे अच्छी बात ये हुई कि जब रोहित जैन, जो ऑफसेटर्स के निदेशक हैं, से बात हुई तो वे हमारे टीम के उद्देश्य से प्रभावित हुए और टीम में शामिल होने में हिचकिचाहट नहीं दिखाई। परियोजना में साझीदार बन गये।

दशरथ माँझी को किताब समर्पित करने का सुझाव अनिल कुमार ने दिया, जो कि मुझे और नरेन जी को पसंद आया।

इस किताब के जरिए हमारी कोशिश है कि बिहार के लोग अपने गौरव को जानें। आज बिहार के लोगों के खिलाफ जो एक सूक्ष्म, सुनियोजित कुप्रचार चल रहा है, उसे लोग पहचानें। अंग्रेज जब भारत पर कब्जा जमाना चाहते थे तो मैकाले ने यह लिखा था कि हिन्दुस्तानी अगर अपनी सांस्कृतिक और वैचारिक इतिहास को जान जाएं तो उनको हम गुलाम नहीं बना पाएंगे। इसीलिए उन्हें उनके इतिहास को जानने मत दो। इसी तरह से पूरे हिन्दुस्तान में बिहारियों को उनके सांस्कृतिक, वैचारिक, दार्शनिक इतिहास के ज्ञान से वंचित रखा गया है। लेकिन वक्त बदल रहा है और बिहार तथा बिहारी समुदाय जाग रहा है। इंटरनेट और मोबाइल फोन की वजह से दुनिया बिल्कुल एक धरातल पर आ गयी है और सिमट गई है। समय और दूरी का अवरोध खत्म हो गया है।

आज 2007 में एक व्यक्ति एक कंपनी या एक देश से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है। आज कोई भी व्यक्ति दुनिया में किसी भी व्यक्ति से, कभी भी और कहीं भी संपर्क स्थापित कर सकता है और किसी काम को सफलतापूर्वक पूरा कर सकता है।

अगर आप इस किताब के बनने की प्रक्रिया को ही देखें तो इसके लेखन का काम पटना, बक्सर, बंगलौर, मुम्बई, दिल्ली, धनबाद और गया में हुआ है। कवर पेज का डिजाइन पटना में तैयार हुआ है। 'वन बिहार टीम', जिसने पूरी किताब को निकलवाने की जिम्मेदारी ली है, उसके सदस्य कैलिफोर्निया, न्यूयॉर्क, ऑस्ट्रेलिया, मुंबई, बंगलौर और पटना में हैं। ये सब लोग एक दूसरे से आमने–सामने कभी मिले भी नहीं हैं। पर इस अद्भुत काम में पूरी तरह से एकजुट होकर मददगार साबित हुये हैं। हमारी टीम के सबसे युवा और मेहनती सदस्य पटना में एम.सी.ए. के छात्रा अभिषेक कुमार प्रसाद हैं। उन्होंने जिस मेहनत, लगन और धैर्य के साथ दिन–रात एक करके इस पुस्तक के सारे आलेखों को महज दो–तीन सप्ताह में कंपोज कर दिया, वह काबिले तारीफ है। अभिषेक की तत्परता और अध्यवसाय के कारण ही यह पुस्तक अपने निर्धारित समय पर प्रकाशित हो पायी है। अभिषेक के अप्रतिम सहयोग के लिये मैं उसे हार्दिक ध्न्यवाद देना चाहूंगा।

बिहार एवं बिहारियों के पास आज अवसर है कि अब वे अपने अधूरे सपनों को पूरा कर बिहार के खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर सकें। इस किताब को पढ़कर आप को यह महसूस होगा कि बिहारी शिक्षा, विज्ञान, धर्म, शिल्प, औषधि, शल्य चिकित्सा, दर्शन, गणित, भौतिकी, राजनीति, अर्थशास्त्रा, खगोल विद्या आदि में सबसे आगे थे और आज भी वे फिर से आगे आ सकते हैं।

हम चाहेंगे कि बिहार का हर युवक और युवती इस किताब को पढ़े और अपने स्वर्णिम इतिहास को जानकर अपना वर्तमान संवारे और भविष्य के सपनों को साकार बनाए।

अंत में मैं इस किताब के सभी लेखकों का शुक्रगुजार हूं। उनके महत्वपूर्ण योगदान के बिना इस अभियान का सफल होना संभव नहीं था। लेखकों का यह निष्ठावान योगदान बिहार की उप राष्ट्रीयता के विकास में सर्वदा याद किया जाएगा।

जय बिहार
जय भारत
नवीन शर्मा
'सदस्य' वन बिहार टीम

ताकि सनद रहे . नरेन

अंततः 'गौरवशाली बिहार' आपके हाथों में है। बिहार के लगभग 3000 वर्षों के इतिहास के गौरवमय व्यक्तियों और उनके कृतित्वों को पूरी तरह से समेट पाने का दावा यह पुस्तक नहीं कर सकती। यह संभव भी नहीं था। लेकिन एक विलक्षण बानगी प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास जरूर करती है और बिहार के संदर्भ मे इस बात की ताईद करती है कि कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी...........२

जिन विभूतियों पर इस पुस्तक में आलेख संकलित हैं, वैसे आलेख अन्यत्रा भी आपको ढ़ेरों मिल जायेंगे। उनमें उल्लेख होगा कि इन विभूतियों ने बिहार को रचा। मगर इस पुस्तक को संपादित करते हुये, इसके लिए वांछित आलेख जुटाने की जद्दोजेहद करते हुये तथा उन आलेखों से गुजरते हुए हमारा अनायास ही इस तथ्य से साक्षात्कार हुआ कि बिहार की माटी ने, इसकी हवा ने, नदियों ने, समर्ग परिवेश ने इनको रचा–बनाया था, सजाया–संवारा–संस्कारित किया था। जरा आप भी सोचिये। सतेज पौधें की उत्पत्ति और विकास के लिये कौन उत्तरदायी होता है? उर्वर माटी और विकासोद्दीपक सकारात्मक परिवेश ही न!

कोई समाज आखिर बनता कैसे है? अक्सर ये बातें कही जाती हैं कि विकास का पैमाना अर्थ होता है। लेकिन यह बात क्या अंतिम सच है? समाज के भौतिक और मानसिक ज्ञान–विज्ञान, लोक विज्ञान और समृ(लोक संस्कृति की भी निर्णायक भूमिका होती है उसके विकास में। वैश्वीकरण के इस काल में विकास का जो दौर चल रहा है, उसमें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यह माना जा रहा है कि किसी समाज या राष्ट्र के मौलिक पहचान के बिना उसका सम्यक विकास होना संभव नहीं है। इसकी तलाश वैयक्तिक स्तर पर भी किये जाने की समझ बनती है। अपनी स्पष्ट पहचान के बिना अपने विकास की परिकल्पना करना भी हवाई किले बनाना है। मानव विकास संबंधी यूएनडीपी की सलाना रपट में नोबुल पुरस्कार विजेता समाजशास्त्री प्रो. अमर्त्य सेन ने अपने अग्र लेख में सुस्पष्ट तरीके से व्याख्यायित किया था कि किसी समाज के विकास का पैमाना उसका सांस्कृतिक पुख्तापन ही हो सकता है। संस्कृति अपनी परंपरा से लेकर प्रयोग तक उस समाज का प्राण–रस होती है, उसे सिंचित, पोषित, संवर्धित करती है। किसी भी प्रगतिशील समाज का जीवन दर्शन क्या होता है? वह अपने आपको दूसरे समाजों से जोड़ता है। दूसरी संस्कृतियों के आमने–सामने खड़े होकर, उसकी आँखों में आँखें डालकर उससे बातें करने का साहस और ऊर्जा दर्शाता है। उसे अपना कुछ देता है और उससे उसका कुछ ग्रहण करता है।

इतना विलक्षण ज्ञात इतिहास है बिहार का, लेकिन बिहार की बुनियादी प्रवृत्ति क्या है? बिहारी अस्मिता की, बिहारी जातीयता की पहचान क्या है? इसके लिये सिर्फ बिहार के वर्तमान को समझना काफी नहीं है, न ही सिर्फ समृ(भविष्य का सपना देखना पर्याप्त है। इन सबसे कम जरूरी नहीं है इतिहास को अनकना–परखना। प्रस्तुत पुस्तक उस पहचान के सूत्राों की तलाश की प्रक्रिया की एक मजबूत कड़ी है।

कोई समाज पिछड़ा तब हो जाता है, जब वह स्वयं को पिछड़ा मान ले। हमारा बिहार अपने वास्तविक 'हीरो' को हृदय से यथोचित सम्मान नहीं देता। 'बिहारी' गाली तब हो जाता है, जब हम उसे अपनी आत्महीनता का पैमाना मान बैठते हैं। इस प्रकार की आत्महीनता, अगर यह बिहारियों में है, तो उससे उबरने के लिए उसे अपने 'स्व' को पूरी शिद्दत से पहचानना होगा, उसके प्रति आश्वस्त होना पड़ेगा, उसके प्रति निष्ठा बरतनी पड़ेगी। हम बिहारियों को ही अपने समाज की इस आत्महीनता की चुनौतियों से लड़ना पड़ेगा। और याद रखिये, हमें जीतना भी पड़ेगा। आज के भयानक स्पर्ध भरे इस दौर में हम इस लड़ाई को हारना 'एफोर्ड' ही नहीं कर सकते।

उत्साही नवीन ने, या यूं कहें कि 'वन बिहार ग्रूप' ने अत्यंत कम समय का लक्ष्य निर्धारित करके इस पुस्तक को तैयार करने की ठान ली थी। हमारे तमाम लेखक साथियों ने भरपूर मेहनत करके अपना रचनात्मक सहयोग दिया और तय समय में अंततः यह पुस्तक तैयार हो गयी। लगभग दो सप्ताह में ही अभिषेक ने दिन–रात एक करके जिस प्रकार सारे आलेखों को कंपोज किया, उसके दो–तीन प्रूफ निकाले, और तन्मयता से उसे सुधरा, उसके लिये वह हार्दिक ध्न्यवाद का पात्रा है।

इस पुस्तक के आलेख वर्णाक्षरों के वरीयताक्रम में जा रहे हैं। हमें यही ज्यादा सहूलियत भरा लगा। वस्तुतः हम कोई ऐतिहासिक कालक्रम का अनुपालन करने की कोशिश भी नहीं कर रहे हैं। उद्देश्य तो हमारा अपनी जड़ों को पहचानना मात्रा है। हम अपनी जड़ों को समझें–बूझें–पहचानें, ऊर्जा ग्रहण करें और आकाश चढ़ेंऋ यही इस पुस्तक का अभीष्ठ है।

01 जनवरी 2007.
नरेन
पटना

'गौरवशाली बिहार' के रचनाकार

नाम संक्षिप्त परिचय

1. अखिलेश झा – बिहार के मधुबनी जिला के एक गांव में 1972 में जन्मे अखिलेश झा ने 1992 में पटना विश्वविद्यालय से स्नातक किया। संप्रति वे भारत सरकार के वित्त मंत्रालय में लेखा एवं वित्त संस्थान के संयुक्त निदेशक हैं। उन्होंने विभिन्न विषयों पर 12 पुस्तकें और 300 से ज्यादा आलेख लिखे हैं। इन्डोलॉजी, भारतीय इतिहास के साहित्यक सूत्रों, तथा लोक साहित्य एवं संस्कृति में विशेष रूचि।

2. प्रो. बृज बिहारी शर्मा – बिहार के नालंदा जिले के बिच्छाकोल गांव में 1936 में जन्मे प्रो. शर्मा हिंदी में एम. ए. हैं और स्वर्ण पदक विजेता हैं। वे रांची विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे हिंदी के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। वे बिहार में चलने वाले वामपंथी आंदोलनों तथा विभिन्न साहित्यिक–सांस्कृतिक आंदोलनों से भी संबद्ध रहे तथा एक साहित्यिक पत्रिका 'कतार' के संपादक थे।

3. श्रीनारायण समीर – बिहार के पूर्वी चम्पारण के सगरचूरमन गांव में 1959 में जन्में श्रीनारायण समीर संप्रति बंगलोर में गृह मंत्रालय के कार्यालयीय भाषा विभाग के संयुक्त निदेशक हैं। उन्होंने रांची विश्वविद्यालय से संबद्ध कॉलेज में सात वर्षों तक पढ़ाया था तथा 'कतार' के सहायक संपादक थे। सदैव साहित्यिक–सांस्कृतिक गतिविधियों से संलग्न रहे। धनबाद में 'आवाज' समाचार पत्र से भी एक पत्रकार के रूप में संबद्ध रहे।

4. डॉ. ठाकुर हरींद्र दयाल सिन्हा – डॉ. सिन्हा बिहार के बेगुसराय जिला के गणेश दत्त कॉलेज के प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्व विभाग के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। पटना विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. तथा भागलपुर विश्वविद्यालय से डी. लिट् किया है। पुराणों तथा चाण्क्य की आर्थिक नीति पर विशेष शोधकार्य।

5. बनखण्डी मिश्र – बिहार के सहरसा जिला के बनगाँव ग्राम में 1935 में जन्मे डॉ. मिश्र एम. ए., एल. एल. बी. हैं। वे धनबाद में खान सुरक्षा के महाप्रबंधक कार्यालय के साथ प्रकाशन विभाग के प्रभारी अधिकारी रहे। पत्रकारिता के साथ संबद्ध रहते हुए रेणुका, अनामिका, नई धरती, चुनौती आदि पत्रिकाओं का संपादन किया।

6. प्रेम कुमार मणि – पटना जिला के नौबतपुर गाँव में 1953 में जन्मे 'मणि' जी हिंदी की मुख्यधरा के स्थापित लेखक हैं। वे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कर्मी हैं एवं संप्रति बिहार विधन पार्षद हैं। वैचारिक पत्रिका 'जन विकल्प' समेत विभिन्न पत्रिकाओं के संपादक रहे मणि जी ने भिक्षु जगदीश काश्यप के सान्निध्य में बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है।

7. युगल किशोर बौद्ध – 1939 में सियालकोट (पाकिस्तान) में जन्मे श्री बौद्ध उत्तरी रेलवे के एक अधिकारी के रूप में सेवानिवृत्त हुये। उन्होंने बौद्ध साहित्य पर 5 पुस्तकों को संपादित किया है तथा अम्बेडकर आंदोलन से जुड़े रहकर ढ़ेर सारे आलेख लिखे हैं।

8. रेशमी झा – 1971 में जन्मी रेशमी पटना विश्वविद्यालय की स्नातक हैं। भारतीय इतिहास पर 7 पुस्तकों के अलावा उन्होंने कई आलेख लिखे हैं। उन्होंने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत एवं कत्थक नृत्य पर डिग्री हासिल की है। संप्रति वे नई दिल्ली में उप आयकर आयुक्त हैं।

9. उदय नारायण चौधरी – श्री चौधरी सक्रिय समाजसेवी और राजनीतिकर्मी हैं। संप्रति बिहार विधन सभा के अध्यक्ष हैं।

10. प्रणव शाही – 1966 में पटना में जन्मे प्रणव शाही वाणिज्य स्नातक हैं और बिहार के अग्रिम पांक्तेय स्वतंत्र फिल्मकार हैं, जिन्होंने 2000 से अधिक लघु फिल्में, वृत्तचित्र, तथा धरावाहिक बनाया है। वे सेंसर बोर्ड कोलकाता पैनेल के तथा एल आई एफ एस लंदन के सदस्य हैं। हथुआ राज घराने के युवाराज एक सांस्कृतिक आंदोलनकर्मी हैं तथा बिहार के गौरवशाली अतीत पर कई फिल्में बनाने के साथ उनकी उन सारी गतिविधियों में गहरी रूचि है जिनसे बिहार का गौरव और परंपरा जुड़ी हुई हो। संप्रति बिहार का उद्बोधन गीत फिल्माने में संलग्न।

11. डॉ. दीपक कुमार राय – 1969 में बक्सर में जन्मे डॉ. राय इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इतिहास में एम. ए. डी. फिल. हैं। उन्होंने 'छठीं सदी ई. पू. से द्वितीय सदी ई. पू. तक उत्तरी भारत में सांस्कृतिक–आर्थिक परिवर्तन' विषय पर शोध किया है। वे साहित्यिक पत्रिका 'प्रतिश्रुति' के संपादक तथा 'मैत्री–शांति' पत्रिका के सह संपादक हैं तथा सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषयों पर लगातार लेखनरत हैं।

12. प्रो. ब्रज कुमार पाण्डेय – राजनीति विज्ञान में पी एच डी प्रो. पाण्डेय बिहार विश्व विद्यालय के अवकाश प्राप्त प्राध्यापक हैं। उन्होंने वामपंथी राजनीति, ध्र्म तथा पूंजी की राजनीति तथा समाजशास्त्राीय विवेचनवाली दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं एवं संपादित। वे प्रगतिशील लेखक संघ के बिहार प्रांत के अध्यक्ष हैं तथा 'मैत्राी–शांति' पत्रिाका के संपादक हैं।

13. मिथिलेश कुमार – 1970 में मध्ुबनी जिला के बिरौल गांव में जन्मे मिथिलेश कुमार मगध् विश्वविद्यालय से इतिहास एवं पत्राकारिता में एम. ए. हैं। उन्होंने बिहार में नक्सलवाद और बाढ़ से जुड़ी स्थितियों पर विशेष काम किया है। संप्रति वे पटना में 'प्रभात खबर' समाचार पत्रा के प्रमुख संवाददाता हैं।

14. रंजन – मगध् विश्वविद्यालय से राजनीति शास्त्रा में स्नातक रंजन ने पटना विश्वविद्यालय से पत्राकारिता में भी डिग्री ली है। वे 'हिन्दुस्तान' पटना के संवाददाता थे। संप्रति वे 'प्रभात खबर' के संवाददाता हैं।

15. डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक – डॉ. पाठक मगध् विश्वविद्यालय से संबद्व अरवल जिला के एक कॉलेज में पालि विभाग के अध्यक्ष हैं। बौ(कालीन समाज का उनका ज्ञान विलक्षण है। उन्होंने उस काल के सि(ों और लोक विज्ञान पर कई पुस्तकों की रचना की है। आयुर्वेद और लोक विज्ञान में उनकी पारंगतता का आलम यह है कि वे किसी भूखण्ड को अनक–परख कर जल का निश्चित स्त्राोत उद्‌घाटित कर देने में माहिर हैं।

16. जगदीश चंद्र माथुर – बिहार में वरिष्ठ प्रशासनिक पदाध्किारी रहे श्री माथुर हिंदी साहित्य के अग्रिम पांक्तेय नाटककार रहे हैं, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के शिखर व्यक्तित्वों को केंद्र में रखकर कई अप्रतिम नाटक और संस्मरण लिखे हैं। शिक्षा और सांस्कृतिक सचिव के रूप में बिहार में किये गये उनके कार्यों को भूला नहीं जा सकता।

17. अली अनवर – 1954 में डुमरांव में जन्मे वरिष्ठ वामपंथी पत्राकार अली अनवर ने मगध् विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री ली है। प्रखर वामपंथी अखबार 'जनशक्ति' से पत्राकारिता आरंभ करने वाले अनवर ने के. के. बिडला पफाउन्डेशन पफेलोशिप के तहत दलित मुसलमानों के हालात पर महत्वपूर्ण पुस्तक 'मसावात की जंग' लिखी है। दलित मुसलमानों के हक–हकूक तथा अस्मिता की लड़ाई लड़ते रहने वाले अनवर 'पसमांदा मुस्लिम महाज' के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं। संप्रति राज्य सभा के सदस्य हैं।

18. सुबोध् कुमार 'नंदन' – 'हिन्दुस्तान' पटना के युवा पत्राकार 'नंदन' सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखे अपने खोजपरक आलेखों के लिये जाने जाते हैं।

19. मिथिलेश – पटना विश्वविद्यालय से स्नातक। मगही पत्रिाका– 'सारथी' के 30 वर्षों से संपादक। वैचारिक विमर्श की पत्रिाका 'अस्मिता' के संपादक। मगही के श्रेष्ठ कथाकार एवं कवि। अवकाशप्राप्त शिक्षक। साहित्यिक और सांस्कृतिक आंदोलनकर्मी। स्वामी सहजानंद 'सरस्वती' के किसान आंदोलन पर केंद्रित वृहद उपन्यास– 'बावन बयार' शीघ्र प्रकाश्य।

20. हेमंत – 1949 में जमशेदपुर में जन्मे हेमंत बी. आई. टी. सिंदरी से बी. टेक. हैं। 'हिन्दुस्तान' पटना के ब्यूरो प्रमुख रहे हेमंत सन् 74 के जे. पी. आंदोलन से ओतप्रोत भाव से जुड़े रहे। मूलतः पत्राकार और कथाकार हेमंत ने बिहार और झारखण्ड के आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक विषयों पर कई दर्जन पुस्तकों का लेखन और संपादन किया है। विलक्षण विशेषता– उत्कट बिहार और झारखण्ड प्रेम। जीवन इसी प्रेम को समर्पित।

21. नरेन – 1959 में नालंदा जिले के मैजरा ;नोनीडीहद्ध गांव में जन्मे नरेन मूलतः हिंदी की मुख्य धरा के कथाकार, पिफल्मकार, समीक्षक एवं अनुवादक हैं। संप्रति युनिसेपफ के संचार सलाहकार हैं एवं बिहार के अग्रिम पांक्तेय साहित्यिक–सांस्कृतिक आंदोलकर्मी हैं। कोलकाता विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले नरेन ने कोलकाता में पिफल्मकार उत्पलेंदु चक्रवर्ती के साथ सिनेमाई कैरियर आरंभ करते हुये वहीं से पत्राकारिता भी शुरू की थी। दर्जनों वृत्तचित्राों के निर्माण तथा ढेर सारी लघु पिफल्मों के पटकथा लेखन के साथ उन्होंने बिहार की शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला और बाल अध्किार, विभिन्न सांस्कृतिक पहलुओं आदि तथा सिनेमा पर ढ़ेर सारी पुस्तकों का लेखन–संपादन किया है।

Members of Team "One Bihar" who were involved in above project

Ajit Chouhan	Business Partner-HR , Infosys, Mysore, India. Masters PMIR Patna University, PGCHRM from XLRI Jamshedpur. Originally from Muzaffarpur.
Atul Kumar	Atul is AVP at Genpact located in Danbury, CT. MBA from IIM Ahmedabad. Originally from Chhapra.
Chandan Singh	Executive Director, Green Power, Patna India. B. Sc. Computer and B.E. Originally from Madhubani.
Mayank Krishna	Sales Manager, Pidilite Industries Limited, Mumbai, India. MBA from IMT Gaziabad. Originally from Muzaffarpur.
Naveen Kumar Sharma	Program Manager, Cisco Systems, Bangalore India. B.Tech IIT Kharagpur. Originally from Nalanda.
Rahul Kumar Barnwal	Manager, Siemens Power Engineering, New Delhi. B Tech from NIT, Surat. Originally from Patna.
Rajiv Vidyarthy	Director and CEO, CustomerKonnect, Mumbai, India. MBA IIM Lucknow and B. Tech. IIT Delhi. Originally from Gopalganj.
Samir Kumar Mishra	IT Consultant Australia. MCA and pursuing M Phil (MS by Research) from University of Queensland, Brisbane. Originally from Jhanjharpur.
Saroj Kumar	Lead Software Engineer, Gap Inc. Direct, San Francisco , USA. B.Tech from NIT/REC Trichy. Originally from Buxar.
Thakur Vikas Sinha	TVS is a Sr. VP at Polaris Software, Mumbai. MBA XLRI, Jamshedpur and B Tech from IT BHU. Originally from Patna.

BLOGSPOT	http://1bihar.blogspot.com/
Provide Feedback on the content	Feedback.gauravshalibihar@gmail.com
E-mail of the Team	one.bihar@gmail.com
Website	www.proudbihari.com
Order Book	Order.gauravshalibihar@gmail.com
Phone Number	+91-612-6450916

विषय सूची

	दशरथ माँझी	- उदय नारायण चौधरी	15
1.	बिहार की समृद्ध दार्शनिक परम्परा	- अखिलेश झा	17
2.	विश्वामित्र	- प्रो० बी० बी० शर्मा	20
3.	सीता	- प्रो० बी० बी० शर्मा	23
4.	जरासंध	- डॉ० दीपक कुमार राय	25
5.	कर्ण	- श्रीनारायण समीर	28
6.	बुद्धकालीन विभिन्न दार्शनिक विचार	- डॉ० रवीन्द्र कुमार पाठक	31
7.	महावीर स्वामी	- नरेन	34
8.	विम्बिसार	- डॉ० दीपक कुमार राय	38
9.	गौतम बुद्ध	- डॉ० ठाकुर हरेन्द्र दयाल	42
10.	आम्रपाली	- डॉ० रवीन्द्र कुमार पाठक	48
11.	अजातशत्रु	- डॉ० दीपक कुमार राय	50
12.	राजवैद्य जीवक	- युगल किशोर बौद्ध	54
13.	सारिपुत्र और महामोग्गलायन	- नरेन	62
14.	चाणक्य	- नरेन	65
15.	चन्द्रगुप्त मौर्य	- डॉ० दीपक कुमार राय	68
16.	अशोक	- डॉ० दीपक कुमार राय	73
17.	वात्स्यायन	- नरेन	78
18.	नालंदा, विक्रमशिला और ओदंतपुरी विश्वविद्यालय	- नरेन	81
19.	केसरिया बौद्ध स्तूप	- सुबोध कुमार नंदन	86
20.	पतांजलि	- डॉ० ठाकुर हरेन्द्र दयाल	89
21.	आर्यभट	- हेमंत	93
22.	वराहमिहिर	- डॉ० ठाकुर हरेन्द्र दयाल	102
23.	सरहपा	- प्रो० बी० बी० शर्मा	107
24.	धर्मपाल	- नरेन	111
25.	मंडन मिश्र एवं भारती	- बनखण्डी मिश्र	113
26.	सूफी संत हजरत- मख़दुम याहया मनेरी	- नरेन	116
27.	ज्योतिरीश्वर ठाकुर	- अखिलेश झा	118
28.	हरिसिंहदेव	- सुनील झा	121
29.	विद्यापति	- अखिलेश झा	123
30.	शेरशाह सूरी	- प्रणव शाही	127
31.	गुरूगोविंद सिंह	- प्रो० बी० बी० शर्मा	129
32.	बाबू कुँवर सिंह	- डॉ० व्रजकुमार पाण्डेय	131
33.	नारायणः अंडमान का	- रश्मिता झा, अखिलेश झा	136

	पहला शहीद क्रांतिकारी		
34.	पीर मुहम्मद मूनिस	– रंजन	139
35.	बत्तख मियाँ	– अली अनवर	143
36.	महापंडित राहुल सांकृत्यायन	– प्रो० बी० बी० शर्मा	145
37.	आचार्य शिवपूजन सहाय	– डॉ० सत्येन्द्र कुमार पाठक 'प्रियेश'	149
38.	पीर अली	– हेमंत	153
39.	नक्षत्र मालाकार	– हरेंद्र कुमार 'हरि'	156
40.	बिहार के सात महान युवा शहीद	– नरेन	160
41.	सच्चिदानंद सिन्हा	– जगदीशचंद्र माथुर	162
42.	देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद	– मिथिलेश कुमार	166
43.	अब्दुल कय्यूम अंसारी	– अली अनवर	168
44.	स्वामी सहजानन्द सरस्वती	– मिथिलेश	171
45.	भिखारी ठाकुर	– श्रीनारायण समीर	178
46.	रामवृक्ष बेनीपुरी	– श्रीनारायण समीर	181
47.	फणीश्वरनाथ रेणु	– श्रीनारायण समीर	183
48.	लोकनायक जयप्रकाश नारायण	– हेमंत–नरेन	186
49.	भिक्षु जगदीश काश्यप	– प्रेम कुमार मणि	196
50.	राष्ट्रकवि दिनकर	– श्रीनारायण समीर	199
51.	कर्पूरी ठाकुर	– मिथिलेश कुमार	202
52.	जनकवि नागार्जुन	– श्रीनारायण समीर	204
53.	पद्मश्री कलावती देवी	– रंजन	209
54.	बिस्मिल्ला खाँ	– सुबोध कुमार नंदन	211
55.	सत्येन्द्र कुमार दूबे	– नरेन	215

दशरथ माँझी

–उदय नारायण चौध्री

खुशी से उसकी आँखों में आँसू भर आए। सामने पर्वत को चीरते मार्ग को वह एकटक निहार रहा था। आज उसका दृढ़ संकल्प पूरा हुआ था। भगीरथ प्रयत्न सार्थक हुआ था। उसने अपनी हथेलियों को देखा और सोचने लगा। कठोर पत्थरों को काटते-काटते मेरे इन हथेलियों को बाईस साल हो गए। आज मेरा सपना साकार हुआ। किन्तु, पलभर में उसकी आँखों में डबडबाए वे खुशी के आँसू वेदना की बूँद बनकर झर-झर पत्थरों पर गिरने लगे। उसके मन में दारूण दु:ख व्याप्त हो गया। काश! आज मेरी पत्नी जीवित होती! बेपनाह खुशी होती उसे। वह तो मेरी प्रेरणा थी, वह तो मेरी आस्था थी। उसी के कष्ट से द्रवित होकर तो मैंने इतना कठोर संकल्प लिया था। उसी का जीवन सहज करने के लिये तो मैंने पहाड़ काटकर राह बनाने की ठानी थी। मेरे संकल्प की पूर्णता से पहले ही मेरी प्रेरणा मुझसे सदा के लिए दूर हो गयी। खैर, ईश्वर को यही मंजूर था। राह तो आसान हुई ही हमारे इलाके वालों के लिए।

अकस्मात उसकी आँखों से आँसू थम गए। धीरे-धीरे दिल की वेदना खुशी में बदलने लगी। क्या हुआ अगर मेरी पत्नी नहीं रही, गाँव की बहू-बेटियों को तो अब वे कष्ट नहीं झेलने होंगे। हमारे पिछड़े क्षेत्र के लोगों को अब 80 कि०मी० की दूरी तय करने के कष्ट से त्राण तो मिल जायेगा। यह सच है कि पत्नी के चेहरे पर छायी पीड़ा से विचलित होकर ही मैंने यह संकल्प लिया था, लेकिन पूरे गाँव और इस भू-भाग के लोगों की परेशानी दिन-रात देखते-देखते मेरा मन तो पहले से ही उद्वेलित हो रहा था। राह तो बनानी ही होगी। सो मैंने बनायी।

वह उठकर लौट चला अपने सपनों की दुनिया से उस हकीकत की ओर जहाँ से उसने अपने दृढ़ संकल्प का आरम्भ किया था। कटे पत्थरों से बने उस ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलते हुए उसकी खुशी का ठिकाना नहीं था। यह तो उसी की प्रतिबद्ध साधना थी....... और..... उस साधना के साधक थे संकल्प पुरुष श्री दशरथ माँझी।

बिहार राज्य के गया जिला के पहाड़ की तराई में बसे, मात्र 20-25 घरों वाले गहलौर गाँव के निवासी दशरथ माँझी में कबीर की साधना की शक्ति थी। जिस प्रकार कबीर अनपढ़-अशिक्षित होते हुए भी अपनी वाणी से संसार को अनुप्राणित करते रहे हैं, उसी प्रकार अनपढ़ रहकर भी समाज के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए दशरथ माँझी के मन में घोर लालसा थी, उत्कट तमन्नायें थीं और दिल में अदम्य हौसला भी था।

एक दिन प्यास से बेहाल दशरथ माँझी अपनी झोपड़ी के पास बैठा था। पत्नी पहाड़ के उस पार से घड़ा में पानी लाने गई थी। अन्य दिनों की अपेक्षा आज कुछ विलम्ब हो गया था। माँझी अपनी पत्नी के आने की राह एकटक निहार रहा था। उसने देखा उसकी पत्नी खाली हाथ चली आ रही है। निराशा के साथ वह अचंभित भी हुआ। जब पत्नी समीप आ खड़ी हुई, तब उसने प्रश्न किया- ''घड़ा क्या हुआ, तुम खाली हाथ क्यों आयी?''

पत्नी ने बड़ी वेदना से उत्तर दिया- ''पहाड़ पर पैर फिसल जाने के कारण मैं गिर गई और घड़ा फूट गया।''

उसने देखा उसकी पत्नी की आँखें डबडबा आयी थीं। उसका परिश्रम व्यर्थ चला गया था। न तो वह

पानी ला सकी और न उसका घड़ा बचा रह सका।

दशरथ माँझी सोच में पड़ गया। यह पहाड़ तो पीढ़ी दर पीढ़ी सारे गाँव वालों की राह में सचमुच पहाड़ की तरह ही खड़ा है। न जाने कब से हमारे इलाके के लोग इस बाधा को झेलते चले आ रहे हैं। पानी और हमारी प्यास के बीच यह पहाड़ है। इसे हटाना ही होगा। दशरथ माँझी लगातार सोचता रहा और एक रोज दशरथ माँझी उठकर खड़ा हो गया। उसका पौरुष जाग उठा। उसके मन में इच्छा-शक्ति प्रबल हो गई। प्रतिज्ञा दृढ़ हो गई। उसने तत्क्षण संकल्प लिया कि जब तक मैं इस पहाड़ को काट कर इसके बीच से चलने लायक नहीं बना लूँ तब तक चैन की साँस नहीं लूँगा।

हाथों में छेनी-हथौड़ा लिए वह चल पड़ा लक्ष्य की ओर। आरम्भ हो गया उसका पर्वत-विजय अभियान। निरन्तर चलता रहा विजय की ओर। अनवरत तल्लीन हो गया अपने संकल्प की पूर्त्ति में। उसने गेहलौर पहाड़ को काट-काटकर मार्ग बनाना प्रारंभ कर दिया।

कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते रहे। कुछ लोग विस्मित होकर उसके भगीरथ प्रयास को देखते हुए उसके पगलाये साहस की सराहना करते रहे। लेकिन न तो उसने खिल्ली उड़ाये जाने की परवाह की और न ही वह प्रशंसा से विचलित हुआ। बस जुटा रहा अपने काम में। लगातार 22 वर्षों तक अथक परिश्रम करता हुआ उसने उस पहाड़ के पत्थरों को तराश कर 15-16 फीट चौड़ी राह बना डाली। पहाड़ परास्त हो गया। अपने संकल्प को पूरा करता हुआ आवागमन के लिए कठिन चढ़ाई और ढलाई के पहाड़ की छाती चीरकर उसने 360 फीट की आसान राह बना दी। उस क्षेत्र के निवासियों के लिए 80 कि०मी० की सुदूर राह को मात्र 360 फीट में समेट दिया।

परन्तु काश! उसके उस विजय दिवस पर उसकी पत्नी जीवित होती! कितनी हर्षित होती संकल्प पुरुष की प्रेरणा बननेवाली नारी, जो कठिन श्रम के बाद भी अपने पति के लिए पानी नहीं ला पायी थी।

जीवट के धनी दशरथ माँझी ने पैसे के अभाव में गया से दिल्ली तक पैदल यात्रा की। इस यात्रा का रूप अनूठा था। वह गया से दिल्ली तक की पैदल यात्रा की राह में स्थित प्रत्येक रेलवे स्टेशनों पर स्टेशन मास्टर से मिला, अपनी यात्रा का उद्देश्य बतलाया। उनसे अपने खाने के निमित्त पैसे माँगकर सत्तू खाया तथा तिथि और समय के साथ अपनी डायरी में प्रत्येक का दस्तखात लिया। संकल्प के धनी श्री माँझी अपने गाँव में पाँच एकड़ की सरकारी जमीन पर अस्पताल बनाने की तमन्ना रखता है। उसने इस कार्य के लिए वर्तमान मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार से जनता दरबार, पटना में मिलकर अपनी माँग रखी।

नीतीश जी दशरथ माँझी को जानते थे और उनकी उपलब्धि का सम्मान करते थे। जब माँझी मुख्यमंत्री श्री कुमार से मिलने गया तो उसे सामने पाते ही उन्होंने अपनी कुर्सी छोड़ दी और बड़े आदर के साथ श्री माँझी को अपनी कुर्सी पर बैठाया। उस दिन श्री माँझी के मन को अवश्य एक अनिर्वचनीय आनन्द मिला होगा।

मनुष्य अपने कर्म और आचरण से महान होता है। एक पिछड़े एवं दलित समाज का व्यक्ति अपनी संकल्प-शक्ति के बल पर नवनिर्माण के भगीरथ प्रयास से समाज को असमर्थता तथा पिछड़ेपन के अभिशाप से निकालकर तनिक सहूलियत-भरा जीवन प्रदान करने की उत्कृष्ट अभिलाषा रखता है, यह उसके महान व्यक्तित्व का ही परिचायक है।

आज दशरथ माँझी जैसे व्यक्ति के समाजोत्थान की भावना को उत्साहित करने की आवश्यकता है। उसे आदरपूर्वक प्रतिष्ठित करना सरकार और समाज का कर्त्तव्य है। यह स्वागत योग्य बात है कि

जिलाधिकारी, गया ने श्री माँझी को जिला के सर्वश्रेष्ठ परिश्रमी व्यक्ति की उपाधि से विभूषित किया था।

निश्चय ही आज इस संकल्प पुरुष का व्यक्तित्व हमारे लिए प्रेरणादायक है। कर्मवीर बिहारी श्री दशरथ माँझी ने अपनी अनवरत साधना से कर गुजरने के प्रति दृढ़ प्रतिबद्धता और अदम्य हौसला हो, तो साधनहीनता भी आड़े नहीं आती। आदमी वह कर गुजरता है, जिसे करने की उसने ठान रखी होती है।

बिहार की समृद्ध दार्शनिक परम्परा

-अखिलेश झा

बिहार ने सभ्यता के इतिहास के हर चरण में भौतिक उपलब्धियों पर दार्शनिक उपलब्धियों को वरीयता दी है। यही कारण है कि व्यापारिक एवं आर्थिक गतिविधियों का बहुत प्रभावी केंद्र न होने के बावजूद बिहार के प्रति बाहरी दुनिया के आकर्षण में कभी कोई कमी नहीं आई। हर संक्रमण के दौर में, संकट के दौर में बिहार की तरफ लोगों ने रुख किया है और इतिहास गवाह है कि उन्हें कभी निराश नहीं होना पड़ा।

बिहार को विश्व-सभ्यता को पहला गणतंत्र देने का तो गौरव प्राप्त है ही, पहला दार्शनिक राजा देने का गौरव भी प्राप्त है। विदेहराज जनक न सिर्फ समकालीन श्रेष्ठ दार्शनिकों के संरक्षक थे, अपितु स्वयं भी श्रेष्ठ दार्शनिक थे। उस राजकुल में जनक कुलसंज्ञा थी। उस राजकुल के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उसमें एक नहीं, कई राजा दार्शनिक थे।

बिहार की समृद्ध दार्शनिक परम्परा में पहला प्रसिद्ध नाम याज्ञवल्क्य का है। ये वैशम्पायन के शिष्य थे। इनका अध्ययन तो गंभीर था ही, मेधा भी अद्‌भुत थी उनकी। इनके जीवन का एक प्रसंग आधुनिक शिक्षाविदों के लिए शोध का विषय हो सकता है। आज एक अवधारणा पर खूब जोर दिया जा रहा है, वह है लर्निंग, डीलर्निंग और रीलर्निंग। इस अवधारणा का प्रयोग याज्ञवल्क्य ने आज से हजारों वर्ष पूर्व किया था। हुआ ऐसा कि याज्ञवल्क्य ने असीम गुरुभक्ति के कारण एक बार अपने गुरु वैशम्पायन की एक आज्ञा का पालन नहीं किया। इससे रुष्ट होकर गुरु ने याज्ञवल्क्य से अपनी दी हुई सारी शिक्षा वापस कर देने को कहा- वमन कर देने को कहा। याज्ञवल्क्य ने वैसा ही किया। उनके गुरु ने उन्हें यजुर्वेद की शिक्षा दी थी। उन्होंने अपना सारा ज्ञान वमन कर दिया। अब वे वेदज्ञान से शून्य हो गए थे। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने फिर से अपने अथक परिश्रम से और तप से यजुर्वेद के नए मंत्रों को प्राप्त किया। ये नए मंत्र 'शुक्लयजुर्वेद' के नाम से जाने गए। इसे ही वाजसनेय एवं माध्यन्दिन शाखा भी कहा जाता है। जिस ज्ञान का याज्ञवल्क्य ने वमन कर दिया था, वह कालान्तर में यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा कहलाई। इसी वेद के ब्राह्मण भाग 'शतपथ ब्राह्मण' एवं उपनिषद् 'बृहदारण्यकोपनिषद्' की रचना का श्रेय भी याज्ञवल्क्य को ही है। इनके अतिरिक्त उन्होंने धर्मशास्त्र पर भी सूत्र लिखे जो 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के नाम से जाने जाते हैं।

इस प्राचीन दार्शनिक परिवेश में नारियों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण थी। याज्ञवल्क्य, जो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक थे और जिन्होंने उद्दालक आरूणि, आर्तभाग, चाक्रायण उषस्त, कौषितकेय कहोल, भृज्यु आदि जैसे दार्शनिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था, को बाचकन्ती गार्गी नामक विदुषी से शास्त्रार्थ करने में पसीने बहाने पड़े।

भारतीय परम्परा में जो षड्‌दर्शन हैं, उनमें से चार का सूत्रपात बिहार में ही हुआ। न्याय, मीमांसा, वैशेषिक एवं सांख्य के आद्याचार्य क्रमशः गौतम, जैमिनि, कणाद एवं कपिल बिहार के ही हैं। यह भी विश्व सभ्यता में एक अनुपम एवं अद्‌भुत उदाहरण ही है कि जिस भूमि पर आस्तिक दर्शन का सूत्रपात हुआ, उसी भूमि पर जैन एवं बौद्ध नास्तिक दर्शनों का भी जन्म हुआ।

इन चार दर्शनों का न सिर्फ उत्स बिहार में था, बल्कि इनपर अधिकांश विमर्श भी बिहार में ही हुए।

विशेषकर, न्याय, मीमांसा एवं वैशेषिक दर्शन के अधिकांश विद्वान हर युग में यहीं हुए। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन मिथिला में साथ ही विकसित हुए और लगभग 1200 ई० में यहीं दोनों दर्शन एकाकार से हो गए गणेश उपाध्याय के चिंतन में। अब दर्शन की एक नई परंपरा शुरू हुई नव्यन्याय के रूप में। गणेश इसके प्रस्तोता दार्शनिक हुए। उनकी 'तत्त्वचिंतामणि' दर्शनशास्त्र के अनुपम ग्रंथों में से एक है और इसपर असंख्य टीकाएँ लिखी गईं।

बौद्ध दर्शन के अस्तित्व में आने के बाद और उनको मिल रहे राजकीय संरक्षण के कारण आस्तिक दर्शनों को सदियों तक अस्तित्व के संकट से गुजरना पड़ा। परंतु, चिंतन की अक्षुण्ण उर्वरता ने दर्शन के सभी पक्षों को जीवित बनाए रखा। बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग का जब आस्तिक न्यायदर्शन पर ग्रहण लग गया, तब छठी सदी में बिहार में उद्योतकर का उदय हुआ। उन्होंने अपने विद्वतापूर्ण ग्रंथ 'न्यायवार्तिक' के द्वारा बौद्ध नैयायिकों के तर्कों का खंडन कर न्यायदर्शन को नया जीवन दिया।

मिथिला नैयायिकों के लिए तो प्रसिद्ध थी ही, वहाँ के मीमांसकों की प्रसिद्धि भी दिग्दिगंत में थी। मंडन मिश्र भी आदिशंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर अद्वैतवाद को मान लेने से पहले मीमांसक ही थे। उनके गुरु कुमारिल भट्ट के ही एक और शिष्य प्रभाकर मिश्र ने सातवीं-आठवीं सदी में 'शाबरभाष्य' पर 'बृहती' एवं 'लघ्वी' नामक दो टीकाएँ लिखीं।

भारतीय दर्शन-परम्परा में आदिशंकराचार्य की अद्वैत-प्रतिष्ठा के बाद सबसे भागीरथ प्रयास मिथिला के गौरव वाचस्पति मिश्र द्वारा हुआ। इनका जन्म नवीं शताब्दी में हुआ था। 'ब्रह्मसूत्र' पर आदिशंकराचार्य के भाष्य पर इनकी टीका 'भामती' के नाम से विद्वत्समाज में समादृत होती है। भामती वाचस्पति मिश्र की पत्नी का नाम है। इस संदर्भ में एक बड़ी ही मार्मिक कथा है। वाचस्पति मिश्र जन्मजात दार्शनिक थे। पारिवारिक दबाव में उन्होंने विवाह तो कर लिया, पर कभी वैवाहिक जीवन में प्रवृत नहीं हुए। वे सदा अद्वैत चिंतन में डूबे रहते थे। शांकरभाष्य पर टीका लिखने में वर्षों लग गए। जब वह टीका समाप्त होने को आई, तब उन्हें ध्यान आया कि जिस दिए से प्रकाश होता है, उसमें कभी तेल या बाती कम नहीं पड़ती। उन्होंने देखा कि एक वृद्धा अपने हाथ में तेल एवं बाती लिए खड़ी है। उन्होंने उस वृद्धा से परिचय पूछा, तो उत्तर मिला- 'मैं आपकी पत्नी हूँ भामती।

वाचस्पति मिश्र को अपनी पत्नी की दशा को देखकर बहुत दुख हुआ, परंतु उसके त्याग के प्रति अपना आभार एवं प्रेम अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने उस टीका का नाम 'भामती' रखकर उन्हें अमर बना दिया। भारतीय दर्शन पर इस ग्रंथ का ऐसा युगान्तकारी प्रभाव हुआ कि यहाँ से भामतीप्रस्थान माना गया। वाचस्पति मिश्र ने वैशेषिक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखीं।

दसवीं शताब्दी में बिहार में न्यायदर्शन के सबसे प्रखर सूर्य का उदय हुआ उदयनाचार्य के रूप में। इनके न्यायदर्शन के नए तर्कों ने लगभग पूरे भारत से आस्तिक दर्शन के विरोधी बौद्धमतों को अंतिम रूप से खंडित कर दिया। ये उद्भट विद्वाने थे और शास्त्रार्थ में अपनी आक्रामक प्रवृति के लिए विख्यात थे। इनकी तर्कशक्ति का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। प्राय: एक निगमन तर्क हम अपने आम जीवन में प्रयोग में लाते हैं कि सूर्य पूर्व दिशा से उदित होता है। एक प्रसंग में उसी पर आक्षेप करते हुए उदयनाचार्य ने कहा- ''उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा न हि तरणिरूदीते दिक्पराधीनप्रवृत्ति:।'' अर्थात सूर्य जिस दिशा में उदित होता है, उसे पूर्व कहते हैं। सूर्य किसी दिशा के अधीन होकर उदित नहीं होता। 'न्यायकुसुमांजलि', 'किरणावली', 'आत्मतत्त्वविवेक', 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि' आदि इनकी विद्वता के शाश्वत प्रमाण हैं।

बारहवीं सदी से मीमांसा के दो प्रसिद्ध विद्वान हुए बिहार में मुरारि मिश्र और पार्थसारथि मिश्र। मुरारि मिश्र से मीमांसा की एक नई परम्परा ही शुरू हो गई, जिसे मुरारि परम्परा अथवा मिश्र परम्परा कहा जाने लगा। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं- 'त्रिपादनीतिनयम्' और 'एकादशाध्याधिकरणम्'। पार्थसारथि मिश्र को मीमांसा केसरी के नाम से भी जाना जाता है। इन्होंने अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर टीका भी लिखी। तेरहवीं सदी में परितोष मिश्र नामक एक और प्रसिद्ध मीमांसक हुए। उन्होंने कुमारिल के 'तंत्रवार्तिक' पर 'अजिता' नामक टीका लिखी और इसी कारण इन्हें अजिताचार्य नाम से भी जाना जाता है।

तेरहवीं सदी में ही न्याय वैशेषिक दर्शन के विख्यात दार्शनिक केशव मिश्र हुए। उन्होंने तर्कभाषा नामक ग्रंथ की रचना की। मिथिला के दार्शनिक जयदेव भी इसी सदी में हुए जिन्हें पक्षधर मिश्र के नाम से भी जाना जाता है। इन्होंने गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिंतामणि' पर 'आलोक' नामक टीका लिखी। इन्हीं की शिष्य-परंपरा में थे वासुदेव सार्वभौम। इन्हें नव्यन्याय को मिथिला से बाहर ले जाने का श्रेय है। कहते हैं मिथिला के विद्वान नव्यन्याय के ग्रंथ मिथिला से बाहर ले जाने की अनुमति नहीं देते थे। ऐसे में वासुदेव ने सभी महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को कंठस्थ कर लिया और फिर वे उनके आधार पर बंगाल के नवद्वीप (नदिया) में नव्यन्याय का केंद्र स्थापित किया।

बिहार की गौरवशाली विद्वत्परंपरा में एक प्रसिद्ध नाम है अयाची मिश्र का। इन्होंने अपना सारा जीवन तत्त्वचिंतन में और ज्ञानदान में लगा दिया। उन्होंने कभी किसी राजा का आश्रय ग्रहण नहीं किया और न ही किसी से कोई याचना की। इनका वास्तविक नाम भगवान मिश्र था, पर अयाची प्रवृत्ति के कारण अयाची मिश्र के नाम से प्रसिद्ध हो गए। ये पंद्रहवीं शताब्दी में हुए। प्रसिद्ध द्वैतवादी दार्शनिक शंकर मिश्र इन्हीं के पुत्र थे। इन दोनों पिता-पुत्र की विद्वता से संबद्ध असंख्य किंवदन्तियाँ बिहार में प्रचलित हैं।

मुगल शाहंशाह अकबर भी बिहार की अद्भुत दर्शन-परंपरा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। उसने अपनी गुणग्राहकता दिखाते हुए समकालीन दरभंगा के प्रसिद्ध विद्वान महेश ठाकुर को दरभंगा प्रान्त भेंट में दे दी थी। महेश ठाकुर न्याय के प्रसिद्ध विद्वान थे। कंपनी के शासन में भी वारेन हेंस्टिंग्स ने अपने द्वारा निर्मित ग्रंथ लेखान समिति में बिहार के दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान कृपाराम तर्कवागीश को रखा था। इन्होंने 'नव्यधर्मप्रदीपिका' नामक ग्रंथ की रचना की थी।

बिहार की इस गौरवशाली एवं समृद्ध दार्शनिक परंपरा को आधुनिक काल में मधुसूदन ओझा, बच्चा झा, गंगानाथ झा आदि ने नए आयाम दिए। मधुसूदन ओझा ने शताधिक ग्रंथ लिखे और भारतीय दर्शन की पताका इंग्लैंड तक जाकर फहराई। बच्चा झा ने कई प्राचीन जटिल दर्शन ग्रंथों का पुनःविश्लेषण किया, तो गंगानाथ झा ने दार्शनिक विरासत की पांडुलिपियों को संरक्षित कर एवं उनके अनुवाद आधुनिक भाषाओं में करके उन्हें सर्वसुलभ बनाने का स्तुत्य कार्य किया। आधुनिक लोकतंत्र, राजनीतिक जागरण और सामाजिक न्याय की पथिका के रूप में बिहार की समृद्ध दार्शनिक परंपरा का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

विश्वामित्रा

–प्रोú बीú बीú शमा

बिहार की गौरव-गाथा में वैदिक ऋषि विश्वामित्र का मूलभूत योगदान है। बारह सौ ई० पू० इस पूर्वांचल के ऋषि ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को तत्कालीन संकीर्ण, रूढ़ और यथास्थितिवादी मानसिकता से ऊपर उठाकर एक नयी चेतना दी। भारतीय संस्कृति की परिवर्त्तनशील चेतना के वे पुरोधा कवि थे। मगध, मिथिला, अंग, बंग और कौशल के विस्तृत अनार्य क्षेत्र में विश्वामित्र ही उस परम्परा के पोषक थे जो सप्तसिंधु के राजाओं को एक व्यापक-समन्वयवादी आर्येतर सामाजिक व्यवस्था की तरफ लाने की कोशिश कर रहे थे।

आर्येतर जातियों में नाग, राक्षस, गंधर्व, किन्नर, कोल, किरात इत्यादि अनेकानेक कबीले पूर्वाचंल में सैकड़ों वर्षों की परम्परागत सभ्यता-संस्कृति का निर्माण कर अपेक्षाकृत उत्कृष्टतर जीवन जी रहे थे। आर्य लोग अपनी सीमा-बद्धता में उन दिनों यज्ञादि कर्मकांडों में ही उलझे रहते थे। संकुचित संस्कृति के ही अहंकार में वे फँसे थे। देवासुर संग्राम के बाद विजय-दंभ से वे पीड़ित थे। गेहूँ, जौ, तिल अन्नादि का ही उन्हें ज्ञान था। गाय, बकरी, भेड़ इत्यादि पशु ही उनकी सम्पत्ति थे। कहते हैं कि पहली दफा विश्वामित्र ने ही पूर्वांचल से भैंस जैसे जानवर को आर्यों के लिए महत्त्वपूर्ण बताया। दूध तथा खेती के लिए भैंस-भैंसा का प्रचलन उन्होंने ही करवाया। इसी तरह सहायक अन्नों के लिए भदई फसलों मक्का, मड़ुआ, कोदो, सावाँ, साठी एवं नारियल आदि अनाजों के महत्त्व का प्रतिपादन उन्होंने ही किया। आज भी मड़ुआ या रागी को झारखण्ड से कर्नाटक तक पौष्टिक अनाज माना जाता है। ऋगवेद में हल के लिए लांगत शब्द मुंडारी भाषा से गया। बहुत संभव है कि विश्वामित्र ने ही हल या लांगल को ऋगवेद में अन्तर्भूत किया हो।

बिहार का समृद्धिशाली और साम्राज्यशाली इतिहास लोहे के आविष्कार के साथ शुरू होता है। हल और हथियार लोहे की देन हैं। ये साम्राज्य-निर्माण के मूलाधार हैं। मगध साम्राज्य की पृष्ठभूमि विश्वमित्र चिंतन ही है। विश्वमित्र चिंतन क्या है? राम और लक्ष्मण का शिक्षण ऐसा हो जो अज्ञात कुलशील सीता का वरण कर सके, जो आततायी मातृसत्तात्मक प्रतीक ताड़का का वध कर सके, जो छोटे-छोटे फैले राजाओं को चक्रवर्त्तित्व प्रदान कर सके, जो सक्षम नायकत्व की कल्पना को साक्षात् कर सके, जो क्षत्रियत्व को प्रजापालन एवं ज्ञान के संवर्द्धन में लगा सके। विश्वमित्र चिंतन का अगला आयाम यह है कि पौरोहित्यवाद या वशिष्ठ के वर्चस्ववाद का निराकरण किया जा सके। अन्य अनेक आदिवासी जातियों-प्रजाजियों-कोल, किरात, वानर, रीक्ष, भील इत्यादि टॉटेम कबीलों को भारत की मुख्यधारा में लाया जा सके। यह विश्वामित्र जैसे समरसतावादी ऋषि का ही मुनि तत्त्व था जो आगे आनेवाले औपनिषदिक वेदान्तसुलभ ज्ञान-कांड का आधार बना। मानना पड़ेगा कि विश्वामित्र एक विराट सांस्कृतिक समन्वय का नाम था। विश्वामित्र उस पौर्वात्य संकल्प का नाम था जो अपनी तपस्या, व्रत-साधना, अध्ययनशीलता, चिंतना और अथक श्रमशीलता से कुछ भी पा लेने का माद्दा रखता है।

मगध तो व्रात्यों का देश था। यहाँ वैदिक कर्मकांड का कभी औचित्य नहीं रहा। श्रमण और जिन परम्परा में तप-व्रत-करूणा का यह देश था। तप-व्रत-करूणा के बिना क्षत्रियत्व सिद्ध नहीं होता। खत्तीय-क्षत्रिय परम्परा खेती सभ्यता से जुड़ा शब्द है। कृषि-विकास में याज्ञिक हिंसा बड़ी बाधा है। जनक, अजातशत्रु, बुद्ध, महावीर ये सभी इन्हीं गुणों के कारण यशस्वी क्षत्रिय हो सके थे। अजातशत्रु और जनक उपनिषद् की रचना में भागीदार थे। ऋगवैदिक (सतयुग) में दो ही वर्ण थे- ब्राह्मण और

क्षत्रिय।

राजर्षि से ब्रह्मर्षि बनने की चेतना यानी ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास का सत्य ही विश्वमित्रत्व है। असल में विश्वामित्र का नाम विश्वमित्र था। व्यंग्य से सप्तसिंधु सभ्यता के पुरोधा वशिष्ठ ने उन्हें विश्व का अमित्र कह दिया। असल में सप्तसिंधु तक सीमित आर्य-सत्य में विश्व का विस्तार आर्य-जाति तक ही था। अत: उस कूप मंडूक आर्य विश्व के अमित्र तो विश्वामित्र थे ही।

विश्वामित्र का अपना गुरूकुल आश्रम बक्सर (बिहार) में ही था। वहीं राम-लक्ष्मण की शिक्षा-दीक्षा हुई थी। मगह के वीर-गाथा काव्य में भाद देवता का नाम आता है। भाद देवता के तीन मठ चिन्हित हैं- एक बक्सर में, दूसरा राजगृह में (मनियार मठ) तीसरा बारा नामक गाँव- (बेन प्रखंड- नालंदा) में। अपभ्रंस भाषा के एक गाथा काव्य में शोखा-शंभुनाथ जो भगत हैं, वे वस्तुत: भाददेवता के अनुयायी हैं। संभव है नाथ-सिद्ध परम्परा में भाद देवता विश्वामित्र ही हों; जो भदई फसल और महिष को सम्मानित करनेवाले ऋषि थे।

महर्षि विश्वामित्र के कुछ कार्य तो बड़े ही क्रांतिकारी हैं- जैसे महाभारत में आपद्धर्म के बारे में विश्वामित्र का कथन है- यथा यथैव जीविद्वतत् कर्त्तव्यमहेलया। जीवित मरणाच्छयो जीवन धर्मभवात्नुपात अर्थात जीवन जिस प्रकार सुरक्षित रहे, उसी प्रकार का प्रयास बिना अवहेलना के करना चाहिए। मरने से जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित मनुष्य पुन: धर्म का आचरण कर सकता है। यह विश्वामित्र ने तब कहा जब भूख और अकाल से पीड़ित हो वे एक चांडाल के यहाँ से कुत्ते की जाँघ चुराने की कोशिश कर रहे थे। चांडाल ने उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की कि उनके लिए कुत्ते का मांस खाना वर्जित है और चोरी करना तो निषिद्ध है ही। असल में विश्वामित्र निषेधवाद के कायल नहीं थे। सुदूर पूर्वांचल में नागा भारतीय कुत्ते का मांस खाते हैं। पूरबी एशिया में तो यह श्वान-भक्षण ज्यादा ही प्रचलित है।

ऐसा लगता है कि बुद्ध काल (भाषा की दृष्टि से पाली काल) 500 ई० पू० से पहने पाँच-सात सौ वर्ष पूर्व ही पूर्वांचल में लौहयुग का प्रारंभ हो गया था और कृषि-विकास ने बैलों की उपयोगिता रथ एवं हल के लिए मान ली गई थी क्योंकि विश्वामित्र रचित ऋचा में सतलज और व्यास नदियाँ (कवि विश्वामित्र की) अभ्यर्थना करती हुई कहती हैं-

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दरादनस रथेन।

निते ने सै पीत्यानेव योषा मर्यायेव कन्याशष्व चैते।।

(ऋगवेद-3-1-12)

"हे कवि! तेरे वचनों को हम सुनती हैं, तू दूर से बैल के रथ से आया है। दूध पिलाने की इच्छुक स्त्री (या) पुरुष के लिए युवती की तरह हम तेरे लिए नीची हो जाती है।" पहली बार वैदिक सभ्यता में पूर्वांचल का संवादी सप्तसिंधु की नदियों की अभ्यर्थना का पात्र बना है। अगली शताब्दियों में मगध के सार्थवाह हजार-हजार बैलगाड़ियों को लेकर वाणिज्यिक सामग्रियों के साथ सुदूर पश्चिम अफगानिस्तान-इरान तक जाने लगे। इस रक्षित वाणिज्यिक प्रयाण और निष्कंटक राजमार्ग के लिए ही तो साम्राज्य एवं श्रेष्ठी वर्ग की जरूरत महसूस हुई।

विश्वामित्र मानवीय संस्कृति के पोषक थे। मनुष्य रहते थे यमुना-गंगा एवं उसकी सहायक नदियों के आस-पास। स्वर्ग यानी सप्तसिंधु के पार हिमाद्रि-इत्यादि पर्वतों में देवता रहते थे। उनकी देवसंस्कृति थी। रक्त शुद्धता, श्वेत-रंग गौरव, शिकार, यज्ञ, मांसाहार, स्वच्छंद यौन इत्यादि उनके जीवन-व्यापार थे।

नरक की भी अवधारणा थी। सुदूर पूरब-दक्षिण-आसाम-बंगाल-वर्मा इत्यादि नरक का इलाका था। आसाम में नरकासुर का राज्य प्रसिद्ध था। अत: मगध साम्राज्य के महान ऐतिहासिक योगदान का मूलारंभ विश्वामित्र के महामानववादी चिंतन से ही माना जाना चाहिए। वस्तुत: देव संस्कृति से अलग आर्य संस्कृति का अर्थ ही हुआ जाति, जन्म, रंग, जगह आदि के भेद को मिटाकर विराट् समन्वय की मनसा बनायी जाय। आर्य शब्द का अर्थ संस्कृत में 'रेस' जात के अर्थ में नहीं है; आर्य मतलब- श्रेष्ठ, सुसभ्य, सुसंस्कृत।

बाल्मीकि रामायण में बक्सर आश्रम से आगे मगध एवं मिथिला की तरफ अपने शिष्यों, राम-लक्ष्मण के साथ, जब विश्वामित्र बढ़ते हैं तो लगातार इस क्षेत्र के विभिन्न वंशों, राजाओं और लोगों के बारे में बताते चलते हैं और अंतत: रघुवंश का संबंध विदेह वंश से करा देते हैं। इस संबंध की स्वयं राम ने प्रशंसा की है और इसे कुशिकनंदन विश्वामित्र का महान कार्य माना है-

"जनकानां रघूणां च संबंध: कस्य न प्रिय

यत्र दाता गृहीता च स्वयं कुशिक नंदन

उत्तर रामचरितमानस"

यह एक सामाजिक और राजनैतिक विकास का बंधन था। हम बिहारवासी विश्वामित्र के इस व्यापक समन्वयकारी चिंतन की जितनी प्रशंसा करें, कम है।

विश्वामित्र ऋगवेद के अनेक मंत्रों के निर्माता थे। वे कुश-वंश के राजा कुशिक के पुत्र थे। आज भी बिहार में कुशवंश के काफी लोग उन्नत कृषि का कार्य कर रहे हैं। गायत्री मंत्र विश्वामित्र का ही रचा हुआ कहा जाता है-

"ऊँ भूर्भुव: स्व: तत्सवितु-र्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धीयो योन: प्रचो: दयात्।"

कुश वंश के कारण उन्हें कौशिक भी कहा जाता है। ताड़का से लड़ने के लिए विश्वामित्र ने श्रीराम को रहस्यमय (यानी खास टेकनीक का) जृंभक नामक अस्त्र दिया था जो सुरक्षात्मक था। (प्रसंग 30 रा० मा०)

कुशवंश का स्थान यदि कुशीनगर (गोरखपुर) हो तो बुद्ध का महापरिनिर्वाण कुशीनगर में ही हुआ था। यानी कुशवंश बुद्ध तक जुड़ता है। विश्वामित्र की तपश्चर्या और आत्मचिंतन बिहार के भावी इतिहास का बीजारोपन कर रहे थे जहाँ सत्ता, धर्म, ज्ञान, कर्म और विज्ञान का वैश्विक अभ्युत्थान होने वाला था। तथास्तु।

सीता

–प्रोú बीú बीú शमा

राम-सीता की गाथा लोक मानस में रची-बसी है। अतः, उसकी तात्विकता अलक्षित नहीं है। लोग जब अपने जीवन का सच, औचित्य, संवेदना और विडम्बनाओं का प्रतिबिंब किसी व्यक्तित्व में पाने लगते हैं तो उससे हद तोड़कर जुड़ने लगते हैं। सीता एक ऐसा ही व्यक्तित्व लेकर पैदा हुई।

रामकथा के विस्तार में- रामायण शत कोटि अपारा- में भावकों के अपने-अपने राम हैं। जिसका चरित्र ही काव्य बन जाता है- उसके अलग-अलग आयाम हो जाते हैं। जिसकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।।

सीता-जानकी है, मैथिली है, वैदेही है, भागीरथी है। इसे बहुआयामी बनाना मुश्किल है, परंतु एक ही आयाम में कितनी गहरी-गहरी रेखाएँ हैं। बिहार में गंगा मैया एक विशाल वात्सल्य की स्वामिनी हैं। कितनी-कितनी नदियाँ आ मिलती हैं। कितने-कितने लोग आ बसते हैं। वह प्रशांत-गहरी वेदना लिए सबका उद्धार करती हैं। इसी संबल ने तो बिहार के भावी इतिहास और इसीलिए संस्कृति को पल्लवित-पुष्पित किया। सीता बिहार की भूमिजा है और सम्पूर्ण रामायण (राम का संचरण) की मूल बिंदु है, दिगदिगन्त तक फैलती सुवासिनी है- इससे कौन बिहारी आज प्रफुल्ल चेता नहीं बनेगा?

सीता अज्ञात कुलोत्पन्न है। यज्ञ, अर्थात सांस्कृतिक अनुष्ठान ने उसे स्वीकार किया है। वह हल की प्रतीक है। हल जो धरती को बीज-संभार के लिए तैयार करता है। जीवनीशक्ति का शुभारंभ अंकुर से ही होता है। सीता अंकुर की पूर्वपीठिका है। वह कृषि-जीवन की आदिम शक्ति है। हल और धनुष वाण से ही तो बिहार का इतिहास आरंभ होता है। सीता अभी छोटी है- शिव-धनुष 'पिनाक' बड़ा है। उसे हटाना है। कौन हटाये? कोई हटाने वाला नहीं है। अचानक सीता की-श्रम-स्वेद से बनी-भुजाएँ फड़क उठती हैं। वह स्वयं उस भारी-भरकम धनुष को हटा देती है। इस नारी-शौर्य को देखकर राजा जनक भौचक्क रह जाते हैं।

हे विदेह! आप ज्ञानी हैं, याज्ञवल्क्य ने आपको ब्रह्म विद्या दी है। आप उपनिषद्कार हैं। आपने इस परित्यक्त बालिका को गोद दी है। यह राजकुलोत्पन्न नहीं है, पर मानवी है। यही है ज्ञान। सही ज्ञान। मगध, मिथिला, अंग-बंग की भावी संस्कृति के आप ही तो नियामक हैं। आप विश्वामित्र को जानते हैं। वे महान भारतीय संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं। आपकी सीता भावी इतिहास की साक्षी ही नहीं होगी, बल्कि वही तो भावी मातृत्व धारिणी होगी जहाँ से इतिहास की नई कोपलें फूटेंगी।

सीता किसी तपस्विनी के गर्भ से पैदा हुई। तपस्विनी ने अपने गर्भ में उसे पाला जो एकदिन तत्कालीन दंभ शिरोधारी-आततायी राजा रावण के नाश का कारण बनेगी। ब्रह्मज्ञानी जनक ने उसे पाला है। जनक विदेह हैं; वे मानव-मानव के बीच ऊँच-नीच के भेद को नहीं मानते। मानवता एक है। यही अद्वैत दर्शन है। द्वैत से अद्वैत और अद्वैत से द्वैत- संसार को समझने की यही प्रक्रिया है। देव दंभ के हिमायती को वे अज्ञानी मानेंगे। राक्षसी दंभ के आततायी को धराशायी करने के लिए, शिवधनुष से खेलनेवाली कन्या का विवाह महान पराक्रमी-शील-सौन्दर्य और शक्ति के अधिष्ठाता किसी मानव से करेंगे। ऐसे मानव की खोज विश्वामित्र जैसे संघर्षशील ऋषि करेंगे। देव और दानव दोनों परम्पराएँ एकांगी और प्रभुत्ववादी हैं। जनक को समरसता की खोज है।

भारतीय संस्कृति में सीता नारी जाति की अधिष्ठात्ती मानुषी है। प्रेम, पातिव्रत्य, निष्ठा, सदाचार, दृढ़ता, करूणा और मातृत्व की अन्तर्धारा में लीन। सीता स्त्री है- केवल स्त्री। कुलीनता, दंभ, ऐश्वर्य, प्रभुत्व और एकाधिकार की भावनाएँ- उसके स्वाभाविक गुण नहीं। प्रेम में वह राममय हैं; पातिव्रत्य में श्रद्धामय है। निष्ठा अशोक वाटिका की तपश्चर्या है। सदाचार में वह न केवल आरण्यक स्त्रियों की चहेती है, बल्कि शबरी, त्रिजटा, अरूंधती, कौशल्या सबकी प्यारी है। दृढ़ता में लंका जलाती है- रावण से बच जाती है। करुणा और मातृत्व में उनका उत्तर जीवन है जब वे बाल्मीकि आश्रम में वास करती हैं। सीता ने पाया है कि वनवास जीवन का सहज क्रम है। यौवन और वय सब प्रारब्ध के खेल हैं। करुणा और संवेदना ही लव-कुश को जन्म देंगे। माँ का रुप- वाल्मीकि जैसे वनवासी कवित्वशक्ति-सम्पन्न ऋषि का सान्निध्य-लव-कुश का पालन-पोषण और हिरणों के साथ जीवन। लव-कुश अश्वमेध के घोड़े को पकड़ते हैं। अयोध्या के दंभ को तोड़ते हैं। रघुवंश के अहंकार का परिहार करते हैं। रामायण का अंत करते हैं। साम्राज्य की लड़ियाँ बिखर जाती हैं। जन-गण के साथ लवकुश का तादात्मय हो जाता है।

सीता ने अपने व्यक्तित्त्व के सातत्य से सम्पूर्ण नारी जाति को वह विश्वास दिया जहाँ उसे कभी अग्निपरीक्षा नहीं देनी होगी। सीता जहाँ है वहाँ अग्नि झूठी है-तुच्छ है। जनक अग्नि को चुनौती देते हैं-

''आ:! कोऽयंअग्निर्नाभास्यप्रसूति परिशोधने'' आह! मेरी पुत्री को शुद्ध करने में यह अग्नि कौन होती है?

स्त्री सदैव पवित्र है। वह स्वयं अपनी कसौटी है। प्रवाद, लोकनिंदा, सामंतशाही, रामचंद्रयन (पितृसत्तात्मकता) पराधीनता, भय से जो मुक्त है वही सीता का संस्कार है- वही बिहार है। यह बिहार है जहाँ छठ-गीतों में छठमैया से रूनकी-झुनकी दो बेटियाँ माँगी जाती है- अन्यत्र तो कन्या-भ्रूण-हत्या का बाजार सरगरम है।

बारहवीं शताब्दी तक राम-सीता ललित साहित्य के आलंबन थे। लोक-जीवन के साथी थे। बाद में भक्ति साहित्य में जब राम-कथा आयी तो लोक चेतना से जुड़े राम-सीता का फायदा भक्त कवियों ने भक्ति-प्रचार में उठाया। भक्ति की भडांस में राम-सीता के अनेक अलोकप्रिय तत्त्व आ गये जो मठ-मंदिरों में दिग्भ्रम पैदा कर रहे हैं। परंतु लोक-जीवन की सीता ही युग-युगांतर तक हमारी संवेदना का दीप-स्तंभ बनी रहेगी। गीता में जनक को प्रवृत्तिवादी दर्शन का आदर्शपुरुष कहा गया है। देह में विदेह और विदेह में देह- सीता का जीवन है।

जरासंध

–डॉú दीपक कुमार राय

ऋगवैदिक तथ्यों की अभिव्यंजना में 'मगध' की अवस्थिति 'आर्यावर्त' की अवधारणा के बाहर बैठती है। कालान्तर में मगध के नाम से ख्यात एक जनपद, जो साम्राज्य भी बना। ऋगवैदिक एवं पौराणिक संदर्भों में 'कीकट' के नाम से उल्लिखित हुआ है। ऐसी मान्यता थी कि अंग, बंग, मगध इत्यादि क्षेत्रों की यात्रा के बाद शुद्धि संस्कार से गुजरना पड़ता था। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक आचार-विचार, विश्वास एवं मान्यताएँ इस क्षेत्र विशेष में वही नहीं थी, जो शेष आर्यावर्त में प्रचलित रही होंगी। ब्राह्मणवादी विचार के वर्चस्व के विरुद्ध एक नए किस्म का 'धम्मबघोष' यही गूंजा था। इस पूरे प्रक्षेत्र में आर्येतर मूल के लोगों की एक बड़ी आबादी रहा करती थी, जो आर्यवर्ण एवं नस्ल के सामाजिक प्रतिबन्धों में अँटने से कभी-कभी इनकार भी करती रही होगी। जरासंध, विम्बिसार, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक जैसे इतिहास प्रसिद्ध सम्राट इसी धरती की उपज रहे तो महावीर और गौतमबुद्ध जैसे अप्रतिम विचारक- दार्शनिक भी एक वैश्विक छवि के साथ यहीं उभरते हैं। वस्सकार, सुनीथ एवं कौटिल्य जैसे अमात्यों ने राजनय को एक सर्वथा नयी मुद्रा एवं मर्यादा सौंपी। यही वह विशिष्ट परिक्षेत्र रहा जहाँ एक शूद्र पहली बार शासक बना।

रायचौधरी ठीक फरमाते हैं कि मगध के राजदरबार गिरिव्रज के शासकों के पास भी ऐसे वफादार लोग थे जो राज्यभर में अपने अनुकूल जनमत तैयार कर सकते थे। यहाँ प्रतिरोध की सुदीर्घ और गौरवशाली परम्परा रही है। महाभारतकालीन राजनीति के नियंता श्रीकृष्ण थे, लेकिन यहाँ से उनके विरुद्ध भी प्रतिरोध की पताका लहराई थी महान पराक्रमी जरासंध के नेतृत्व में।

वार्हद्रथवंशी जरासंध की दो पुत्रियाँ थीं- अस्ति और प्राप्ति। इन दोनों की शादी शूरसेन देश के राजा कंस के साथ हुई थी। पौराणिक आख्यान एवं जनश्रुतियाँ बताती हैं कि कंस का वध श्री कृष्ण ने किया था। जरासंध की दोनों पुत्रियाँ विधवा हुई थीं, श्रीकृष्ण के ही हाथों। इसी घटना से आक्रोशित जरासंध ने सदलबल मथुरा पर आक्रमण किया था। जरासंध की सेना में करूष देश का राजा दन्तवक्त्र, चेदिराज शिशुपाल कलिंगराज श्रुतायु, पौण्ड्रक, सांकृति, केशिक, भीष्मक तथा रूक्मि जैसे वीर एवं उनकी पूरी सेना शामिल थी। यही नहीं कृष्ण से वैर रखने वाले अन्यान्य कई वीर जिसमें वेणुदास, श्रुतर्वा, क्रथ, अंशुमान, काशिराज, कोशल नरेश, भद्रराज शल्य, सुशर्मा, कश्मीर नरेश गोनर्द तथा धृतराष्ट्र का प्रतापी पुत्र दुर्योधन शामिल थे, वे भी जरासंध के साथ आए।

घमासान युद्ध हुआ। हरिवंश पुराण बताता है कि भगवान विष्णु के चार तेजस्वी आयुध-संवर्तक नामक हल, सौनन्द नामक मूसल, शार्ङ्ग धनुष और कौमोद गदा का उपयोग कृष्ण और वलराम दोनों यादव योद्धाओं की ओर से हुआ। कहा जाता है कि भीषण युद्ध में जरासंध की सेना हार गई। हरिवंश पुराण में उल्लेख है कि,

"पराजिते त्वपक्रांते जरासंधे महीपतौ
अस्त्रं याते दिनकरे नानुस स्त्रुस्तदा निशि।।"
-श्री हरिवंशपुराण, 36/32

जरासंध हार गया और रात में यादव वीरों ने फिर उसका पीछा नहीं किया। इसी अध्याय का 29वाँ श्लोक पहले ही एक आकाशवाणी करा चुका है कि, "न त्वया राम वध्योउपमलं खेदेन मानद........ अचिरेणैव कालेन प्राणांस्त्यज्ञयति मागध:" यानी जरासंध का बध आपके हाथ से होने वाला नहीं है।

सवाल उठता है कि जब बलदेव जी धराशायी कर चुके थे जरासंध को तो उनके हाथों मारे जाने में क्या दिक्कत थी। और बाद में भी जिसके लिए इतना बड़ा युद्ध हुआ वही शत्रु जब सामने था, तो कृष्ण जैसा सर्वज्ञ एवं शक्तिमान प्रतिद्वन्द्वी, जरासंध को छोड़ क्यों देता है। यह भी तो हो सकता है कि यह युद्ध अनिर्णीत समाप्त हुआ हो और मगधराज जरासंध अपराजेय रहा हो। क्योंकि कालान्तर में इसी जरासंध के प्रबल प्रताप एवं रणकौशल से भयाक्रांत हो यादवों को अपनी राजधानी छोड़नी पड़ी थी। हरिवंश पुराण में ही कहा गया है कि, "शत्रु बार-बार पीड़ा देकर हमें क्षीण कर रहा है हमें यानी यादव वंशियों को। अत: श्रीकृष्ण को परशुराम जी सलाह देते हैं कि तुम गोमंतक पर्वत पर चलो। वहाँ जरासंध के साथ युद्ध होगा तो विजयश्री तुम्हारा वरण करेगी।" लेकिल साक्ष्य बताते हैं कि जब युद्ध हुआ तो शिशुपाल की सहायता से गोमंतक पर्वत पर आग लगा दी गई एवं श्रीकृष्ण-बलराम पर्वत से कूद कर नीचे आकर युद्ध करने लगे। बताया गया है कि जरासंध पराजित होकर फिर पलायन कर गया। इतिहास की प्रचलित व्याख्याओं के उसपार देखें तो कहना पड़ेगा कि जरासंध फिर अपराजेय रहा।

दरअसल यह दो राजाओं और दो राज्यसंघों के बीच एक लड़ाई भर ही नहीं थी। यह दो मान्यताओं के बीच वैमनस्य की कहानी भी है, जिसमें एक मान्यता मानती है कि, "कीकटे च महोडऽप्येष पाप भूर्भों न संशय" यानी कीकट (मगध) क्षेत्र में जाकर लौटने के बाद शुद्धि की जरूरत पड़ जाती है। लेकिन अपनी भौगोलिक अवस्थिति, सुयोग्य शासकों काबिल नीतिकारों, जनप्रिय प्रशासन एवं अन्यान्य इन्हीं विशिष्टताओं के चलते मगध हिन्दुस्तान का हृदय प्रदेश बना रहा। आजके पटना और गया जिलों में तबके मगध का बहुलांश समाहित था। उत्तर पश्चिम में गंगा और सोन जैसी नदियाँ, तो पूर्व में चम्पा नदी का घेरा और दक्षिण में विंध्य पर्वत माला से पूर्णत: सुरक्षित मगध प्रदेश की पहली राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। इसी के अन्य नाम वृहद्रथपुर, वसुमति, बिम्बिसारपुरी, कुशाग्रपुर या मगधपुर थे।

बहरहाल महाभारत और पुराण यह स्थापित करते हैं कि यहाँ सर्वप्रथम वृहद्रथ के द्वारा ही किसी राजवंश की नींव डाली गई थी। वृहद्रथ वसु का पुत्र एवं जरासंध का पिता था। पुराणों ने वसु को ही श्रेय दिया है गिरिव्रज या वसुमति की स्थापना करने का। पुराण वार्हद्रथवंशी राजाओं की सूची प्रस्तुत करते हैं तो संख्या-16 से लेकर 32 तक गिना जाते हैं। इनकी कुल शासनावधि 723 या 1000 वर्ष बताई गई है। कहा जाता है कि जब पुणीक का पुत्र प्रद्योत अवन्ति का राजा बना तो वृहद्रथ वंश मगध से मिट चुका है। इसी वंश के शासक जरासंध ने अपने समय में अधिकांश राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य कर दिया था। कृष्ण से उसकी शत्रुता एवं लड़ाइयों को हम देख चुके हैं। पुराणों एवं महाभारत जैसे ग्रन्थों के लगातार दावों के बावजूद ऐसा लगता नहीं कि कृष्ण मगध नरेश जरासंध को कभी पराजित कर पाए। फिर उन्होंने युधिष्ठिर की विश्व विजय की भावना को जागृत किया और उसमें जरासंध को सबसे बड़ी बाधा बताते हुए सबसे पहले उसी के बध को परमावश्यक बताया। इस तरह श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के साथ मिल कर एक संघ बनाया एवं तदनंतर जरासंध का बध किया जा सका। महाभारत के सभापर्व में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि, "आप राजसूय यज्ञ के वास्तव में अधिकारी हैं लेकिन इस समय जरासंध ने अपने बाहुबल से सारे राजाओं को हराकर अपनी राजधानी में कैद कर रखा है।" इसके बाद उन सारे राजाओं का जिक्र है, जरासंध के मित्र नरेशों का जिक्र है और इसमें पराक्रम से भयभीत होकर अपना राज्य छोड़कर भाग चुके राजाओं का भी जिक्र है। श्रीकृष्ण जरासंघ की सेना का वर्णन करते हुए बताते हैं कि, "उसकी सेना इतनी प्रबल हो गई है कि यदि अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा लगातार तीन सौ वर्षों तक उसका संहार किया जाता तब भी पूर्ण रूपेण उसका खात्मा संभव नहीं था" फिर उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि, "यदि आप राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कैदी राजाओं की मुक्ति और जरासंध का बध।" भीम, अर्जुन और कृष्ण

मिलकर द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारते हैं और फिर कृष्ण की कतिपय चालाकियों को चाल बना कर भीम गदायुद्ध में जरासंध की हत्या करता है।

जरासंध की उत्पत्ति और उसके जन्म सम्बन्धी भी बड़ी विचित्र कथा है। जरासंध के पिता वृहद्रथ ने काशिराज की दो कन्याओं से विवाह किया था, इस आशय का वचन देते हुए कि वे दोनों से समान स्नेह रखेंगे। उन्हें पुत्र प्राप्ति नहीं हो रही थी। एकदिन गौतम कक्षीवान के पुत्र महात्मा चण्डकौशिक से आशीर्वाद लेने पहुँचे। महात्मा ने एक फल दिया और रानी को खिला देने का निर्देश भी। इनकी तो दो रानियाँ थी, उन्हें एक समान प्यार भी करते थे फलतः उन्होंने फल के दो टुकड़े किए और दोनों रानियों को आधा-आधा खिला दिया। नियत समय पर पुत्र हुआ तो दोनों रानियों के गर्भ से बीच से कटे हुए हिस्से ही निकले। प्रत्येक में एक बाँह, एक आँख, एक पैर, आधा पेट, आधी कमर। रानियों ने मारे घबराहट के दोनों टुकड़ों को फेंक दिया। वहीं राज्य में ही 'जरा' नाम की एक राक्षसी रहती थी। उसी के हाथों संयोगवश दोनों टुकड़े जुड़ गए तो एक पराक्रमी राजकुमार का रूप सामने आया। जरा नामक राक्षसी के द्वारा 'सन्धि' किए जाने-जोड़े जाने के फलस्वरूप जरासंध नाम पड़ा।

जरासंध पर कई आरोप लगाए गए कि वह अत्याचारी एवं उत्पीड़क था, कि वह योग्य लोगों से अपेक्षतया कमतर योग्यता का काम लिया करता था, कि वह क्षत्रियों का नाश करना चाहता था। हालांकि राजतंत्री समाज के युगबोध में इन चीजों को अपराध के रूप में प्रमाणित करना थोड़ा कठिन प्रतीत होता है। जरासंध को जब युद्ध के लिए ललकार और चुनौती मिलती है तो वह भीम-अर्जुन एवं श्रीकृष्ण से पूछता है कि उसने कब उनलोगों के साथ दुर्व्यवहार किया या शत्रुता का कोई काम किया। वह पूछता है कि "मुझ निरपराध को शत्रु समझने का क्या कारण है। मैं अपने धर्म में तत्पर हूँ। प्रजा का उपकार नहीं करता फिर मुझे शत्रु मानने का कारण?"

बहरहाल जरासंध और भीम के बीच यह प्रसिद्ध द्वन्द्वयुद्ध कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर रातदिन लगातार तेरह दिनों तक चलता रहा। अन्त में जरासंध मारा गया। जरासंध का 'सौंदर्यवान' नामक रथ कृष्णार्जुन ने हस्तगत किया इसी रथ पर बैठकर इन्द्र ने निन्यानवे बार दानवों का संहार किया था। इस पर दो महारथी एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे। इन्द्र ने इसे वसु को दिया था, वसु ने बृहद्रथ को और वृहद्रथ ने जरासंध को।

मगध के पहले राजवंश का पहला प्रतापी नरेश जरासंध हुआ। चूंकि इसने अपने समय में श्रीकृष्ण से ही लोहा ले लिया था, श्रीकृष्ण जो हमारे वाङ्मय में 'भगवान' की हैसियत रखते हैं; कुशल नीतिज्ञ और प्रजापालक चरित्र बना है उनका; धर्म की ध्वजा उन्हीं के आचार-व्यवहार के इर्द-गिर्द लहराती रही है; देवाधिदेव भगवान विष्णु का अवतार माना गया है; अतः ऐसे व्यक्तित्व एवं चरित्र से दुश्मनी साध लेने वाले चरित्र की फजीहत तो होनी ही थी। सनातन धर्म, ब्राह्मण धर्म या पौराणिक धर्म की सारी व्याख्याएँ राम और कृष्ण की स्तुति में ही है, ऐसे में इनके ग्रन्थों में इनके विरुद्ध किसी की स्तुति तो नहीं ही होगी। इसी परम्परा में यह कामना की गई है कि सारी बीमारियाँ मगध को जाएँ। लेकिन मगध की धरती ने पूरी दुनिया में धर्म, दर्शन और मानवता के लाभ के लिए अच्छे विचार अपने यहाँ से ही सम्प्रेषित किया। मानवमुक्ति के दो बड़े अभियान, जैन एवं बौद्ध, यहीं से संचालित हुए। जरासंध तो प्रतिरोध का प्रतीक है। जैन एवं बौद्ध आंदोलन भी ब्राह्मण विचारधारा की जकड़बंदियों के विरुद्ध आमजन की मुक्ति का ही आख्यान रहा है। वर्चस्ववादी संस्कृतियों के विरोध में यहाँ से आवाजें बुलंद होती रही हैं।

रायचौधरी यहाँ के लोगों के मृदु स्वभाव एवं व्यवहार में लचीलेपन का जिक्र करते हैं। यह गुण एक

प्रमुख आधार बना मगध के उत्कर्ष का। राज्यों में विस्तार की आकांक्षा में परस्पर युद्ध हुए होंगे। लेकिन बड़े राज्य भी इसी क्रम में बने। आवागमन सुरक्षित हुआ। नगरीय जीवन का आविर्भाव हुआ। शिल्पों-कलाओं का विकास हुआ। सिक्कों के प्रचलन एवं व्यापारिक विकास ने आर्थिक क्रिया व्यापारों को निर्णायक स्तरों तक बढ़ा दिया इसी का परिणाम रहा कि हर्यकवंशी शासकों के नेतृत्व में मगध ने एक साम्राज्य के रूप में इतिहास में प्रतिष्ठा हासिल की।

कर्ण

–श्रीनारायण समीर

महारथी, महाधनुर्धर और महादानी कर्ण महाभारतकालीन भारत के महानायकों में से थे। वे तत्कालीन अंगदेश (वर्तमान भागलपुर जनपद) के राजा थे। भागलपुर में कर्ण का किला पुरातात्विक धरोहर के रूप में आज भी मौजूद है।

कर्ण एक दलित माँ-बाप के पराक्रमी बेटे थे। उनकी माता का नाम राधा और पिता का नाम अधिरथ था। अधिरथ हस्तिनापुर के राजा धृतराष्ट्र के यहाँ सारथी (रथ हांकने) का काम करते थे।

कर्ण जन्मजात तेजस्वी थे। उन्हें कवच-कुंडल का वरदान था। महाभारत के अनुसार वे अपने सीने में कवच और कानों में कुंडल धारण किए पैदा हुए थे। वे जैसे-जैसे बड़े हुए, उनके कवच-कुंडल भी बड़े होते गए। वरदान था कि कर्ण के शरीर में जबतक कवच-कुंडल रहेंगे, तब तक कोई उन्हें मार नहीं सकेगा। कर्ण के इस दिव्य रूप के कारण कहा जाता है कि वे वास्तव में वे कुंती के गर्भ से पैदा सूर्य के पुत्र थे।

इस कथा के अनुसार राजा पृथु की पुत्री पृथा (कुंती) थी। उनके राजभवन में एक बार दुर्वासा ऋषि का आगमन हुआ। कुंती ने ऋषि का बहुत आदर-सत्कार किया। प्रसन्न होकर ऋषि ने कुंती को एक मंत्र बताया, जिसके द्वारा वह किसी भी देवशक्ति को अपने पास बुला सकती थी। कुंती तब कुमारी कन्या थी। कुतूहलवश कुंती ने सूर्य का आह्वान किया और मंत्र की शक्ति से सूर्य कुंती के पास खींचे चले आए। दोनों के संसर्ग से कर्ण का कवच-कुंडल सहित जन्म हुआ। परंतु कुंती ने लोक-लाज के कारण अपने नवजात शिशु को अश्व नदी में प्रवाहित कर दिया। वह शिशु सारथि अधिरथ को नदी के किनारे मिला। अधिरथ के कोई संतान नहीं थी। इसलिए उन्होंने इस शिशु को अपनी पत्नी राधा को भेंट किया। इस सारथी (सूत) दंपति ने ही कर्ण का लालन-पालन किया। इसी से कर्ण के लिए 'सूतपुत्र' तथा 'राधेय' नामों का भी उल्लेख मिलता है।

कर्ण को शस्त्र विद्या की शिक्षा द्रोणाचार्य ने दी थी। परंतु, कर्ण चूँकि राजकुँवर नहीं थे, इसलिए द्रोणाचार्य ने उन्हें ब्रह्मास्त्र का ज्ञान नहीं सिखाया। ब्रह्मास्त्र तब शस्त्र विद्या की पराकाष्ठा मानी जाती थी। कर्ण का तेजस्वी मन ब्रह्मास्त्र का ज्ञान सीखे बिना कहाँ मानने वाला था। वे इसे सीखने उस समय के महाप्रतापी वीर परशुराम के पास गए। परशुराम उन दिनों संसार से विरक्त होकर महेंद्रगिरि पर्वत पर रहते थे। परशुराम का प्रण था कि "ब्राह्मण के अलावा दूसरी जाति के युवक को शस्त्रास्त्र की शिक्षा नहीं दूँगा।" किंतु, कर्ण का तेजोदीप्त शरीर देखकर वे प्रभावित हो गए और कर्ण को शस्त्रास्त्र का गूढ़-से-गूढ़ ज्ञान कराया। उन्होंने कर्ण को ब्रह्मास्त्र भी सिखाया। परंतु दीक्षांत से पहले ही परशुराम कर्ण की किसी भूल को अथवा उदग्र पराक्रम को सह नहीं पाए। उन्होंने कर्ण को ब्रह्मास्त्र का ज्ञान काम नहीं आने का शाप दे दिया।

सामंतकाल में महानता केवल राजघरानों तक सीमित मानी जाती थी। जबकि कर्ण किसी राजघराने के वारिस नहीं थे। इस कारण उस महाधनुर्धर को पग-पग पर अपमान का घूंट पीना पड़ा। किंतु कर्ण का पराक्रम कुंदन की भांति निरंतर निखरता गया। कथा है कि गुरु द्रोण के शिष्य कौरव और पांडव कुमारों की शिक्षा जब पूरी हो गई, तब उनके शस्त्रज्ञान का सार्वजनिक प्रदर्शन किया गया। इसमें अर्जुन को बिना किसी मुकाबले के श्रेष्ठ धनुर्धर घोषित कर दिया गया। कर्ण ने इसे चुनौती दी। किंतु सभासदों ने

न सिर्फ कर्ण की चुनौती अमान्य कर दी, बल्कि उन्हें अज्ञात कुलशील का बताकर अपमानित भी किया। इस प्रसंग में महाभारत का कर्ण वचन अपने जन्म पर गर्व करनेवालों के लिए करारा जवाब है। कर्ण वचन यूँ है-

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम,

दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।"

युवराज दुर्योधन से यह अन्याय देखा नहीं गया और दुर्योधन ने उसी सभा में कर्ण को अपना मुकुट पहनाकर अंगदेश का राजा घोषित कर दिया।

कृतज्ञ कर्ण इस घटना के बाद सदा के लिए दुर्योधन का ऋणी बन गया। कर्ण और अर्जुन के बीच वैर की नींव भी उसी समय पड़ गई। यह वैर भाव तब और गहरा गया, जब पांचालनरेश द्रुपद के यहाँ उनकी पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में देश-देश के राजा-महाराजा एकत्र हुए थे। स्वयंवर में अर्जुन के पहले कर्ण ने मत्स्यवेध किया था। किंतु द्रौपदी ने सूतपुत्र कर्ण से विवाह करना अस्वीकार कर दिया। फिर अर्जुन ने मत्स्यवेध किया और द्रौपदी ने राजकुमार अर्जुन का वरण कर लिया।

कर्ण महान धनुर्धर होने के साथ-साथ महा दानव्रती भी थे। उनका व्रत था कि "उनके यहाँ से कोई भी याचक कभी खाली हाथ नहीं लौटेगा।" उन्हें इस व्रत की रक्षा में जान तक गँवानी पड़ी। महाभारत में प्रसंग आता है कि कर्ण के शरीर में कवच और कुंडल जब तक रहते, उन्हें कोई मार नहीं पाता। कर्ण, दुर्योधन के अभिन्न मित्र और सहचर थे और जब वे ही नहीं मरते तो दुर्योधन कैसे मारा जाता? तब पांडवों को सत्ता कैसे मिलती? इसके लिए इंद्र ने छल रचा। उन्होंने कौरव-पांडव के बीच संभावित युद्ध में अपने प्रिय अर्जुन की जीत के लिए याचक ब्राह्मण का वेष धारण किया और कर्ण के सामने उपस्थित होकर उनसे कवच-कुंडल दान में माँगा। दानी कर्ण ने इस रहस्य को समझते हुए भी इंद्र को कवच-कुंडल के रूप में अपनी जीत और जीवन का दान कर दिया।

महामानव कर्ण के जीवनादर्श बड़े ऊँचे थे। वे त्याग और मैत्री को बड़ा महत्त्व देते थे। महाभारत युद्ध के पहले कृष्ण ने उन्हें दुर्योधन के पाले से युधिष्ठिर के पाले में लाने के लिए एक-से-बढ़कर एक प्रलोभन दिए। उन्हें पांडवों का अग्रज बताया और सम्राट बनाने का वादा किया। परंतु, कर्ण तो पक्षीराज गरूड़ के समान थे। उन्हें मित्र दुर्योधन की हित चिंता के सिवा कुछ नहीं चाहिए था।

महारथी कर्ण के जीवन का एक ही लक्ष्य था- दुर्योधन की ताजपोशी। इसके लिए पांडवों का वध जरूरी था। और उन्होंने ऐसा करने का संकल्प भी लिया हुआ था। किंतु उनकी दानशीलता उनके इस संकल्प पर भी भारी पड़ी। महाभारत युद्ध शुरू होने से ठीक एक दिन पहले कुंती उनसे मिलीं और उनसे दुर्योधन को त्यागने तथा पांडव पक्ष का नेतृत्व करने का दान माँगा। इस पर कर्ण ने पहले तो कुंती की काफी खिंचाई की फिर द्रवित होकर अर्जुन को छोड़ शेष चार भाइयों को नहीं मारने का वचन दिया।

पहले कवच-कुंडल का दान और फिर युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव को अभयदान- वस्तुतः कर्ण के इन दो दानों से महाभारत युद्ध की दिशा बदल गई। कर्ण इसे समझते थे। फिर भी उन्होंने अपनी दानशीलता पर आँच नहीं आने दी। वे ऐसे ज्ञानी एवं पराक्रमी वीर थे कि कृष्ण के वास्तविक स्वरूप से परिचित होते हुए भी उनके प्रतिपक्ष में अंत तक डटे रहे। उनके साथ अपने-पराए सबों ने छल किया। उन्हें निरंतर कमजोर किया जाता रहा। रणभूमि में उनके सारथी शल्य थे और वे भी कर्ण

के प्रति निष्ठावान नहीं थे। शल्य युधिष्ठिर के माया थे और पांडवों से मिले हुए थे। कृष्ण ने शल्य को सिखला रखा था कि रणक्षेत्र में वे कर्ण का रथ हांकते समय अपने दुर्वचनों से उन्हें निरंतर हतोत्साहित करते रहें, जिससे कर्ण का तेज और रण-कौशल मंद पड़ जाए। फिर भी वे अपने पराक्रम के बल पर अंत-अंत तक अपराजेय रहे और दुर्योधन की आशा और अरमान के केंद्र बने रहे।

महाभारत के युद्ध में पहले भीष्म पितामह और फिर द्रोणाचार्य के नेतृत्व में कौरवी सेना की पांडव सेना से लड़ाई हुई। अर्जुन के सारथी कृष्ण थे। कृष्ण अर्जुन को भीषण आक्रमण वाले रण क्षेत्र से निरंतर दूर रखाते थे। भीष्म और द्रोण के मारे जाने के बाद कर्ण और कौरव सेना के सेनापति बनाए गए। कर्ण के नेतृत्व में तीन दिनों तक भीषण युद्ध हुआ। हजारों योद्धाओं के रक्त से रणभूमि रंजित हो उठी। कर्ण के पराक्रम, तेज और युद्ध कौशल से पांडव सेना त्राहि-त्राहि करने लगी। कर्ण ने युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव को बारी-बारी से अपने घेरे में पकड़ा। किंतु कुंती को दिए वचन के कारण चारों को जीवित छोड़ दिया।

उधर कृष्ण की तमाम चालों और दुरभिसंधियों के बावजूद अर्जुन के लिए कर्ण को मार पाना संभव नहीं हो रहा था। सहसा कर्ण के रथ का पहिया कीचड़ में धंस गया। निहत्थे कर्ण जब पहिए को निकालने में लगे हुए थे तभी कृष्ण के उकसावे पर अर्जुन ने युद्ध नियमों को ताक पर रखाकर उन्हें बाणों से वेध डाला। इस प्रकार से कर्ण के रुप में एक तेजोमय, पराक्रमी और सत्यनिष्ठ वीर विक्रम का अंत हुआ।

निस्संदेह कर्ण महामानव थे। वे जीवन भर अपने सत्कर्मों से बैरी को भी कायल बनाते रहे। उन्होंने विपरीत परिस्थितियों में युद्ध किया। उनके साथ निरंतर छल हुआ। छल से ही अर्जुन ने उनका वध किया। दुर्योधन पक्ष के रथी-महारथी भी उनकी वीरता और शौर्य से जलते थे और अपमान का बर्ताव करते थे। फिर भी कर्ण अपने कर्तव्य के प्रति अडिग रहे। उनके लिए दुर्योधन की बाँह गहना किसी भी प्रलोभन और अपमान से मूल्यवान था।

महाभारत गवाह है कि एक दलित परिवेश से उठकर राजमहल तक पहुँचने वाले पराक्रमी अंगराज कर्ण क्षेत्रीय सीमाओं में बँधकर रहनेवाले वीर नहीं थे। उनका चरित्र अत्यंत पुण्यमय और प्रोज्ज्वल था। उनकी दृष्टि व्यापक थी। वे जीवन भर सशक्त, सुदृढ़ और विराट भारत के लिए संघर्षरत रहे। वे व्यक्ति जीवन को राष्ट्र-जीवन से अलग नहीं मानते थे। न्याय और अवसर की समानता को वे उत्थान के लिए आवश्यक मानते थे। वे दलितों के अवलंब और स्त्रियों के हितैषी थे। राष्ट्रकवि दिनकर की सुप्रसिद्ध काव्यकृति रश्मिरथी में कृष्ण ने कर्ण का चरित्रांकन करते हुए ठीक ही कहा है-

''हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
दलित तारक, समुद्धारक त्रिया का,
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर! कर्ण का अद्‌भुत हृदय था।''

कहना न होगा कि कर्ण का पूरा जीवन अपमान और अन्याय के विरुद्ध सम्मान और न्याय की प्रतिष्ठा का जीवन था। वे प्रचलित कुलीन विश्वासों को चुनौती देनेवाले महामानव थे। परिश्रम, पराक्रम और सदाचरण में उन्हें अगाध विश्वास था। अंगराज होकर भी कर्ण संपूर्ण भारत के थे। बिहार को अपने इस महान बेटे पर सर्वदा अभिमान रहेगा।

बुद्धकालीन विभिन्न दार्शनिक विचार

-डॉ० रवीन्द्र कुमार पाठक

सिद्धार्थ गौतम को मगध में आकर ही साधना करनी पड़ी। तत्पश्चात् वे बुद्ध बने। वाराणसी जाकर सारनाथ में उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, अर्थात एक नए विचार पंथ का श्रीगणेश किया। फिर भी उन्हें मगध में वापस आना पड़ा। यहाँ बोधगया से नालंदा-राजगीर की भूमि पर उन्होंने अनेक उपदेश दिए और त्रिपिटक का पहला संकलन राजगीर में ही पहली बौद्ध संगीति में हुआ। इतना ही नहीं महायान का प्रारंभ भी राजगीर के गृध्रकूट पर्वत पर ही हुआ।

यह सब कुछ निराधार नहीं हुआ और न ही व्यर्थ में बुद्ध ने मगध को इतना अधिक महत्त्व दिया। वस्तुत: बुद्ध के समय भी मगध अनेक विचार-धाराओं एवं साधना विधियों का केंद्र बना हुआ था और उन सबों की समाज में स्वीकृति भी थी। कठोर तपस्या का तो सर्वाधिक आकर्षण था। बुद्ध का भाई देवदत्त बुद्ध के मध्यम मार्ग को सुविधावादी एवं भ्रष्ट मानता था। भले ही उसने बुद्ध की हत्या का षडयंत्र किया हो, किंतु वह कठोर तपस्या का पक्षधर था।

बुद्ध को जिन मतवादों एवं मार्गों का खंडन या विरोध करना पड़ा उनका उल्लेख पालि त्रिपिटक में जहाँ-तहाँ मिलता है फिर भी ब्रह्मजाल सुत्त में उनकी संख्या चौंसठ बताई गई हैं। उन्हें विपक्षी होने के कारण मिथ्या दृष्टि का स्थान कहा गया है। इन चौंसठ मतों के साथ अनेक लक्षण विधाएँ भी समाज में सम्मानित थीं। बुद्ध ने इन सबों से भिक्षुओं को अलग रहने का उपदेश दिया, क्योंकि ये मन में उलझन एवं समाधि तथा प्रज्ञा के मार्ग में अंतराय, अर्थात विघ्नों का काम करती हैं।

बहुविध विचारों एवं विधाओं के आश्रय-स्थान मगध में छ: विचारधाराएँ पूर्णत: प्रतिष्ठित थीं। उनके सम्मानित तैथिक (तीर्थंकर) थे एवं उनके अनुयायियों का अपना संगठन भी था, जिनकी समय-समय पर सभाएँ होती थीं। इन सभाओं में राजा तथा सामंत प्राय: चर्चा-विचार किया करते थे। इसी प्रकार अन्य विधाओं के भी आचार्य थे। प्रमुख छ: तीर्थंकरों के नाम निम्नांकित हैं- (1) **पूरण कस्सप**, (2) **मक्खालि गोसाल**, (3) **निगंठनाथ पुत्त**, (4) **अजितकेश कंबल**, (5) **प्रकुधकच्चायन**, (6) **सञ्जयबेलट्ठपुत्त**। इनका वर्णन दीघ निकाय के सामञ्जफलसुत्त में है। निगंठनाथपुत्त को जैन परंपरा के 24वें तीर्थंकर महावीर के रूप में भी विद्वानों ने पहचान की है। प्रारंभ में जैन एवं बौद्ध दोनों ही ग्रंथ लिखने के विरोधी थे, किंतु बाद में दोनों ही परंपराओं ने अनेक ग्रंथ लिखे। ग्रंथों का विरोध एवं बाद में ग्रंथों की रचना का सिलसिला बुद्ध से कबीर तक चलता ही रहा।

1. **पूरण कस्सप :** (पूर्ण काश्यप) के अनुसार पाप या पुण्य जैसी कोई चीज है ही नहीं। न हत्या में पाप है न गंगास्नान में पुण्य। पाप या पुण्य मनुष्य के अपने विचार हैं न कि कोई वास्तविकता। एक स्तर पर इस विचार का समावेश अन्य प्रचलित उन मतों में भी है जो मोक्ष या निर्वाण की अभिलाषा रखते हैं। मोक्ष या निर्वाण चूँकि पाप और पुण्य दोनों से परे की अवस्था है, अत: यह कहना कि वस्तुत: पाप या पुण्य कुछ भी नहीं है कोई आश्चर्यजनक नहीं है, किंतु स्वर्ग की कामना रखने वाले लोगों के लिए प्रतिकूल जरूर लग सकता है।

2. **मक्खालिगोसाल :** मक्खालिगोसाल तो दु:ख की उत्पति में कार्यकारण संबंध की भूमिका ही नहीं मानते। दु:ख एवं सुख प्राकृतिक रूप से होते ही हैं। कोई कार्य किसी दु:ख का कारण नहीं है। इसी

तरह दु:ख की निवृत्ति का भी कोई उपाय नहीं किया जा सकता। इस प्रकृति में दु:ख-सुख लगा रहता है। लोग उत्पन्न होते, मरते, सुख-दु:ख भोगते रहते हैं।

इस मत के साथ ही मक्खलि गोसाल की इस सृष्टि के संबंध में तत्कालीन वैदिक एव श्रमण (जैन) धारणा से भिन्न धारणा है। प्रकृति की स्वेच्छा से सभी जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेते सुख-दु:ख भोगते मरते एवं जन्म-मृत्यु की यात्रा के अंत में दु:खों से मुक्त हो जाएँगे। चाहे वे ज्ञानी हों या मूर्ख। विद्या, पुरुषार्थ, प्रयास, पराक्रम इत्यादि की कोई सार्थकता नहीं है।

बाद में सतमत एवं भक्तिमार्ग में इस अवधारणा का समावेश हो गया। प्रसिद्ध उक्ति है- ''पराधीन मरकट की नाँईं, सबहि नचावत राम गुसाईं।''

3. अजितकेशकंबल : इस आचार्य की तुलना चार्वाक से की जा सकती है। इस मत में भी स्वर्ग-नरक, सुकर्म-दुष्कर्म, परलोक, संस्कार, पाप-पुण्य जैसी बातों का स्पष्ट खंडन किया गया है। जीवन की यात्रा इस संसार में चार महाभूतों से शुरू होती है। इनसे बनने वाला शरीर मरने के बाद इन्हीं महाभूतों में विलीन होता है। अत: यज्ञ, दान, इष्ट, आहुति आदि बातों की कोई सार्थकता नहीं है। मूर्ख या विद्धान सभी को मरना ही है। परलोक और आस्तिकवाद झूठा है। मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं होता।

4. पकुध कच्चायन : इस आचार्य का मत भी पूर्व की भांति ही है। इनकी दृष्टि से संसार में चार की जगह सात मूल सामग्री हैं जिन्हें इन्होंने सात काया कहा है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश और सुख तथा दु:ख। ये सभी अपरिणामी तथा नित्य स्वभाव के हैं। इनका कुछ भी परिणाम नहीं है। यदि कोई व्यक्ति तलवार से किसी को काट भी डाले, तो इससे हत्या जैसी कोई बात नहीं है। इस प्रक्रिया में सात पदार्थों की काया के विवर (खाली भाग) में सात सामग्री वाली तलवार का केवल प्रवेश ही तो हुआ। इसे कोई नवीन घटना मानना बेकार है।

5. निगण्ठनाथपुत्त : विद्वानों से चातुयाम संवर चार प्रकार से संयमित होकर अपने मन एवं चेतना को समेटने की साधना के आधार पर अन्य आधारों पर निगण्ठनाथपुत्त को तीर्थंकर महावीर माना है।

महावीर अपनी तपस्या के लिए प्रख्यात हैं। आज भी जैन मुनि और उनमें भी दिगंबर जैन मुनि कठिन तपस्या करते हैं। सभी प्रकार के जल से मुक्त होना, स्नान, अर्ध्य आदि जल को उपयोग न करना, सभी प्रकार के जल से युक्त होना, अर्थात वर्षा, शीत, ओला आदि का सहन खुले आसमान में करना, इस प्रकार के सभी प्रकार के जल में युक्त एवं उन्हें बर्दाश्त करने की क्षमता रखना इस प्रकार की तपस्या निगष्ठनाथपुत करते थे।

6. सञ्जयवेलट्ठपुत्त : सञ्जयवेलट्ठपुत्त भी जैन संप्रदाय के आचार्य लगते हैं। उपर्युक्त सारे प्रश्नों के संदर्भ में उनका मत था कि जन्म, मृत्यु, लोक, परलोक, सुख-दुख का भोग, सत्ता, जीवों का जन्म, सुकर्म, कुकर्म का विपाक फल, मरणोत्तर तथागत का अस्तित्व इन सभी संदर्भों में सञ्जयवेलट्ठपुत्त का मत है कि ऐसा है भी, नहीं भी है, नहीं है या ऐसा है भी और नहीं भी है। इस वक्तव्य प्रणाली को भारतीय परंपरा में त्रिकोटि एवं चतुष्कोटि विनश्चय की प्रणाली कहा जाता है।

इन सभी दृष्टियों को सांदर्भिक मान लेने पर जैनदर्शन का साद्‌वाद विकसित होता है। पूर्वोक्त प्रमुख सात आचार्यों के साथ 64 मिथ्या दृष्टियों की चर्चा ब्रह्मजाल सुत्त में की गई है। उनके नाम संक्षेप में इस प्रकार गिनाए जा सकते हैं- सब कुछ शाश्वत है, शाश्वतवाद, विवर्तवाद, संवर्तविवर्त के रूप में

संसार की स्थिति, संसार को नित्यता-अनित्यता का मिला-जुला रूप मानना, स्मृति के उत्पन्न विनष्ट होने का मत। मन के प्रदूषित एवं निर्मल होने की मान्यता, आरंभवाद, एक का विनाश एवं एक की उत्पति, अनंतता का मत अनंत लोक में विहार करने वाला संज्ञा संपन्न पुरुष का मत, सान्त एवं अनंत दोनों के समन्वय का मत, सांसारिक पदार्थों में ही मुक्ति का मत, दृष्टि-जाल का मत आदि।

इन दार्शनिक मतों के केवल नाम गिनाये गए हैं, क्योंकि इनका संक्षिप्त वर्णन भी अत्यंत विस्तृत हो जाएगा। इस प्रकार हम पाते हैं कि बुद्ध के समय मगध एवं इसके आसपास के जनपदों में अनेक मत प्रचलित थे। ब्रह्मजाल सुत्त बुद्ध के आरंभिक उपदेशों में से है। इसका व्याख्यान भगवान बुद्ध ने राजगृह एवं नालंदा के बीच में किया था। वहीं के श्रोता अधिक थे। अत: यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि बुद्धकालीन मगध में अनेक दार्शनिक मतों के साथ अनेक प्रकार की साधना शैलियाँ विकसित हो रही थीं।

महावीर स्वामी

—नरेन

महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे, वरन् इस धर्म के अंतिम तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध तीर्थंकर थे। उन्होंने इस धर्म में अपेक्षित सुधार करके इसका व्यापक स्तर पर प्रचार किया।

उत्तरी बिहार में प्रसिद्ध वज्जिसंघ था जिसकी राजधानी वैशाली थी। इस संघ में 8 गणराज्य सम्मिलित थे जिसमें एक राज्य कुण्डग्राम के ज्ञातृक क्षत्रियों का था। इस राज्य के प्रमुख सिद्धार्थ का विवाह वैशाली की लिच्छवि राजकुमारी त्रिशला से हुआ, जो लिच्छवि गणराज्य के प्रमुख चेटक की बहन थीं। सिद्धार्थ के छोटे पुत्र का नाम वर्धमान था। जैन परंपरा के अनुसार वर्धमान पहले ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा के गर्भ में आए। परंतु अभी तक सारे जैन तीर्थंकर क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए इन्द्र ने वर्धमान को देवानंदा के गर्भ से हटाकर त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया। लगता है ब्राह्मण वर्ण की अपेक्षा क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर बल देने के लिए यह कथा निर्मित हुई। वर्धमान के जन्म पर देवताओं की भविष्यवाणी हुई कि ये भविष्य में या तो चक्रवर्ती राजा होंगे या परम ज्ञानी भिक्षु।

स्वाभाविक रूप से वर्धमान का प्रारंभिक जीवन सुख-सुविधापूर्ण था। राजकुमार होने के कारण उन्हें अनेक विद्याओं तथा कलाओं की शिक्षा दी गई। बड़े होने पर उनका विवाह यशोदा नामक एक राजकुमारी से हुआ और उससे उन्हें एक पुत्री पैदा हुई। जब वर्धमान 30 वर्ष के हुए, उनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई और वर्धमान का बड़ा भाई नंदिवर्धन राजा हुआ। वर्धमान प्रारंभ से ही चिंतनशील स्वभाव के थे। अब उनमें त्याग की भावना पूर्णरूप से जागृत हो चुकी थी। अंततः उन्होंने अपने बड़े भाई से आज्ञा लेकर घर त्याग दिया और निर्ग्रंथ भिक्षु का जीवन धारण कर तपस्या में लीन हुए। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की। एक वर्ष एक महीने के बाद वस्त्र त्याग कर नग्न अवस्था में उन्होंने तप किया। भोजन हाथ पर ही ग्रहण करने लगे। 12 वर्ष तक शरीर की चिंता न करके वे हर प्रकार का कष्ट सहते रहे। उन्होंने सभी प्रकार के बंधन उतार फेंके। आकाश की भांति किसी आश्रय की उन्हें आवश्यकता नहीं रह गई। वे वायु की तरह निर्बाध हो गए। शरदऋतु के जल की भांति उनका हृदय शुद्ध हो गया। कमल के पत्ते के समान वे निर्लिप्त हो गए। पक्षी की तरह वे स्वतंत्र हो गए। आचारांगसूत्र से भी वर्धमान के लगभग इसी प्रकार के तप का वर्णन प्राप्त होता है। बारह वर्ष की घोर तपस्या के बाद जम्भियगाम के समीप ऋजुपालिक सरिता के तट पर महावीर को 'केवल' (सर्वोच्च) ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी कारण उन्हें 'केवलिन' की उपाधि मिली। अपनी समस्त इंद्रियों को जीतने के कारण वे 'जिन' कहलाए। अपरिमित पराक्रम दिखाने के कारण उनका नाम 'महावीर' पड़ा। ज्ञान-प्राप्ति के बाद आजीवन उन्होंने धर्म-प्रचार किया। उनकी मृत्यु पावापुरी में ईसा पूर्व 468 में हुई जो बिहार शरीफ और नालंदा के बीच अवस्थित है।

राजपरिवारों से संबंधित होने के कारण उन्हें धर्म प्रचार में शासक वर्ग से पर्याप्त सहायता मिली। महावीर की माता त्रिशला, लिच्छवि प्रमुख चेटक की बहन थीं। चेटक का अनेक राजवंशों से वैवाहिक तथा मैत्रीपूर्ण संबंध था। उनके अनेक प्रशंसक तथा अनुयायी बने। आवश्यक चूर्णि के अनुसार चेटक स्वयं महावीर का भक्त था। अवन्ति का राजा प्रद्योत तथा उसकी 8 रानियों में भी महावीर के प्रति भक्तिभाव था। 'उत्तराध्ययन सूत्र' से ज्ञात होता है कि सेणिय (बिम्बिसार) तथा 'अंतगड़दसाओं' के अनुसार उसकी 10 रानियों की आस्था जैनधर्म में थी। 'ओबाइय सूत्र' अजातशत्रु को महावीर का भक्त

बताता है। कौशांबी नरेश की रानी मृगावती तथा सिंधु-सौवीर के राजा उदयन भी जैनधर्म को मानते थे। वज्जि संघ तथा मल्ल गणराज्य में महावीर का बड़ा सम्मान था, किंतु इस संबंध में यह आवश्यक है कि इनमें से अनेक शासकों ने बौद्धधर्म को भी यथेष्ट सम्मान दिया।

जैनधर्म के सिद्धांत

जैनधर्म में संसार को दु:खमूलक माना गया है। मनुष्य जरा (वृद्धावस्था) तथा मृत्यु से ग्रस्त है। व्यक्ति को सांसारिक जीवन की तृष्णाएँ घेरे रहती हैं। संपत्ति संचय के साथ ही मनुष्य की कामना रूपी पिपासा बढ़ती जाती है जिसका कोई अंत नहीं है। काम-भोग विष के समान हैं जो अंतत: दु:ख को ही उत्पन्न करते हैं। संसार-त्याग तथा संन्यास ही व्यक्ति को सच्चे सुख की ओर ले जा सकता है। जैनधर्म के अनुसार सृष्टिकर्त्ता ईश्वर नहीं है। किंतु संसार को एक वास्तविक तथ्य माना गया है जो अनादिकाल से विद्यमान है। जो वस्तु है उसका न होना (अभाव) संभव नहीं। संसार के सभी प्राणी अपने-अपने संचित कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं और कर्मफल भोगते हैं। कर्म-फल ही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। जैन धर्म में भी सांसारिक तृष्णा-बंधन से मुक्ति को 'निर्वाण' कहा गया है। कर्म-फल से छुटकारा पाकर ही व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि पूर्वजन्म के संचित कर्म को समाप्त किया जाए और वर्तमान जीवन में कर्म-फल के संग्रह से व्यक्ति विमुख हो। कर्म-फल से छुटकारा पाने के लिए त्रिरत्न का अनुशीलन आवश्यक है।

जैनधर्म के त्रिरत्न हैं- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण। सत् में विश्वास को ही सम्यक् दर्शन कहा गया है। सद्रूप का शंकाविहीन तथा वास्तविक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। सांसारिक विषयों से उत्पन्न सुख-दु:ख के प्रति समभाव सम्यक् आचरण है। त्रिरत्न के अनुशीलन में आचरण पर अत्यधिक बल दिया गया है। इस संबंध में निम्नलिखित पाँच महाव्रतों के पालन का विधान है-

1. **अहिंसा :** मन, वचन कर्म से किसी के प्रति असंयत व्यवहार हिंसा है। स्पष्ट है कि जैनधर्म में अहिंसा-संबंधी सिद्धांत अत्यंत कठोर है, यहाँ तक कि मन में किसी को मारने तथा हानि पहुँचाने का विचार उत्पन्न होना भी हिंसा है। पैदल चलने या भोजन करने में भी किसी कीट-पतंग की हिंसा नहीं होनी चाहिए। सच तो यह है कि जैनियों का कठोर अहिंसावादी सिद्धांत अव्यवहारिकता की सीमा तक पहुँच जाता है।

2. **सत्य वचन :** मनुष्य को सदा सत्य तथा मधुर बोलना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि बिना सोचे-समझे न बोलें। क्रोध और मोह जागृत होने पर मौन रहना चाहिए। भय में या हास्य विनोद में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।

3. **अस्तेय :** बिना अनुमति के किसी की वस्तु न तो ग्रहण करना अपेक्षित है और न उसकी इच्छा ही करनी चाहिए। इस संबंध में बिना आज्ञा किसी के घर में जाना, निवास करना या किसी वस्तु को ग्रहण करना वर्जित है।

4. **ब्रह्मचर्य :** पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन भिक्षुओं के लिए अनिवार्य था। इसके लिए किसी नारी से वार्तालाप, उसे देखना, उसे संसर्ग का ध्यान करने की भी मनाही है।

5. **अपरिग्रह :** भिक्षुओं के लिए किसी प्रकार के संग्रह करने की प्रवृत्ति वर्जित है। संग्रह से आसक्ति की भावना बढ़ती है। धन-धान्य, वस्त्र, आभूषण सभी का त्याग अपेक्षित है।

गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले जैनियों के लिए भी इन्हीं व्रतों की व्यवस्था है किंतु इनकी कठोरता

में पर्याप्त कमी की गई है और इसीलिए इन्हें अनुव्रत कहा गया है।

काया-कलेश

जैनधर्म में तप पर अत्यधिक बल दिया गया है। आत्मा को घेरने वाले भौतिक तत्त्वों का दमन करने के लिए काया-कलेश भी आवश्यक है। महावीर स्वामी ने भी कठोर काया-कलेश से ज्ञान प्राप्त किया था। जैनधर्म में काया-कलेश के अंतर्गत उपवास द्वारा शरीर के अंत (आत्महत्या) का भी विधान है। जैन अनुश्रुति के अनुसार मौर्य-वंश के प्रसिद्ध संस्थापक चंद्रगुप्त ने मैसूर के श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर इसी प्रकार अपनी मृत्यु का वरण किया था।

पार्श्वनाथ तथा महावीर की शिक्षाओं में अंतर

पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा 'बहिद्धादाणओ वेरमण' के चतुर्याम धर्म की व्यवस्था की थी। महावीर ने इसमें पंचम व्रत ब्रह्मचर्य की वृद्धि की। साथ ही पार्श्वनाथ वस्त्र धारण के विरुद्ध नहीं थे। किंतु, महावीर स्वामी ने सांसारिकता से पूर्णरूपेण अनासक्ति के लिए नग्नता को आवश्यक माना। नग्नता से काया-क्लेश तथा अपरिग्रह को प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही लज्जा आदि अनेक सांसारिक मान्यताओं के भ्रम से भिक्षु मुक्त हो जाता है। आगे चलकर वस्त्र धारण करने तथा निर्वस्त्रता के आधार पर जैनधर्म श्वेतांबर तथा दिगंबर दो संप्रदायों में विभक्त हो गया।

जैनधर्म

जैनधर्म में ईश्वर की मान्यता नहीं है। संसार है तथा वास्तविक है, किंतु इसकी सृष्टि का कारण ईश्वर नहीं है। यह संसार अनादि काल से विद्यमान है और इसका अस्तित्व शाश्वत है। यह संसार 6 द्रव्यों- जीव, पुद्गल (भौतिक तत्त्व), धर्म, अधर्म, आकाश और काल से निर्मित है। ये द्रव्य विनाशरहित तथा शाश्वत हैं। हमें जो विनाश दीखता है वह मात्र इन द्रव्यों के परिवर्तन हैं। इसी कारण यह संसार भी नित्य, शाश्वत तथा परिवर्तनशील है। इन द्रव्यों के भाँति-भाँति के संगठन-विघटन से विभिन्न वस्तुओं का स्वरूप अस्तित्व में आता है तथा उनका रूप परिवर्तित होता है।

इस संसार का आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी असीम नहीं है। यह आत्मा संसार की सभी वस्तुओं में है। जीव-जंतु, पेड़-पौधों तथा ईंट-पत्थर में भी आत्मा निहित है। प्रत्येक जीव में दो तत्त्व सदैव विद्यमान रहते हैं- एक आत्मा और दूसरा इसे घेरने वाले भौतिक तत्त्व। जीव का परम लक्ष्य आत्मा को भौतिक तत्त्व से मुक्त करना है जो जीवन में विकार तथा भ्रम उत्पन्न करता है। आत्मा से भौतिक तत्त्व के अलग होने पर ही निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होना संभव है। जीव में आत्मिक तत्त्व ही सत् है। इससे आवृत्त भौतिक तत्त्व असत् है जो सत् के ज्ञान को अवरुद्ध करता है। किंतु जैन दर्शन में जैसे जीव भिन्न-भिन्न होते हैं वैसे ही उसमें विद्यमान आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं।

जैनधर्म में अनेक प्रकार के ज्ञान को परिभाषित किया गया है। इंद्रिय जनित ज्ञान को 'मति', श्रवण-ज्ञान को 'श्रुति', दिव्य ज्ञान को 'अवधि' तथा अन्य व्यक्ति के मन-मस्तिष्क की बात जान लेने को 'मनः पर्याय' कहा गया है। इनके अतिरिक्त सर्वश्रेष्ठ तथा पूर्णज्ञान को 'केवल' कहा जाता है तो निर्ग्रंथों तथा जिनेन्द्रियों को ही प्राप्त होता है। जैन दर्शन में ज्ञान के 3 स्त्रोत माने गए हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा तीर्थकरों के वचन। ज्ञान-संबंधी जैन सिद्धाँत की अपनी विशिष्टता है। इसके अनुसार दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण हर ज्ञान 7 विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया जा सकता है: (1) है, (2) नहीं है, (3) है और नहीं है, (4) कहा नहीं जा सकता, (5) है किंतु कहा नहीं जा सकता,

(6) नहीं है और कहा नहीं जा सकता, और (7) है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता। इस सप्तभंगी ज्ञान को स्याद्वाद तथा अनेकांतवाद भी कहते हैं।

जैनधर्म में निर्वाण जीव का अंतिम लक्ष्य है। कर्म-फल का नाश तथा आत्मा से भौतिक तत्त्व को हटाने से निर्वाण संभव है। जैनधर्म में नैतिकता तथा आचरण पर बड़ा बल दिया गया है। इसके लिए मन में विकार उत्पन्न करनेवाली प्रवृतियों का दमन आवश्यक है। उत्तराध्यायन सूत्र के अनुसार ''जो न अभिमानी है और न दीनवृत्ति वाला है, जिसका पूजा-प्रशंसा में उन्नत भाव नहीं है और न निंदा में अवनत भाव है, वह ऋजु भाव को प्राप्त संयमी महर्षि, पापों से विरत होकर, निर्वाण मार्ग को प्राप्त करता है।''

जैनसंघ

जैनसंघ महावीर स्वामी के पहले स्थापित था। इन्होंने पावापुरी में 11 ब्राह्मणों को अपने धर्म में दीक्षित किया जो उनके सर्वप्रथम अनुयायी थे। महावीर ने अपने सारे अनुयायियों को 11 गणों में विभक्त किया और प्रत्येक गण (समूह) का गणधर (प्रधान) इन्हीं 11 ब्राह्मणों में से एक-एक को बनाया। सभी गणधर अपने समूह के साथ महावीर स्वामी के नेतृत्व में धर्मप्रचार में संलग्न हुए। जैनसंघ के सदस्य 4 वर्गों में विभक्त थे: प्रथम भिक्षु, दूसरे भिक्षुणी, तीसरे श्रावक तथा चौथे श्राविका। इनमें भिक्षु तथा भिक्षुणी तो संन्यासी होते थे, किंतु श्रावक तथा श्राविका गृहस्थ-जीवन बिताते थे। जैन संघ सिद्धाँततः सभी जातियों के लिए खुला था। महावीर स्वामी ने स्त्रियों को भी पुरुषों के समान संघ में पूर्ण अधिकार देना स्वीकार किया। मगर व्यवहार में संघ प्रवेश का लाभ उच्च वर्णों के सदस्यों को ही अधिक प्राप्त हुआ।

विम्बिसार

–डॉú दीपक कुमार राय

हमारा इतिहास एकदम से 'अतीत' नहीं हो जाता, और न ही अतीत का सबकुछ हमारा इतिहास ही बन जाता है। आज हम जैसे हैं–वैसे ही क्यों हुए। हम किसी और तरीके से होते तो क्या और कैसे होते? इस तरह के सवालात यदि आज हमारी चेतना से टकराते हैं तो हल क्या है। आज से लगभग ढाई हजार साल पहले बुद्ध के समय में कई जनपद थे और राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली, उन जनपदों की भी और तत्कालीन उत्तर भारत की भी, बहुलांश में राजनीतिक हकीकत थी। जन, जनपद एवं महाजनपदों तक की निर्विकल्प यात्रा में सिर्फ मगध ही 'साम्राज्य' बन सकने में सफल कैसे हो सका यह जानना दिलचस्प है।

मगध साम्राज्य के उत्कर्ष और विकास की गाथा हर्यक वंश और शिशुनागवंश के उत्थान और पतन के रूप में बेहतर समझी जा सकती है, हालांकि पुराण और महाकाव्य बार्हद्रथवंशी जरासंध का उल्लेख मगध के महान साम्राज्यवादी शासकों में सबसे पहले करते हैं। लेकिन यह भी सही है कि यह हर्यकवंशी नरेश विम्बिसार ही था जिसके नेतृत्व में मगध ने एक 'साम्राज्य' की हैसियत हासिल की। प्रखर पौरुष, कुशल राजनय एवं असीम महत्त्वाकांक्षा के बल पर विम्बिसार ने इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान हासिल किया। इसके पिता का नाम 'भट्टिय' अभिज्ञात होता है। पुराण उसका नाम हेमजित क्षेत्रोजा या क्षत्रौजा बताते हैं। तिब्बती साक्ष्य 'महापद्म' अभिहित करते हैं। सम्भवत: यह सामंत रहा होगा और हो सकता है कि विम्बिसार का नाम श्रेणिक या 'सेनिय' इसी आधार पर पड़ा होगा। डॉ० भण्डारकर यह प्रस्तावित करते हैं कि विम्बिसार ही स्वयं शुरू में एक सामंत रहा होगा, तथा वज्जियों को परास्त कर देने के बाद एक नये राजवंश का संस्थापक बन बैठा होगा। लेकिन महावंश से अभिज्ञात होता है कि विम्बिसार को 'राज्य' उसके पिता द्वारा प्रदत्त था और उसकी आयु उस समय मात्र 15 वर्ष की थी। सम्भवत: 543 या 547 ई० पू० हर्यक वंश की नींव पड़ी थी।

शुरूआती दौर में इसकी राजधानी गिरिव्रज थी जिसे कुशाग्रपुर के नाम से भी जाना जाता था। परन्तु इसकी भौगोलिक स्थिति उतनी मुफीद नहीं थी। उत्तर में स्थित वज्जिसंघ के आक्रमणों की जद में यह हमेशा ही रहा करता था। वज्जियों के आक्रमणों के फलस्वरूप इसमें एक बार आग भी लगी थी और इसका बहुलांश क्षतिग्रस्त हुआ था। फलत: विम्बिसार को एक सुरक्षित क्षेत्र की तलाश थी जहाँ वह अपनी राजधानी बसा सके। और उसी गिरिव्रज के थोड़ा उत्तर आकर उसने एक नयी और अपेक्षाकृत सुरक्षित राजधानी बसाई जिसके भग्नावशेष आज भी 'राजगृह' नाम से ख्यात हैं। इसका उल्लेख ह्वेनसांग ने भी किया है। परंतु फाह्यान ने भारत में राजधानी परिवर्तन के इस प्राचीनतम साक्ष्य के साथ अजातशत्रु का नाम जोड़ा है।

बहरहाल इतना तय है कि विम्बिसार एक रण–कुशल योद्धा था; अपने शासन काल में उसने अनेक युद्ध किए भी और अपने पौरुष एवं पराक्रम का परिचय देते हुए उसने विजयें भी हासिल कीं। सर्वप्रथम विम्बिसार ने अंग राज्य (मुंगेर और भागलपुर का कुछ भाग) पर कब्जा किया। अंग राज ब्रह्मदत्त मारा गया और उसका राज्य मगध साम्राज्य का हिस्सा बना। विम्बिसार समकालीन राजनीति का महान पारखी था और अपनी कूटनीतिक तजवीजों को व्यवहार रूप में भी जल्दी ही ले आता था। मगध के चारों ओर साम्राज्यवादी लालसाएँ लहलहा रही थीं और यह भी स्पष्ट था कि सबके साथ युद्ध की नीति ही नहीं रखी जा सकती। एक साथ कई मोर्चों पर लड़ाइयाँ नहीं जीती जातीं। फलत: उसने वैवाहिक सम्बन्धों

को भी साम्राज्यवादी नीति का अभिन्न हिस्सा बना कर अपनी दूरदर्शिता का विलक्षण सबूत दिया।

उसने कोशलराज महाकोशल की पुत्री कोशलदेवी से विवाह किया। यह प्रसेनजित की बहन थी। अंग विजय और कोशल राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों ने मगध के साम्राज्यवादी अभियान के पर लगा दिए। एक तो दहेज के रूप में काशी हस्तगत हुआ जिसका राजस्व एक लाख था। महावग्ग का एक साक्ष्य यह बताता है कि विम्बिसार का आधिपत्य 80,009 गाँवों पर था। बुद्धचर्या से यह ज्ञात होता है कि विम्बिसार का राज्य 300 योजन तक विस्तृत था। कई गणतंत्र तो उसके राजकुमारों के अधीन होकर, उसके राज्य का हिस्सा हो चुके थे।

निजी सम्बन्धों के कूटनीतिक इस्तेमाल की बात करें तो विम्बिसार ने वैशाली के लिच्छवि 'राजा' चेतक या चेटक की पुत्री चेल्लना (हलना) से भी विवाह किया। फलस्वरूप उसे जुझारू लिच्छवियों का साथ मिल गया। उसकी एक और रानी का भी जिक्र आता है जो सम्भवत: मद्रदेश की राजकुमारी थी, जिसे इतिहास 'खेमा' के नाम से जानता है। एक तिब्बती उल्लेख विम्बिसार की 'वासवी' नामक पत्नी की भी चर्चा करता है, जिसने अजातशत्रु द्वारा बंदी बनाए जाने के बाद कारागार में भोजनादि की व्यवस्था करते हुए विम्बिसार की जान बचाई थी। महावग्ग के विवरण उसकी 500 रानियों का हवाला देते हैं। यकीनन इन वैवाहिक संघियों ने उसकी साम्राज्य विस्तार की नीति में काफी सहायता पहुंचाई होगी।

विम्बिसार के कई पुत्रों का उल्लेख आता है। जैनग्रन्थ उसके पुत्रों में कुणीक या अजातशत्रु, हल्ल, वेहल्ल मेघकुमार, नन्दीसेन और अभय इत्यादि का जिक्र मिलता है। लिच्छवी गणिका आम्रपाली से भी एक पुत्र बताया गया है। बौद्ध लेखक दो नये नाम विमल और शीलवत भी उल्लिखित बताते हैं। इसके तमाम पुत्र मगध के विस्तार में सहायक भी हुए और इसके लिए कई बार त्रासद भी रहे। अजातशत्रु ने तो विम्बिसार को कैद भी कर लिया था।

विम्बिसार को मगध के उत्कर्ष, विस्तार और विकास के लिए तो जाना ही जाता है, मगध में न्यायप्रिय एवं जनप्रिय सुशासन के लिए भी जाना जाता है। राज्य की छवि धर्मनिरपेक्ष राज्य की रही, यद्यपि उसके स्वयं के जीवन पर बुद्ध एवं उनके उपदेशों का गहरा असर रहा। बौद्ध भिक्षुओं से राज्य कोई कर नहीं वसूलता था। यहाँ तक कि कभी-कभी उनके आवास एवं भोजनादि की व्यवस्था भी राज्य के ही कोष से की जाती थी। छठी शताब्दी ई० पू० की मानवतावादी वैचारिकी के दोनों अग्रदूत बुद्ध एवं महावीर से विम्बिसार की सन्निकटता ख्यात रहा है। वह अपने विश्वासों को लेकर आग्रही नहीं था। वह अपने आशय में उदार एवं नीतियों में निष्पक्ष था। शायद यही कारण रहा कि बौद्ध एवं जैन दोनों धर्मानुयायी उसे अपने ही सम्प्रदाय का समझते रहे हैं। यह उसकी बड़ी प्रशासनिक सफलता थी, जब धार्मिक सम्भ्रम के युग में बिहार की धरती से ही धार्मिक सहिष्णुता का सार्थक संदेश चारों ओर फैला।

जैनग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र से पता चलता है कि विम्बिसार ने अपनी रानियों, कर्मचारियों एवं सगे-सम्बन्धियों समेत मण्डीकुक्षी चैत्य के महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। हेमचन्द्र ने लिखा है कि राजा यानी विम्बिसार सपत्नीक महावीर की पूजा-अर्चना में निमग्न था। वहीं बौद्ध ग्रन्थ बुद्ध के साथ विम्बिसार की कई 'भेंटों' का जिक्र करते हैं। विम्बिसार के द्वारा एक बाग दान किया गया था, और बुद्ध को उन्होंने स्वयं अपने हाथ से भोजन भी कराया। कहा तो यह भी जाता है कि विम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को बुद्ध एवं अनेक भिक्षु-सन्यासियों की चिकित्सा के लिये भी लगाया था।

विम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक का दूसरी जगह पर भी बड़ी कुशलता से इस्तेमाल किया है। अवन्ति नरेश को जब पीलिया हुआ था तो विम्बिसार ने जीवक को उनके उपचार हेतु भेजा था। जबकि तक्षशिला नरेश का अपनी चिकित्सा के लिए त्राहिमाम संदेश विम्बिसार ने ठुकरा दिया था क्योंकि नाहक ही अन्य राजाओं से शत्रुता मोल लेने के पक्ष में उसकी कूटनीतिक बुद्धि नहीं थी।

प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं पूर्वाग्रहमुक्त व्यक्तित्व के चलते उसका शासन काल सुचारू शासन संचालन के लिए भी भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने कई पदाधिकारी नियुक्त कर रखे थे। उपराजा, माण्डलिक राजा, सेनापति, सेना नायक, महामात्र, व्यावहारिक महामात्र, और ग्राम भोजक प्रमुख रूप से चिह्नित किए जा सकते हैं। वह राज्य के प्रत्येक कर्मचारी-अधिकारी पर कड़ी निगरानी रखता था। सक्षम कर्मचारियों को पुरस्कृत करने की योजना थी तो अक्षम लोगों को पदच्युत भी किया जा सकता था। उच्चाधिकारी 'राजभट' की चार श्रेणियाँ थीं। 'सम्बन्धक' सामान्य कार्यों की निगरानी हेतु नियुक्त होता था। दण्ड-विधान कठोर था और यही नहीं शीघ्रातिशीघ्र 'न्याय' की व्यवस्था थी। आज की विलम्बित न्यायिक प्रक्रियाओं में सुधार के लिए आज से ढाई हजार साल पहले के बिहार से शायद कुछ सीख ली जा सके। विम्बिसार के सुशासन का एक प्रमुख आधार यह भी था, कि न्याय में देरी को अन्याय माना जाता था। कैद से लेकर कोड़े मारने और फाँसी देने तक का विधान था। विभिन्न अपराधों में दण्ड स्वरूप लोहे से दागने, जिह्वा काट लेने, या पसलियाँ तोड़ देने का भी विधान विहित था।

तक्षशिला उस समय शिक्षा का प्रमुख केन्द्र हुआ करता था। राजवैद्य जीवक ने वहीं से शिक्षा ली थी और आयुर्वेद की कौमारभृत्य शाखा में विशेषता हासिल की थी। प्रख्यात वास्तुकार महागोविन्द राजगृह के भवनों का निर्माता था। इन सबको प्रोत्साहन विम्बिसार से मिलता रहा था। उसके संरक्षण में अन्यान्य कलाएँ भी पुष्पित-पल्लवित हुईं। चम्पा बुद्धकालीन भारत के छह महानगरों में से था। और अंग विजय के परिणाम स्वरूप यह भी विम्बिसार के राज्य का हिस्सा हो चुका था। चम्पा के दुर्गद्वार, दीवारें, एवं पहरे के लिए उपयोग में लाई जाने वाली मीनारों का वर्णन प्राप्त होता है। आपन और अस्सापिनों दो अन्य प्रमुख नगर थे। यहाँ के व्यापारियों के आवागमन से सिद्ध होता है कि व्यापार वाणिज्य की भी पर्याप्त गतिविधियाँ सुचालित थीं। ऐसा भी उल्लेख आता है कि चम्पा से व्यापारी सुवर्ण भूमि तक गए थे। आज के बिहार के लिए उसके गौरवशाली इतिहास का यह अध्याय भी कण्ठस्थ करने लायक है। समृद्धि का एक पैमाना हमेशा से ही व्यापार वाणिज्य एवं कला-संस्कृति की स्थिति रही है। विम्बिसार काफी पहले; इतनी व्यापक युद्धरतता के बावजूद इन सारे मोर्चों पर सक्रिय था और वह भी बिहार की इसी पावन धरती पर।

राज्य के प्रान्तों एवं प्रान्तपतियों को मुनासिब स्वायत्तता हासिल थी। गाँवों को स्थानीय स्तर पर कई प्रशासनिक अधिकार हासिल थे। केन्द्र के प्रति किसी तरह की नाराजगी न रहे और गाँवों और ग्राम भोजकों में किसी तरह की विद्रोही प्रवृत्ति न पनपे, इस खातिर विम्बिसार ने 80,000 गाँवों के ग्राम प्रमुखों (ग्राम भोजकों) की एक सभा भी बुलवाई थी। विम्बिसार की राज्य सभा में भी गाँवों के प्रतिनिधियों को विशेष स्थान प्राप्त होता था। यह एक जनप्रिय एवं सुयोग्य शासक की पहचान थी कि वह अपने साम्राज्य के अन्तिम संस्तरों के साथ भी संवाद रखता था। यातायात पर उसने पर्याप्त ध्यान दिया। इससे व्यापारिक गतिविधियों में तो लाभ मिला ही, आम नागरिक के लिए भी यात्राएँ निरापद हो गई। और संचार व्यवस्था भी कुछ बेहतर हुई रही होगी।

इस महान शासक के शासन काल एवं इसकी मृत्यु को लेकर कई मत प्रचलित हैं। पुराणों ने विम्बिसार की शासनावधि मात्र 28 वर्ष मानी है, और 24 वर्ष दर्शक के हिस्से किया है। महावंश के

अनुसार विम्बिसार ने 52 वर्षों तक राज्य किया। बौद्ध साहित्य भी 52 वर्षों की शासनावधि अकेले विम्बिसार के नाम ही लिखते हैं। बौद्ध ग्रन्थ अजातशत्रु को उत्तराधिकारी बताते हैं और पुराण दर्शक को। यह हो सकता है कि बाद के वर्षों में विम्बिसार के ही पुत्रों में से एक दर्शक ही प्रशासन का दायित्व सम्हालने लगा हो, अत: कहीं-कहीं पर बाद के 24 वर्ष दर्शक को शासक बता दिया गया है, लेकिन वास्तविक सम्राट तो विम्बिसार ही था, इसलिए बौद्ध ग्रन्थों में पूरे 52 वर्ष विम्बिसार को ही राजा बताया गया है।

एक अनुश्रुति यह भी है कि अजातशत्रु पिता-विम्बिसार की हत्या करने के बाद सिंहासनासीन हुआ। जैन ग्रन्थ 'आवश्यक सूत्र' के अनुसार तो विम्बिसार ने अजातशत्रु को विधिवत युवराज घोषित करके गद्दी सौंपने का निश्चय भी कर ही लिया था परन्तु असमय ही उतावलेपन में अजातशत्रु ने विम्बिसार को कैद कर लिया। अजातशत्रु को जब यह ज्ञात हुआ कि विम्बिसार तो उससे बहुत प्यार करता था, तो उसने प्रायश्चित स्वरूप पिता की बेड़िया काट डालनी चाही और लोहे का कोई उपकरण लिए कारागार की ओर दौड़ा। लेकिन विम्बिसार को यह अहसास हुआ कि वह उसकी हत्या के इरादे से आ रहा है, फलत: उसने पहले ही जहर खाकर अपनी इहलीला समाप्त कर ली।

लेकिन बौद्ध ग्रन्थ 'विनय पिटक' का साक्ष्य लें तो उसके हिसाब से बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त ही मुख्य षडयंत्री साबित होता है। उसी ने अजातशत्रु को भड़काया कि जीवन बहुत छोटा है और लगता है कि वह (अजातशत्रु) लम्बे समय तक राजा बन ही नहीं पाएगा। इसलिए उसे पिता का बध कर देना चाहिए और गद्दी हासिल कर लेनी चाहिए। लेकिन यह भी ज्ञात होता है कि मारने से पहले ही अजातशत्रु पकड़ लिया गया लेकिन विम्बिसार ने उसे न सिर्फ क्षमा ही कर दिया अपितु राज्य भी दे दिया और स्वयं वनगमन स्वीकार कर लिया। लेकिन फिर मौका देखकर अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या कर ही डाली।

बहरहाल जीवन मृत्यु की उलझनों के बीच एक चीज एकदम सुलझी हुई है कि विम्बिसार ने हर्यक वंश की नींव ही नहीं डाली अपितु मगध के उत्कर्ष का बीजारोपण भी किया। बी०ए० स्मिथ के मत से सहमत हुआ जा सकता है कि धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता ने कभी-कभी ऐतिहासिक तथ्यों में अतिशयोक्ति की फेंट-फाट कुछ ज्यादा ही कर ली है और अपने धर्म और उसके अनुयायियों को श्रेष्ठ बताने के लिए किसी व्यक्ति विशेष की कुछ ज्यादा ही काली तस्वीर खींची है। ताकि यह बताया जा सके कि जब वह फलां व्यक्ति इस विशेष धर्म का अनुयायी नहीं था तो कितना क्रूर था परन्तु जैसे ही उसने फलां धर्म स्वीकार किया वह उदार 'सौम्य' साहिष्णु एवं सभी गुणों का स्वामी हो गया। लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि बिहार के गौरवशाली अतीत के कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण पन्ने विम्बिसार ने भी लिखे थे, जो आज बदले हुए समय और संदर्भ में और भी शिद्दत से पढ़े जाने की मांग करते हैं।

गौतम बु(

–डॉú ठाकुर हरेन्द्र दयाल

गौतम बुद्ध के पूर्व भारत में वर्ण-व्यवस्था काफी दृढ़ हो चुकी थी और अनेक जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था, जिनमें कई प्रकार की कुरीतियों का समावेश हो गया था। कर्मकाण्ड धर्म का मुख्य अंग बन चुके थे और ब्राह्मणों ने इसे और जटिल तथा आडम्बरपूर्ण बना दिया था। सामाजिक कुरीतियों, यज्ञ तथा कर्मकांड की जटिलताओं से छुटकारा प्राप्त करने के लिए आमजन इच्छुक थे। महावीर और बुद्ध के प्रादुर्भाव से उन्हें इनसे मुक्ति प्राप्त हुई।

गौतम बुद्ध महावीर के समकालीन थे। कोशल देश के उत्तर कपिलवस्तु शाक क्षत्रियों का एक छोटा-सा गणराज्य था। यहाँ शुद्धोदन नामक एक राजा का शासन था। ईसा पूर्व सन् 563 में शुद्धोदन की पत्नी माया देवी के गर्भ से सिद्धार्थ (गौतम) का जन्म हुआ। यह जन्म नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी बन में हुआ था। सिद्धार्थ के जन्म के सातवें दिन उनकी माता मायादेवी का देहान्त हो गया और तब से उनकी मौसी महाप्रजापती ने उनके पालन-पोषण का भार उठाया। क्षीर दायिका होने के कारण महाप्रजापती गौतमी का नाम इतिहास में अमर हो गया। गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ) भी महावीर के समान कुलीन परिवार में उत्पन्न हुए थे। जन्म के पाँचवें दिन उनका नामकरण हुआ सिद्धार्थ। सिद्धार्थ का अर्थ है- 'वह, जिसकी आकांक्षा पूर्ण हों।

बालक गौतम को पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त क्षत्रियोचित सामरिक शिक्षा भी प्रदान की गई। परन्तु स्वाभाव से चिन्तनशील होने के कारण गौतम का मन इन सब सांसारिक विषयों में अनुरक्त न होता था। वे सदैव किसी चिन्ता के सागर में गोता लगाते रहते थे। बहुधा लोगों ने उन्हें अपने घर से दूर एक जम्बू वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न अवस्था में बैठा देखा था।

गौतम का प्रारम्भिक जीवन बड़ी सुख-समृद्धि के बीच बीता। राजा शुद्धोदन का पूर्ण प्रयास यही था कि राजकुमार की प्रवृत्ति वैभवपूर्ण राजकीय वातावरण में रम जाय और उसके संसार त्याग की सम्भावना का निराकरण हो जाए। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक अति सुंदर एवं गुण संपन्न क्षत्रिय कन्या यशोधरा से गौतम का विवाह भी कर दिया। कुछ समय के उपरान्त यशोधरा से गौतम के एक पुत्र हुआ। परन्तु पुत्र-जन्म से चिन्तनशील गौतम को कोई प्रसन्नता न हुई। कहते हैं कि जब उन्हें पुत्र जन्म का समाचार प्राप्त हुआ तो उनके मुख से तुरंत 'राहुल' शब्द निकला। अतः, उनके पुत्र का नाम राहुल रख दिया गया।

त्रिपिटक में अनेक ऐसी घटनाओं का उल्लेख है, जिनसे गौतम के वैराग्य-प्रधान स्वभाव को उद्दीपन मिला। कहते हैं कि नगर-दर्शन के हेतु भिन्न-भिन्न अवसरों पर बाहर जाते हुए गौतम को मार्ग में पहले जर्जर शरीर वृद्ध फिर व्यथापूर्ण रोगी, फिर मृतक और सबसे बाद में वीतराग प्रसन्नचित सन्यासी के दर्शन हुए। इन दृश्यों ने गौतम के ह्रदय में निवृति-मार्ग की भावना को दृढ़ीभूत कर दिया। वैभव-विलास सिद्धार्थ को संसारिक बन्धनों में बाँध न सका। विरक्ति की भावना दिनानुदिन प्रबल होती चली गई। संसारिक माया मोह उन्हें आकर्षित न कर सका। अन्त में उन्होंने सांसारिक दु:खों से निवृत्ति का मार्ग खोजने के लिए अपनी पत्नी तथा नवजात शिशु को सोते हुए ही छोड़कर उन्नतीस वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर दिया। गृहत्याग की घटना को बौद्धलोग 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं।

गृहत्याग करने के पश्चात गौतम ने अनुपिय नामक आम के बाग में समय व्यतीत किया। इसके बहुत

बाद बहुत दिनों तक ज्ञान की खोज में इधर-उधर भटकते रहे। उन्होंने बहुत से पंडितों और साधु-संन्यासियों के साथ तर्क-वितर्क किया, शाक्य कोलिय और मल्ल देशों को लांघते हुए आलार कलाम से भेंट की। उनसे सिद्धार्थ को संतोष नहीं हुआ। आलार से तर्क-वितर्क के बाद भी सिद्धार्थ को सन्तुष्टि नहीं मिली। इन दोनों आचार्यों से असंतुष्ट सिद्धार्थ पांच विद्यार्थियों के साथ आगे बढ़े। निरंजना नदी के तट पर उरूवेला नामक स्थान में सिद्धार्थ ने छः वर्षों तक घोर तप किया, फिर भी उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। इसके बाद सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग को छोड़ दिया। कहा जाता है कि उरूवेला की नर्तकियों के ये शब्द उनके कानों में पहुचे। अपनी वीणा के तारों को इतना ढीला न करो कि उनसे संगीत न निकले और इतना न कसो की वे टूट जाएँ। इससे सिद्धार्थ को मध्यम मार्ग अपनाने की प्रेरणा प्राप्त हुई। अंत में बोधगया में पीपल के वृक्ष के नीचे ज्ञान-प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर ध्यान मग्न हो गए। तत्पश्चात वे सात दिन और सात रात अखण्ड समाधि में स्थित रहे। आठवें दिन वैशाखी पूर्णिमा पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ और इस प्रकार उनकी दीर्घ साधना सफल हुई। उस दिन से वे 'तथागत' हो गए, परन्तु संसार उन्हें 'बुद्ध' के नाम से अधिक जानता है। उन्हें बुद्धत्व प्राप्ति होने के कारण 'बुद्ध' कहा जाने लगा। जिस स्थान पर उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई उसे बोधगया तथा जिस पीपल वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह बोधिवृक्ष के नाम से विख्यात हुआ।

उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार प्रारम्भ किया। एक दिन वे बोधगया में एक वृक्ष के नीचे बैठे थे, तभी उनके समक्ष तपस्सु तथा मल्लिथ नामक दो बनजारे उपस्थित हुए। बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया और उनको अपना उपासक बना लिया। उन्होंने संसार के दुखी जीवों को अपने ज्ञान के उपदेशों से निर्वाण का मार्ग प्रदर्शित करने का संकल्प लिया। वे बोधगया से सारनाथ पहुँचे। और वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम धर्मोपदेश अपने पुराने साथी उन्हीं पाँच ब्राह्मणों को दिया जिन्होंने गया में बुद्ध का साथ छोड़ दिया था। इसी को बौद्ध परम्परा में धर्म-चक्र प्रवर्तन कहते हैं। कालांतर में इस पुनीत घटना को अमर बनाने के लिए सम्राट अशोक ने सारनाथ में एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया।

अब बुद्ध काशी पहुँचे। वहाँ वस नामक एक धनवान अपने परिवार के साथ बौद्ध हो गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। उस बुद्ध ने उन सबको बुलाकर आदेश दिया, "भिक्षुओं, बहुजन हितार्थ, बहुजन सुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ मत जाओ। हे भिक्षुओं आदि में कल्याणकर; मध्य में कल्याणकर, अन्त में कल्याणकर इस धर्म का उपदेश करो।"

इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं द्वारा भी धर्म का प्रचार प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम बुद्ध उरूवेला पहुँचे। यहाँ उन्होंने कश्यप गोत्रीय ब्राह्मणों को शिष्य बनवाया। इसके बाद मगध, कोशल, अवन्ती और आस-पास के राज्यों में घूम-घूम कर वे अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अपने धर्म प्रचार में उन्होंने धनी और गरीब ऊँच और नीच तथा स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं किया। बिम्बिसार, अजातशत्रु जैसे शासक अनाथपिंडक जैसे व्यापारी, वैश्य और क्षत्रिय उनके शिष्य हो गए। कोशल का राजा प्रसेनजीत, बुद्ध की विमाता महाप्रजापति और पुत्र राहुल भी बौद्धधर्म में दीक्षित हुआ। महात्मा बुद्ध अस्सी वर्ष की अवस्था तक घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। उस आयु में बुद्ध काफी वृद्ध हो चुके थे। उनके शरीर पर बुढ़ापा के समस्त लक्षण प्रकट हो गए थे। उस उम्र में वे घूमते-घूमते वैशाली और उसके बाद पावापुरी पहुँचे। वहां उन्होंने चन्द कर्मार पुत्र के घर पर भोजन किया। इसके पश्चात उन्हें पेचिश हो गई। किन्तु उस वेदना को किसी प्रकार सहन करते हुए वे कुशीनगर पहुँचे। अब उनका निर्वाण अति सन्निकट था। यहीं पर उनकी मृत्यु हो गई। इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महापरिनिर्वाण' कहा गया

है। बुद्ध के धर्म के सिद्धाँत विशुद्ध बौद्धधर्म के सिद्धाँत त्रिपिटक के मूल अंश में सम्मिहित है।

गौतम बुद्ध एक व्यावहारिक धर्म सुधारक थे। वे अपने समय की समस्याओं से पूरी तरह परिचित थे। इसलिए उनके उपदेश भी अत्यंत सरल तथा व्यावहारिक थे। उन्होंने अपने को दार्शनिक सिद्धान्तों और आत्मा-परमात्मा जैसी जटिल गुत्थियों से अलग रखा। उन्होंने ऐसा उपदेश दिया कि जनसाधारण उन्हें समझ सकें। उन्होंने सरल भाषा में काफी सरल ढंग से लोगों के सामने अपना उपदेश उपस्थित किया। उनके उपदेशों में चार आर्य-सत्य प्रमुख हैं। चार आर्य-सत्य में दु:ख की सत्ता की ही मीमांसा है- (1) दु:ख है (2) दु:ख का निवारण है (दु:ख समुदाय) (3) दु:ख का निरोध है और (4) दु:ख के निवारण का उपाय है (दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपदा)। दु:ख के निवारण के लिए उन्होंने बताया कि यज्ञ, बलि, देवताओं की प्रार्थना आदि से निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह कठोर तपस्या से भी संभव नहीं है। शाश्वत सुख विलासिता का जीवन भी उचित मार्ग नहीं है।

उन्होंने मध्यम मार्ग पर चलने के लिए उपदेश दिया। उनका कथन है कि मनुष्य को न तो अधिक वासना में लिप्त रहना चाहिए और न शरीर को अत्यधिक कष्ट देना चाहिए। उन्हें मध्य मार्ग को अपनाने को कहा। उन्होंने तृष्णा तथा अन्यान्य दूषित मनोवृत्तियों तथा संस्कारों का निरोध करने के लिए अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया। अष्टांगिक मार्ग इस प्रकार हैं- (1) सम्यक दृष्टि (2) सम्यक संकल्प (3) सम्यक वाक् (4) सम्यक कर्मान्त (5) सम्यक आजीव (6) सम्यक व्यायाम (7) सम्यक स्मृति और (8) सम्यक समाधि।

बुद्ध का कथन था कि निर्वाण इस जन्म में भी प्राप्त किया जा सकता है। जो कोई इन अष्टांगिक मार्गों का अनुसरण करेगा उसे निर्वाण की प्राप्ति होगी। इसके लिए यज्ञ, बलि, पुरोहितों की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है।

बुद्ध ने अहिंसा, सदाचार तथा त्याग पर काफी बल दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिये एक आचार संहिता का निर्माण किया। इन्हें शील कहा जाता है। ये उपदेश हैं-(1) अस्तेय (चोरी नहीं करना) (2) अहिंसा का पालन (3) मद्यपान नहीं करना (4) झूठ नहीं बोलना (5) व्यभिचार नहीं करना (6) नृत्य गान का त्याग (7) पुष्प तथा सुगन्धित वस्तुओं का त्याग (8)स्त्री तथा स्वर्ण का त्याग। बुद्ध का कथन था कि इन नैतिक नियमों के पालन से मनुष्य को परम शान्ति की प्राप्ति होगी।

बौद्धधर्म कारणवादी है और उसका वही विशेषण उसे अहेतुवादियों, नियति वादियों और निराशा वादियों से पृथक करती है। बुद्ध का कथन है कि संसार में जो धर्म है वे हेतु से उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ हुआ कि एक कारण के आधार पर एक कार्य उत्पन्न होता है। उसी को प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धाँत बताया गया है। कार्य कारण की क्रम परम्परा है। जिसके ये स्वरूप हैं- (1) अविद्या से संस्कार (2) संस्कार से विज्ञान (3) विज्ञान से नामरूप (4) नामरूप से षडायतन (5) षडायतन से स्पर्श (6) स्पर्श से वेदना (7) वेदना से तृष्णा (8) तृष्णा से उपादान (9) उपादान से भव (10) भव से जाति (11) जाति से जरा और (12) जरा से मरण। इन्हीं कार्य कारणों की परम्परा में संसार चक्र 'भवचक्र' के रूप में चलता है। जीव इसी भवचक्र में पड़ा रहता है। जबतक उसे इससे मुक्ति नहीं होती तबतक उसके दु:खों का अन्त नहीं होता। दु:ख नित्य नहीं है। इसलिए दु:ख के विनाश के लिए उपाय है जिससे मनुष्य को सर्वदा के लिए जरा-मरण से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

बुद्ध अनीश्वरवादी थे। वे ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि संसार की उत्पति के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं है। कार्य कारण शृंखला से संसार चलता है। बुद्ध

आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते थे।

विश्व के संबंध में बुद्ध का मत क्षणिकवाद है। उनका विचार है कि संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, क्योंकि उत्पत्ति के कारण का नाश हो जाने पर वस्तु नष्ट हो जाती है।

मानवीय उत्कर्ष के लिए बुद्ध ने सभी बाह्य आडम्बरों का परित्याग कर एकमात्र मनः शुद्धि पर जोर दिया।

बुद्ध के उपदेश में कर्मवाद की भी प्रधानता है। उनका कथन है कि मनुष्य का कर्म उसके दु:ख-सुख का कारण है। बुद्धधर्म कर्मप्रधान धर्म है जो महत्त्व आस्तिक धर्मों में ईश्वर का है वही महत्व बौद्धधर्म में कर्म का है। ज्ञान- प्राप्ति कर्म के ऊपर ही आधारित है। उनका उपदेश था कि जो भी मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, अथवा शूद्र हो, सम्यक् कर्म करेगा, वह मोक्ष का अधिकारी होगा। बौद्धधर्म के अनुसार प्रधान मनुष्यों में विभेद नहीं करता।

महात्मा बुद्ध नित्तान्त प्रयोजनवादी थे। अत: उन्होंने उन्हीं विषय का उपदेश दिया जो मनुष्य के परम कल्याण के लिए आवश्यक है। लोक, जीव और परमात्मा-सम्बन्धी अनेक विवादों को उन्होंने व्यर्थ समझा। इसलिए उन्होंने दस अकथनीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो निम्नलिखित दस विषय ऐसे थे जिनपर मौन रहने के लिए महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों को सलाह दी- (1) क्या लोक नित्य है? (2) क्या लोक अनित्य है? (3) क्या लोक सान्त है? (4) क्या लोक अनंत है? (5) क्या जीव और शरीर एक है? (6) क्या जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है? (7) क्या मृत्यु के पश्चात तथागत होते हैं? (8) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत नहीं होते हैं? (9) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते हैं? (10) क्या मृत्यु के पश्चात न तथागत होते ही हैं या नहीं ही होते हैं?

बुद्ध ने पुनर्जन्मवाद के सिद्धांत पर बल दिया। उन्हें कर्म के फल में विश्वास था। अपने कर्मों के फल से ही मनुष्य अच्छा-बुरा जन्म पाता है। इसमें ईश्वर या किसी स्रष्टा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। बुद्ध का मत था कि पुनर्जन्म आत्मा का नहीं, अपितु अहंकार का होता है। जब मनुष्य की तृष्णा और वासना नष्ट हो जाती है तब उसे निर्वाण प्राप्त होता है। जिस प्रकार तेल और बत्ती जल जाने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अहंकार के नष्ट हो जाने पर मनुष्य को परम शांति मिलती है। इस परमशक्ति को प्राप्त करने के लिए बुद्ध ने सम्यक् आचरण और ज्ञान को आवश्यक बतलाया।

बुद्ध ने वेदों की प्रमाणिकता को नहीं स्वीकार किया। उन्होंने यज्ञ, आडम्बरों का विरोध किया। वे ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जाति-पाति, कर्मकाण्ड, जाति-प्रथा के विरोधी थे। उन्होंने पुरोहितवाद का भी विरोध किया। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों तथा सिद्धाँतों में धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति ने सहायता पहुँचायी।

अब बौद्धधर्म की सफलता के कारणों पर प्रकाश डाला जायेगा।

(1) बौद्धधर्म व्यवहारिक सिद्धान्त पर आधारित था। गौतम बुद्ध एक व्यवहारिक सुधारक थे। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, यज्ञ, पशुबलि, जीव हिंसा की निंदा की। उनका धर्म सरल नैतिक तथा व्यावहारिक था। जन साधारण वैदिक कर्मकाण्ड तथा जटिल दार्शनिक सिद्धांतों से ऊब चुका था। इसलिए लोगों ने बौद्धधर्म को सहर्ष स्वीकार किया। (2) बुद्ध ने अपना धर्म समाज के सभी लोगों के लिए खोल दिया, उन्हें वर्ण, जाति तथा ऊँच-नीच के भेद पर ध्यान नहीं दिया। इसलिए निम्नजाति के लोगों ने इस धर्म का समर्थन किया। (3) गौतम बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व था और उनका प्रचार करने का ढंग भी अनूठा था जिसके चलते लोग काफी प्रभावित हुए। अपने प्रचार में उन्होंने कटु अलोचना की अवहेलना

की। शांतिपूर्वक उन्होंने लोगों के समक्ष अपना उपदेश उपस्थित किया। उन्होंने केवल कोरा आदर्श ही नहीं दिया, बल्कि अपने जीवन में उन्हें चरितार्थ किया। उन्होंने अपने जीवन में मानवोचित गुणों का पालन किया। (4) बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार में जनसाधारण की भाषा पालि का व्यवहार किया। इससे भी इस धर्म का प्रचार हुआ। (5) बुद्ध ने अपने धर्मप्रचार के लिए बौद्धभिक्षुओं का संघ बनाया। बुद्ध का विचार जनतांत्रिक था। इसलिए बौद्धसंघ के कार्यक्रम जनतांत्रिक पद्वति पर आधारित थे। बौद्धसंघ में दयालुता, त्याग, सदाचारिता का महत्त्व था। बिना वर्ण जाति के भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति के बौद्धसंघ में प्रवेश करने की अनुमति थी। (6) बौद्धधर्म के प्रचार में बौद्धभिक्षुओं की भूमिका प्रशंसनीय रही है। भिक्षुओं ने संकट सहन करते हुए पवित्रता तथा सरलता का मार्ग अपनाकर इस धर्म का प्रचार किया। (7) इस धर्म के प्रचार-प्रसार में राजकीय संस्थान का योगदान रहा है।

बुद्ध के समय में तत्कालीन अनेक राजाओं ने उनके उपदेशों का पालन किया। मगध के राजा विम्बिसार और अजातशत्रु, कोशल के राजा प्रसेनजित तथा आवन्ती के राजा उद्‌यन आदि बुद्ध के अनुयायी बने। बुद्ध की मृत्यु के बाद मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और इसके प्रसार के लिए पश्चिमी एशिया तथा लंका आदि देशों में अपने धर्म-प्रचारकों को भेजा। कुषाण सम्राट कनिष्क, थानेश्वर नरेश हर्षवर्द्धन तथा पाल वंशी अनेक राजाओं ने भी बौद्धधर्म को प्रोत्साहन दिया। (8) इस धर्म के प्रसार-प्रचार में बौद्ध संस्थाओं जैसे बौद्ध विहारों और विश्वविद्यालयों नालन्दा तथा विक्रमशीला का भी अप्रतिम योगदान रहा है। इन विश्वविद्यालयों में विदेशी यात्री बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के लिए आते थे। स्वदेश लौटने पर वे इस धर्म का प्रचार करने में संलग्न हो जाते थे। (9) बौद्धधर्म के प्रचार में बौद्धसभाओं से भी सहायता मिली। बुद्ध के जीवनकाल में कोई बौद्धसभा नहीं हुई लेकिन उनके निर्वाण के पश्चात चार बौद्धसभाएँ हुई थीं। इनमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह, शुद्धि तथा नियमानुसार संशोधन भी किया गया। फलस्वरूप यह धर्म नया रूप, नवजीवन तथा उत्साह पाकर बढ़ता गया। प्रथम बौद्ध सम्मेलन का आयोजन राजगृह में किया गया। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया गया। द्वितीय सम्मेलन वैशाली में सम्पन्न हुआ। जिसमें बौद्धग्रन्थों में सुधार किया गया। तृतीय सम्मेलन अशोक ने बुलाया था जिसमें बौद्धसाहित्य का अन्तिम संकलन किया गया। चतुर्थ सम्मेलन कनिष्क के शासनकाल में बुलाया गया जिसमें प्राचीन बौद्धग्रन्थों पर भाष्य की रचना की गई।

बौद्धधर्म ने भारतीय समाज के नवनिर्माण में अप्रतिम योगदान दिया है। बुद्ध के निर्वाण के बाद यह धर्म भारत में तथा विदेशों में फैलता रहा। लेकिन कुछ कारणों के चलते धीरे-धीरे भारत वर्ष में इसका पतन होने लगा। ईसा की बारहवीं सदी तक बौद्धधर्म भारत से लगभग लुप्त हो चुका था। अपनी जन्मभूमि से लुप्त होने के बावजूद इस धर्म ने भारतीय इतिहास तथा संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ी। ई० पू० छठी सदी के दौरान उत्तर-पूर्वी भारत के लोगों के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ था। लोहे के फाल पर आधारित कृषि, तथा व्यापार के प्रचलन से शिल्प और व्यापार की काफी प्रगति होने लगी थी और उद्योग-धंधों के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण नगरों का विकास होने लगा था। ऐसी परिस्थिति में व्यापारियों और कुलीनों के पास काफी धन जमा हो गया था। बुद्ध के समय अस्सी कोटि धनवान व्यक्तियों के बारे में जानकारी मिलती है। धन के केन्द्रीकरण के चलते सामाजिक तथा आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न हो गई थी। बौद्धधर्म ने तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने के लिए धन संग्रह न करने का उपदेश दिया। बौद्धधर्म का कथन था कि हिंसा, घृणा, क्रूरता आदि के कारण गरीबी बढ़ती है। अत: इन बुराइयों को दूर करने के लिए बुद्ध ने सुझाव दिया कि कृषकों के बीच व्यापारियों को धन मिलना चाहिए और मजदूरों को उनका उचित मेहनताना मिलना चाहिए। संसार से गरीबी मिटाने के लिए ये उपाय बताए गए थे। बौद्धधर्म का कहना था कि गरीब व्यक्ति यदि भिक्षु को दान देता है तो अगले

जन्म में वह धनी वर्ग में जन्म लेगा।

बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए आचारसंहिता का निर्माण किया। इन नियमों को भिक्षुओं के भोजन, परिधाण और यौनवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए बनाया गया था। भिक्षु सोना-चाँदी दान में नहीं ले सकते थे। वे किसी वस्तु का क्रय-विक्रय भी नहीं कर सकते थे, भिक्षुओं के लिये बनायी गयी आचारसंहिता ई० पू० छठी सदी में उत्तर-पूर्वी भारत में प्रकट हुई जो निजी सम्पति, मुद्रा-प्रचलन और विलासिता के प्रति एक प्रकार का विद्रोह दीख पड़ता है। उन दिनों सम्पति तथा मुद्रा संग्रह को विलासिता का मूलाधार समझा जाता था।

बौद्धधर्म ने लोगों के भौतिक जीवन में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया, लेकिन इसने समाज के कुछ वर्गों को काफी आर्थिक लाभ भी पहुँचाया। बुद्ध ने कर्जदार व्यक्ति को संघ में सम्मिलित नहीं करने का उपदेश दिया, इसलिए स्वभावतः महाजनों, व्यापारियों को लाभ हुआ, क्योंकि कर्जदार को अब उनके शिकंजे से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती थी। इसी प्रकार दास को भी बौद्धसंघ में न लेने के नियम बनाये गये। इस नियम से दास के मालिकों को लाभ हुआ। इस प्रकार गौतम बुद्ध के उपदेशों और नियमों में भौतिक जीवन के नए परिवर्त्तनों पर विशेष ध्यान दिया गया और उसे वैचारिक शक्ति दी गई।

बौद्धधर्म ने सामाजिक समानता स्थापित करने का प्रमाण दिया। शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए बौद्धधर्म के द्वार खोल दिये गये। सभी वर्ग के लोग बौद्धसंघ में प्रवेश पा सकते थे। इससे समाज पर बहुत प्रभाव पड़ा। ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों और शूद्रों को समान स्तर का समझा जाता था। लेकिन बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर उन्हें इन हीनताओं से मुक्ति प्राप्त हो गई।

बौद्धधर्म ने अहिंसा पर विशेष बल दिया और पशुबलि की तीव्र आलोचना की। इस अहिंसा के सिद्धाँत के कारण पशु धन की वृद्धि हुई। अहिंसा के प्रचार के कारण शंति की स्थापना हुई और वाणिज्य व्यापार को भरपूर बढ़ावा मिला।

दर्शन के क्षेत्र में शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि का प्रतिपादन कर बौद्धधर्म ने भारतीय दर्शन को समृद्ध किया। नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र धर्मकीर्त्ति आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिकों का प्रादुर्भाव हुआ।

बौद्धधर्म ने चिंतन और साहित्य के क्षेत्र में एक नई चेतना का संचार किया, जिससे सामाजिक क्षेत्र में नवजागरण हुआ। बौद्ध धार्मिक साहित्यकारों ने पुरानी मान्यताओं के गुण-दोष को परख कर लेखन-कार्य शुरू किया। काफी हद तक अंधविश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। इससे लोगों में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई। बौद्धों ने अपने कर्म के सिद्धाँत को प्रतिपादन करने के लिए एक नवीन साहित्य का सृजन किया। बौद्धधर्म के लेखकों ने पाली को समृद्ध बनाया। बौद्धों की साहित्यिक गतिविधियाँ मध्ययुग में भी विद्यमान रहीं। उन्होंने कुछ अपभ्रंश कृतियों की रचना की। ललित विस्तर मिलिन्द पन्हो, महावस्तु, मंजूश्री मूल कल्प, दिव्यावदान, बुद्धचरित, जातक कथाएँ आदि ग्रन्थ भारत को बौद्धधर्म की अमूल्य देन हैं।

बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्र हुआ करते थे। बिहार में नालंदा, उदंतपुरी और विक्रमशिला तथा गुजरात में कलपी प्रसिद्ध विद्या केन्द्र थे। नागार्जुन, वसुमित्र, धमकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानों ने इसकी प्रगति में योगदान दिया।

बौद्ध भिक्षुओं ने विदेशों में बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार किया। इस प्रचार से उन देशों के साथ भारत

का घनिष्ठ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुआ। विदेशों से बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षुओं का आगमन भारत में हुआ। मध्य एशिया तथा दक्षिण पूर्व एशिया के अनेक देशों पर भारतीय धर्म और संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। थाईलैंड, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बर्मा, श्रीलंका, तिब्बत आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रसार में बौद्धधर्म की विशेष देन हैं।

बौद्धधर्म ने भारतीय चित्रकला, स्थापत्य कला और मूर्त्ति कला की अभिवृद्धि में बड़ा योगदान दिया। चैत्य, स्तूप और गुहा-निर्माण कलाओं का विकास भी बौद्ध कला की देन है। बौद्धों ने ढेर सारे स्तूपों और विहारों का निर्माण स्थायी ढंग से किया। बौद्ध जब बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानने लगे तब उनमें मूर्त्ति पूजा का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने मूर्त्तिकला को उत्कृष्ट करने में बड़ा योगदान दिया। श्रद्धालु उपासकों ने बुद्ध के जीवन की घटनाओं को पत्थरों में उकेरा। बिहार में बोधगया, मध्य प्रदेश में सांची तथा भरहुत स्थानों पर मिली बेदिकाओं और स्तभों पर उत्कीर्ण दृश्य बौद्धकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। जब बुद्ध को ईश्वर के अवतार माने जाने पर उनकी मूर्त्तियाँ भी निर्मित होने लगीं, तब उत्तर-पश्चिम भारत के सीमा प्रदेश में यूनानी और स्थानीय शिल्पकारों ने मिलकर एक नई प्रकार की कला को, जिसे गांधार कला कहते हैं, जन्म दिया। मथुरा में मथुरा कलाकेन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ गांधार कला से अलग विशेषताओं के साथ बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। गुप्त काल में सारनाथ में एक नये कला केन्द्र का जन्म हुआ। इन भिक्षुओं के आवास के लिए चट्टानों को काटकर कक्ष बनाए जाने लगे। गया की बराबर पहाड़ियों, पश्चिम में नासिक तथा इसके आसपास, पूना तथा अजन्ता की पहाड़ियों को काटकर गुहा गृहों का निर्माण कार्य किया गया। बौद्ध कलाकारों ने भारतीय चित्रकला में भी अपना अप्रतिम योगदान दिया। अजन्ता की पहाड़ियों को काटकर गुहा-गृहों का निर्माण किया गया। कतिपय गुहा-गृहों की दीवारों पर विभिन्न रंगों तथा तूलिका की सहायता से बुद्ध के जीवनकाल के दृश्यों को चित्रित किया गया। ये भित्ति-चित्र काफी प्रशंसनीय तथा अनुपम हैं।

आम्रपाली

-डॉ० रवीन्द्र कुमार पाठक

अम्बपाली पालि शब्द है। संस्कृत एवं हिंदी में आम्रपाली रूप होगा। आम्रपाली के व्यक्तित्व के कई पक्ष हैं। विभिन्न विद्वानों एवं लेखकों ने पूर्व ज्ञात कथा एवं अपनी कल्पना के आधार पर आम्रपाली के जीवन की कथा, उपन्यास एवं नाट्य रूप में चित्रण किया है। इस प्रकार आम्रपाली की कथा में कई नवीन तत्त्व भी देखने को मिलते हैं। आम्रपाली का जीवन इतिहास का एक विलक्षण पृष्ठ है जिससे तत्कालीन समाज की जीवनशैली पर खास कोण से प्रकाश पड़ता है। यह आलेख आम्रपाली के बारे में पालि साहित्य में उपलब्ध साक्ष्यों पर आधारित है। साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन स्रोत से लिया गया है, अतः उसकी विश्वसनीयता स्पष्ट है। अम्बपाली का उल्लेख सुत्तापिटक, विनयपिटक एवं बाद के अनेक ग्रंथों में मिलता है। इस प्रकार बौद्धकाल में अम्बपाली कई कारणों से चर्चा के विषय के रूप में स्वीकृत रही। आम्रपाली के व्यक्तित्व के मूल दो अधिक चर्चित पक्ष हैं- आम्रपाली गणिका एवं आम्रपाली थेरी। अन्य साहित्यकारों ने उसके बालपन, परिवार, मित्र आदि को भी कथा में जोड़ा है। इस प्रकार आम्रपाली के जीवन के तीन पक्ष होते हैं।

आम्रपाली लिच्छवी जनपद की राजधानी वैशाली में रहती थी। वह वहाँ की नगरवधू थी। नगरवधू कहने का अर्थ मुख्य गणिका (कोठेवाली) है। गणिका शब्द का अर्थ होता है गण (पूरे) का वह किसी एक व्यक्ति की रखैल या पत्नी नहीं हो सकती थी।

गणिका होने से ही स्पष्ट है कि वह अत्यंत रूपवती थी और संगीत-नृत्य-गायन-वादन आदि की कला में दक्ष थी। अत्यंत जनप्रिय गणिका होने के कारण उसे भरपूर वैभव और संपत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद भी उसका मन-प्रसन्न नहीं रहा और अंततः उसने बुद्ध की शिष्या बनना स्वीकार किया। अपनी सारी संपत्ति उसने संघ को दान कर दी और सामान्य भिक्षुणी की तरह वह संघ में सम्मिलित हो गई। बाद में उसने अपनी साधना के बल पर संघ में भी पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की। उसे 'महाथेरी' का दर्जा हासिल हुआ।

भगवान बुद्ध जब वैशाली में पहुँचे हुए थे तब आम्रपाली को उनके आगमन की सूचना मिली। उसने भिक्षुसंघ सहित भगवान बुद्ध को अपने उद्यान में ठहराने एवं भोजन कराने का निर्णय किया। भगवान बुद्ध ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार भी किया। उनके उपदेश से प्रभावित होकर आम्रपाली गणिका से महाथेरी बन गई। आम्रपाली के बारे में इतनी-सी संक्षिप्त कथा ही पालि साहित्य में मिलती है।

आम्रपाली के नामकरण के पीछे का प्रसंग यह है कि उसने आम के पेड़ के नीचे प्रव्रज्या (संघ में प्रवेश) प्राप्त की इसलिए उसका नाम आम्रपाली पड़ा। अपदान में जो वर्णन है, उसमें थोड़ा अंतर है। आम्रपाली नामकरण की यह व्याख्या पूरी जँचती नहीं है, क्योंकि भिक्षुणी बनने के पूर्व गणिका के रूप में भी उसका नाम आम्रपाली ही है।

आम्रपालि नाम की संगति पालि साहित्य की पालि परंपरा में यह दी गई है कि उसने गर्भवास से घृणा करने के कारण चाहा कि उसका जन्म औपपातिक रूप से बिना गर्भवास के हो। इस इच्छा के अनुसार उसने राजा के उद्यान के आम के पेड़ की शाखा के नीचे जन्म लिया। इसकी व्यवहारिक व्याख्या यह होगी कि किसी ने उस नवजात बच्ची को वहाँ रख दिया होगा। राजा का माली उसे राजवभवन में ले गया। वहाँ युवती होने पर राजकुमारों में उसे पाने के लिए कलह होने लगी। परिणामतः उसे गण भर के लिये उपलब्ध होने वाली, अर्थात गणिका बना दिया गया। भारतीय दृष्टि से केवल एक जन्म का परिचय पर्याप्त नहीं होता है। कोई भी व्यक्ति अचानक ही न तो जन्म लेता है न मरता है। इस जन्म-मृत्यु की प्रक्रिया में पूर्व जन्म के साथ इस जन्म के कर्म व्यक्ति की जाति, लिंग, सुख-दुःख एवं अगले जन्म के भोग के कारण होते हैं। इसी विश्वास के अनुसार आम्रपाली के पूर्व जन्म की कथा भी आई है। इस कथा को प्रामाणिक

बनाने के लिए कहा गया है कि जब आम्रपाली ने साधना की उच्च अवस्था में अपने पूर्व जन्म का स्मरण किया तब उसे इन बातों की जानकारी मिली।

पूर्वजन्म-संबंधी एक वृत्तांत के अनुसार वह पूर्व में भी भिक्षुणी थी और दूसरी भिक्षुणी ने उसे शाप दे दिया था कि तुम अगले जनम में गणिका बन जाओ। इसी शापवश वह गणिका बनी। इससे थोड़ी विस्तृत कथा अपदान में मिलती है। जिसका भावार्थ यह है कि मैं पूर्वजन्म में फुस्स नामक महान मुनि की बहन थी। उस समय मेरा जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। उस समय मैंने महादान दिया था जिससे मुझे महान रूप संपदा की प्राप्ति हुई। एकतीसवें कल्प में जब संसार को प्रकाशित करनेवाले भगवान पैदा हुए। उस समय सुंदर अरूणपुर में मैं ब्राह्मण कुल में पैदा हुई। उस समय एक भिक्षुणि ने शाप दिया कि मैं अपने मन के अनाचारों के कारण अगले जन्म में वेश्या बन जाऊँ। उस शाप के कारण मैं च्युत होकर मनुष्य योनि में पैदा होऊँ और काश्यप के शासन में तपस्वी बनकर ब्रह्मचर्य के मार्ग का अनुकरण करुँ। उसी कर्म विपाक के कारण मैं अम्बपाली गणिका बनी। आम की शाखा के नीचे पैदा होने से मेरा नाम अम्बपाली हुआ और बाद में मैं जिन शासन में प्रव्रजित हो गई।

आम्रपाली के द्वारा महादान की परंपरा के रूप में उसने अपने आयुवन उद्यान को संघ को दान दे दिया। उसी आम्रवन में भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को अनेक महत्त्वपूर्ण सुत्तों का उपदेश दिया। इन सुत्तों में सतिपष्ठान सुत्त सबसे महत्त्वपूर्ण है। सतिपष्ठान का अर्थ है ध्यान के द्वारा अपने मन में संस्कार एवं स्मृति के रूप में बैठे पुराने अनुभवों को दुबारा जानना, महसूस करना। आम्रपाली ने पहले ध्यानविधि के द्वारा अपने पूर्व जन्म के अनुभवों को जाना। पहले वह बुद्ध के उपदेश से एक सामान्य उपासिका (गैर-भिक्षुणी) बनी थी। बाद में पूर्व जन्म के कष्टों एवं संसार की नश्वरता के ज्ञान से उसने भिक्षुणी बनना स्वीकार किया। उसकी प्रव्रज्या बाद में विमल कोदण्ड थेर के सामने हुई। इसकी जानकारी अश्वघोष की अट्ठकथ में मिलती है।

"सा सत्थरि पटिलद्ध सद्धा...... **विमलकोदण्ड थेरस्स**

सन्तिके धम्मं सुत्वा पब्बजितवा विवस्सनाथ कम्मं करोन्तों..।"

इस प्रकार जो जानकारी मिलती है उसके अनुसार बचपन में अनाथ होने की पीड़ा एवं जवानी में उसके चाहने वाले राजकुमारों का कलह और अंत में एक वेश्या के रूप में मांसलोलुपों का समाना करने की समस्या ने उसे भीतर से सदैव अशांत रखा और अंततः वह शांति की तलाश में भगवान बुद्ध की शरण में जा पहुँची। आम्रपाली की गाथाएँ अत्यंत मार्मिक हैं। इनमें यौवन के सौंदर्य एवं बुढ़ापे की ढलान का अत्यंत भावपूर्ण वर्णन है। इन गाथाओं में दी गई उपमाएँ अत्यंत सही हैं तो आम्रपाली की रचनाधर्मिता पर प्रकाश डालती हैं।

आम्रपाली ने अपनी लटों को एक चित्रकार के द्वारा बनाए गए चित्र के समान माना, जो बाद में जहाँ-तहाँ से बरबाद हो जाता है।

चित्रकार सुकताव लेखिका सोमेरतु भभुका पुरे मम।

इसी प्रकार से उसने वृद्धावस्था में अपनी दशा को देखकर कहा कि सत्यवादी बुद्ध का वचन अन्यथा नहीं जाता। मेरे शरीर के सारे अंगों का सामर्थ्य एवं उसकी कांति समाप्त हो गई है।

आम्रपाली अपनी अद्भुत सुंदरता, दानशीलता, साधना में लगन एवं पहली बार एक गणिका के संघ में प्रवेश की घटना के कारण बुद्धकालीन इतिहास में अमर हो गई। उसकी पीड़ा का अनुमान अनेक लोगों ने किया एवं अपनी कल्पना के अनुसार आचार्य चतुरसेन शास्त्री, रामवृक्ष बेनीपुरी, एवं बाद में सिनेमा के आने के बाद अन्य लोगों ने भी उसे कथा का रूप दिया। नाट्यकार स्व० अनुरंजन प्रसाद सिंह ने आम्रपाली के जीवन को केंद्र में रखकर 'ताल वृतंक वैशाली' नामक महत्त्वपूर्ण नाटक रचा है।

अजातशत्रु

–डॉú दीपक कुमार राय

साम्राज्यवादी भावना का बीजारोपन तो वैदिकयुगीन भारत में ही हो चुका था परन्तु विस्तार की आकांक्षा विधिवत परवान चढ़ी छठी शताब्दी ई० पू० में ही। कृषि-कार्य में लौह तकनीक के अनुप्रयोग, बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता एवं अधिशेष की प्राप्ति ने न सिर्फ क्रांति में निर्णायक भूमिका अदा की अपितु साम्राज्य विस्तार की अबतक न आजमायी गई नीति के लिए जरूरी समय और सामान भी उपलब्ध कराया।

गोलियों-बन्दूकों के आविष्कार के बाद सत्ता को भले ही बन्दूक की नली से निकला हुआ बताया जाय लेकिन अजातशत्रु ने तो तलवार के बल पर ही सत्ता हासिल की थी। बौद्ध साक्ष्य उसे 'पितृद्रोही' या 'पितृहंता' साबित करते ही हैं।

हर्यक वंश के संस्थापक और मगध साम्राज्य के प्रथम प्रतापी नरेश विम्बिसार के कई पुत्र थे। लेकिन राय चौधरी लिखते हैं *'इतिहास में जिसे अजातशत्रु, कुणिक या अशोकचन्द नाम से जाना जाता है, उसी कृतघ्न पुत्र ने अपने पिता को मौत के घाट उतार दिया।'* यह पिता विम्बिसार था और पितृहंता पुत्र अजातशत्रु। महावग्ग अजातशत्रु के एक भाई का नाम 'अभय' बताता जाता है। थेरागाथा में शीलवंत और विभक्त कोण्डन्न का जिक्र आता है। दर्शक नाम से ख्यात एक भाई और था परन्तु इस प्रचण्ड प्रतापी अजातशत्रु के भय से सम्भवत: इसके भाइयों ने भिक्षु-धर्म स्वीकार कर लिया था।

संयुक्त निकाय से यह ज्ञात होता है कि वह कौशलदेवी का पुत्र था, जो प्रसेनजित की बहन भी थी। हालांकि जैन साक्ष्य उसे 'विदेही पुतो' कहते हैं, जिसके आधार पर एक अनुमान वैशाली राजा चेटक की पुत्री चेलना का पुत्र मानता है।

काल तय करने में कुछ विवाद के दर्शन होते हैं मसलन डॉ० आर० के० मुखर्जी विम्बिसार का शासन काल 603 ई०पू० से 551 ई०पू० तक मानते हैं। स्मिथ 582 ई०पू० से 554 ई०पू० तक मानते हैं। इसी तरह अजातशत्रु का शासन काल 551 ई०पू० से 519 ई०पू० तक भी माना गया है। एक मत यह भी प्रतिपादित करता है कि 490 ई०पू० में अजातशत्रु का राज्यारोहण हुआ। चीनी डाटेड रिकार्ड के आधार पर बुद्ध निर्वाण की तिथि 487 ई०पू० रखी जा सकती है। बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के शासन काल के आठवें वर्ष में हुई। विम्बिसार ने चूंकि 52 वर्ष राज्य किया था और इसमें अजातशत्रु की शासनावधि के भी 8 वर्ष जोड़ने पर (52+8=60) साठ वर्ष होता है, यानी बुद्ध के निर्वाणप्राप्ति के 60 पूर्व वर्ष विम्बिसार का राज्यारोहण माना जा सकता है तो तिथि बैठती है 547-46 वर्ष ई०पू०। इस तरह 52 वर्षों के शासनकाल के बाद अजातशत्रु को रखा जा सकता है।

विनय पिटक इत्यादि बौद्ध ग्रन्थों में यह वर्णित है कि देवदत्त के उसकावे के प्रभाव में अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या का षडयंत्र रचा। हालांकि कालान्तर में उसे गहरा पश्चाताप हुआ। 'सामञ्ञफलसुत्त' से भी यह विदित होता है कि 'अजातशत्रु ने भगवान बुद्ध के समक्ष अपने पाप को स्वीकार किया एवं तत्पश्चात् बुद्ध ने भविष्य में किसी पापकर्म से दूर रहने की हिदायत के साथ उसे क्षमा कर दिया।

खैर, शासन सत्ता उसने जैसे भी हासिल की हो, शासक वह बेहतर साबित हुआ। राजतंत्री व्यवस्थाओं में एक जंगजू ही राजा हो सकता था। कोई राजा युद्ध नहीं कर सकता था तो रियाया उसे 'राजा' नहीं

भी मान सकती थी। देखना यह होगा कि दुर्घर्ष साम्राज्यवादी अजातशत्रु का शासन कैसा रहा।

यह तो सर्वविदित है कि युद्ध, कूटनीति, वैवाहिक सम्बन्ध, इत्यादि तत्कालीन भारत के राजनय का प्रमुख हिस्सा थे, लेकिन यही शुरूआत थी 'भारत' के बनने की। राय चौधरी का मानना है कि मगध राष्ट्र के लोगों की मुख्य विशेषता उनके व्यवहार का लचीलापन थी। यह विम्बिसार के शासन में भी परिलक्षित होता है, जब जैन-बौद्ध एवं ब्राह्मण विचारधारायें यह तय नहीं कर सकी कि वे किसके साथ था। दरअसल एक राजा को सबके साथ होना चाहिए। अजातशत्रु भी सभी मत-वादों के प्रति सहिष्णु था, व्यक्तिगत धर्म उसका चाहे जो भी रहा हो। जो आज के भारत की सांस्कृतिक पहचान है- वह सदियों पहले मगध में आकार ले चुकी थी। बहरहाल इतना तय है कि महान योद्धा अजातशत्रु ने इतिहास के कुछ फैसलाकुन युद्धों में विजयश्री हासिल की थी जिससे उसकी यश-पताका तो लहराई ही, मगध साम्राज्य भी 'साम्राज्य' के प्रामाणिक अर्थों में एक साम्राज्य हुआ।

सर्वप्रथम युद्ध कोशल से हुआ। यह सुपरिचित तथ्य है कि महान मगध साम्राज्य के संस्थापक विम्बिसार के साथ कोशल नरेश प्रसेनजित ने अपनी बहन कोशल देवी का विवाह किया था। जब अजातशत्रु के द्वारा विम्बिसार की हत्या हो गई तो पति वियोग में व्यथित कोशलदेवी ने भी अपने प्राण त्याग दिए। इस घटना से क्षुब्ध हो प्रसेनजित ने 'काशीग्राम' पर अधिकार कर लिया। विदित हो कि यही काशीग्राम प्रसेनजित ने अपनी बहन के विवाह के अवसर पर उसके निजी साज-श्रृंगार या अन्यान्य खर्चों की खातिर दहेज स्वरूप मगध को दे दिया था। काशीग्राम पर अधिकार को लेकर हुए युद्ध का वर्णन संयुक्त निकाय आदि में भी आया है जिसमें बताया गया है कि शुरू में प्रसेनजित की हार हुई तथा उसे मजबूरन किसी माली के घर में शरण लेनी पड़ी थी। उस माली की पुत्री मल्लिका से इसी दौरान प्रसेनजित की रागात्मकता बढ़ी और अन्ततोगत्वा यह प्रेम सम्बन्ध विवाह में परिणत हुआ। अजातशत्रु और प्रसेनजित के मध्य युद्धों का यह सिलसिला लम्बा चला और जय-पराजयों का भी। अजातशत्रु अपने पिता से भी अधिक और महत्त्वाकांक्षी सम्राट था। वह काशीग्राम, जिसका राजस्व एक लाख सलाना था, यूँ ही हाथ से नहीं जाने देना चाहता था। परन्तु हार-जीत के सिलसिलों में अजातशत्रु की निर्णायक हार हुई लेकिन इसे भी उसने निर्णायक जीत में तब्दील कर लिया। ऐसा कहा जाता है कि बन्दीगृह में रहने के दौरान प्रसेनजित की लड़की वाजिरा के साथ अजातशत्रु का प्रेम सम्बन्ध विकसित हुआ और इस प्रसंग के ज्ञात होते ही प्रसेनजित ने अजातशत्रु से अपनी बहन का विवाह करते हुए उसे मुक्त भी किया और पुन: काशीग्राम दहेज स्वरूप मगध को लौटा दिया। एक बार फिर वैवाहिक सम्बन्ध ने मगध की पश्मिोत्तर सीमा सुरक्षित कर दी। तत्पश्चात उसने उत्तरी सीमा की ओर ध्यान दिया।

मगध के उत्तर मल्ल एवं लिच्छवि गणराज्य अवस्थित थे। वैशाली का वज्जिसंघ भी तत्कालीन परिस्थितियों के हिसाब से पर्याप्त प्रभुतासम्पन्न गणराज्य था। विम्बिसार के काल में भी गंगा पार के पड़ोसी राज्य पर इनके दावे होते रहते थे। इसीलिए उसने वैवाहिक सम्बन्ध बना कर इनकी मित्रता हासिल कर ली थी। एक समय तो 9 मल्ल, 9 लिच्छवि, काशी एवं कौशल के 18 शासकों का एक संगठन मगध के विरुद्ध आकार ले चुका था। बहुत सम्भव है कि इसी तरह का कोई संगठन अजातशत्रु के लिए भी परेशानियों का सबब बना होगा और अपनी विस्तारवादी नीति के परिपालन हेतु उसने वज्जिसंघ को छिन्न-भिन्न किया होगा।

जैनग्रन्थ 'उवासगदसाव' एवं 'निरयावलिसूत्र' से यह अभिज्ञात होता है कि वैशाली की लिच्छवि राजकुमारी से विम्बिसार को दो पुत्र उत्पन्न हुए- हल्ल और बेहल्ल। विम्बिसार ने उन्हें अपना प्रिय हाथी सेपगण या सेचनक और 18 लड़ियों का एक अत्यंत कीमती हार उपहार स्वरूप प्रदान किया था।

परन्तु राजा बनते ही अजातशत्रु ने अपने भाइयों से उक्त उपहारों को लौटाने सम्बन्धी फरमान जारी कर दिया। हल्ल और बेहल्ल ने ऐसे किसी भी आदेश को मानने से इनकार कर दिया एवं अपने नाना चेटक के यहाँ पलायित हो गए। ऐसी स्थिति में अजातशत्रु अब एक तरह से बाध्य था वैशाली पर आक्रमण करने के लिए।

बौद्धग्रन्थ 'सुमगलविलासिनी' में मगध एवं वज्जिसंघ के बीच बहती गंगा नदी पर स्थित एक बन्दरगाह एवं उसके इर्द-गिर्द स्थित खदानों पर अधिकार को लेकर तनाव को युद्ध का कारण बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि पूर्व की शर्तों पर समझौते के आधार पर आधे-आधे हिस्से पर बराबरी का अधिकार दोनों राज्यों का था। परन्तु काफी दिनों से वज्जिसंघ समझौते की अवहेलना करते हुए अपना एकाधिकार बनाए हुए था, जिसके फलस्वरूप अजातशत्रु ने अपने पौरुष एवं पराक्रम तथा शस्त्रों के बल पर इस मामले का निपटारा करने की ठानी।

सुगन्धित द्रव्य, सोने की खान या नदी जल युद्ध का कारण माने जा सकते हैं। परन्तु दोनों राज्यों के जीवन एवं राजनीतिगत दर्शन एवं प्रणालियों में पर्याप्त मतभेद था, एक कारण यह भी रहा हो सकता है। मगध राजतंत्र था तो वज्जिसंघ गणराज्य थे। गणराज्यों में जहाँ सभी राज्यों में परस्पर सहयोग एवं विकास की भावना निहित थी, वहीं मगध का साम्राज्यवादी दृष्टिकोण सारे राज्यों की कीमत पर विस्तार चाहता था।

लिच्छवी उन दिनों अपनी शक्ति के शिखर पर थे। बुद्ध ने हमेशा उनकी प्रशंसा की है; उन्हें अजेय बताया है क्योंकि वे अपराजेय होने की सारी शर्तें पूरी करते थे- पूर्णता के साथ और लगातार सभाएँ बुलाते रहना, परामर्श और नीतियों में एकरूपता रखना, परम्पराओं, रीतियों-नीतियों का अनुपालन; वृद्धों, स्त्रियों एवं संयासियों का सम्मान। बुद्ध लिच्छवियों से भली-भांति परिचित थे, संघों की कार्यप्रणाली के ही आधार पर बुद्ध ने अपने धम्मसंघ के भी अधिकांश नियम बनाए। उन्हीं बुद्ध के पास अजातशत्रु ने अपने चतुर एवं सुजान मंत्री वस्सकार को भेजा ताकि वज्जिसंघ की कोई कमजोर कड़ी मिले और उन्हें परास्त किया जा सके। बुद्ध की राय थी कि उन्हें किसी भी तरह परास्त नहीं किया जा सकता। उन्हें सिर्फ उपहार इत्यादि देकर संतुष्ट किया जा सकता है या फिर उनके संघ में भेद डालकर उन्हें कमजोर किया जा सकता है। हालांकि यह आश्चर्यजनक है कि लिच्छवियों के घोर प्रशंसक बुद्ध ने उनकी पराजय एवं उनके उन्मूलन के रास्ते क्यों किसी को बताए। यद्यपि सीधे-सीधे बुद्ध ने तो लिच्छवियों की प्रशंसा ही की परन्तु यदि उसमें से कुटिल कूटनीति के विशेषज्ञ वस्सकार ने अपने काम लायक जानकारी निकाल ली तो यह उसकी अपनी क्षमता थी। यह भी हो सकता है कि गणराज्यों की उपयोगिता एक राष्ट्र के निर्माण में उतनी प्रभावशाली न रह गई हो। वे अपनी परम्पराओं को लेकर रूढ़ हो चले होंगे और सबसे बढ़ कर यह कि एकता के सूत्र में निबद्ध एक राष्ट्र धीरे-धीरे छठी शताब्दी ई० पू० में एक जरूरत बनता जा रहा था। चूंकि बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ छठी शताब्दी ई० पू० के भौतिक अवशेषों, उत्पादों एवं अन्यान्य जरूरतों के बेहतर प्रबन्धक के हिसाब से एकदम अनुकूल बैठती थी, और तत्कालीन उत्पादन प्रविधियाँ एवं अधिशेष की उपलब्धता एक बड़े साम्राज्य को जरूरी बना रहे थे, अत: बुद्ध भी जाने-अनजाने उसमें सहयोगी रहे हों, तो आश्चर्य क्या।

बहरहाल, एक झूठी सूचना कि वस्सकार का उसके अपने सम्राट अजातशत्रु से झगड़ा हो गया है और वह प्राणरक्षा के निमित्त वज्जिसंघ की शरण में आया है के आधार पर लिच्छवियों के यहाँ आश्रय पाने में सफल रहा और यही नहीं मात्र तीन वर्षों के अन्दर, अपने स्वामी के आदेशानुसार उपलायन (कूटनीति) एवं मिथुभेद (संघभेद) की नीति पर अमल करते हुए उसने वज्जियों की अटूट एकता में

सेंध लगा ही दी। परिणामत: सुअवसर पाते ही जब अजातशत्रु ने आक्रमण किया तो लिच्छवि प्रतिरोध ही नहीं कर सके। 'उवासगदसाव' से पता चलता है कि इस युद्ध में 'रथभूसतु' और 'महाशिलाकण्टग' जैसे शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ था। 'महाशिलाकण्टग' तो एक तरह का प्रक्षेपास्त्र था जिससे बड़े-बड़े पत्थर इत्यादि शत्रुसेना पर फेंके जाते थे, और 'रथभूसतु' के बारे में होर्नल का अभिमत है कि यह एक प्रकार का स्वचालित यंत्र था।

महापरिनिर्वाण सुत्त और महावग्ग में युद्ध सम्बन्धी कुछ जरूरी जानकारियाँ दर्ज है। मसलन यह कि वज्जियों का सामना करने के लिए मगध को दो सुयोग्य मंत्रियों सुनीथ एवं वस्सकार की देखरेख में एक किला बना, जिसे कालान्तर में पाटलिपुत्र कहा गया। अत्याधुनिक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग एक और बड़ी परिघटना थी। हालांकि 'निरयावलिसुत्त' से एक महत्त्वपूर्ण सूचना और मिलती है कि आजीवक आचार्य मक्खलिपुत्र गोसाल भी इसी युद्ध में खेत रहे थे। रीज डेविहज इस बात की तस्दीक करते हैं कि बड़ा लोमहर्षक युद्ध था और अजातशत्रु ने लिच्छवियों के प्रति कोई नरमी नहीं बरती थी।

अंग, वाराणसी और वैशाली मगध साम्राज्य का हिस्सा बन चुके थे। उत्तर भारत में मध्य गंगा घाटी तक अपनी विजय पताका लहरा चुकने के बाद 'अवन्ति' ही एकमात्र ऐसा राज्य बचा रह गया था जिससे आशंकित रहने के पर्याप्त कारण मगधराज के पास थे। उन्हीं आशंकाओं के मद्देनजर राजधानी राजगृह का दुर्गीकरण भी हुआ था, यह तो मज्झिम निकाय से ज्ञात होता है परन्तु इस उल्लेखमात्र से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि सचमुच ऐसा कोई युद्ध हुआ होगा। इतिहासकार आर०एस० त्रिपाठी भी ऐसे किसी युद्ध के होने को संदिग्ध मानते हैं।

अजातशत्रु के शासन काल की दो और महत्त्वपूर्ण घटनाओं का जिक्र जरूरी है। छठी शताब्दी ई० पू० की वैचारिक क्रांति के दोनों अग्रदूतों, महात्मा बुद्ध एवं महावीर स्वामी का परलोकगमन या निर्वाण अजातशत्रु के शासन काल में ही हुआ। और अपने समय के इन दोनों महान पुरुषों के साथ अजातशत्रु की सन्निकटता एवं संवाद यह दर्शाने के लिए काफी है कि अपने समय की धड़कन को एक साम्राज्यवादी शासक किस प्रकार बखूबी समझता था। शायद तभी इतिहास एक जनप्रिय शासक से रू-ब-रू हो सका, जिस पर आज भी बिहार को गर्व है।

अपने पिता विम्बिसार की ही भांति अजातशत्रु संकीर्ण मतवादों से ऊपर उठा हुआ एक पूर्वाग्रहमुक्त शासक था, जिसने जिदें थोपने की कोशिश कभी नहीं की। प्रारम्भ में जरूर अजात शत्रु का अनुराग जैनधर्म के प्रति था। महावीर स्वामी के दर्शनार्थ उसने वैशाली तक की यात्रा भी की थी। शायद इसी अनुराग के चलते जैनग्रन्थ 'पितृहनन' का पाप उसके सिर नहीं मढ़ते। हालांकि बौद्धग्रन्थ बताते हैं कि देवदत्त के बहकावे में शुरू-शुरू में अजाशत्रु महात्मा बुद्ध का विरोधी रहा था। किन्तु कुछ समय बाद जब उसे अपने इस पापपूर्ण कृत्य पितृहनन पर पश्चाताप हुआ तो उसने भगवान बुद्ध से मिलकर अपने अपराधों की क्षमा मांगी थी और भगवान ने उसे माफ भी कर दिया था। द्वितीय शताब्दी ई० पू० के भरहुत अभिलेख से भी अजातशत्रु एवं भगवान बुद्ध के मिलन की संपुष्टि होती है, 'अजातशत्रु भगवतो वन्दते'। भगवान बुद्ध के निर्वाण प्राप्ति के बाद राजगृह में हुई प्रथम बौद्ध संगीति के लिए अजातशत्रु ने ही वैभार की पहाड़ियों में सभाभवन का निर्माण कराया था। महापरिनिर्वाण सुत्त बताता है कि निर्वाण प्राप्ति के पश्चात उनके अवशेषों को लेकर राजगृह में एक स्तूप बनवाया था। महावंश के हिसाब से तो अजातशत्रु ने राजगृह के चतुर्दिक अपनी आस्था प्रमाणित करते हुए 'धातुचैत्यों' का निर्माण कराया। 18 महाविहारों की मरम्मत का श्रेय भी उसे ही जाता है।

महान मगध साम्राज्य का सर्वाधिक प्रतापी सम्राट भारतीय इतिहास के गौरवशाली अतीत का स्वर्णाक्षरों में

लिखा गया एक ऐसा पन्ना है, जिसे बार-बार पढ़े जाने की जरूरत है कि 'प्रजासुखेसुखम् राजः' की भावना किसी राजा को कितना उदात्त बनाती है। जिस बुद्ध की हत्या के फरमान पर अपनी मुहर लगा चुका था, उसी बुद्ध का परम भक्त साबित हुआ अजातशत्रु; क्योंकि मानवता के कल्याण के लिए, अच्छे शासन के लिए यही जरूरी था। आज भी जिस विचार की भूमिका केन्द्रीय है, सामाजिक परिवर्तनों में, उस क्रांतिकारी विचार के साथ होना आज से ढ़ाई हजार साल पहले अपने आप में क्रांति थी। अजातशत्रु ने ऐसा किया।

राजवैद्य जीवक

–युगल किशोर बौ(

प्रात: काल होने को था। पक्षियों का मधुर कलरव (गानें) आरम्भ हो चुका था। रात्रि का अंधेरा क्लान्त होकर विश्राम के लिए जाने को तैयार था। उसे बस सूर्य की लालिमापूर्ण किरण की प्रतीक्षा थी। तभी एक कोने में कूड़े के ढेर पर एक नवजात शिशु का रूदन गूंजित हो उठा। सम्भवत: कुछ ही समय पूर्व कोई उस बालक को कपड़े से लपेटकर वहाँ छोड़ गया था।

राजगृह के कुछ निवासी प्रात: काल की सैर के लिए अपने निवासों से निकलकर उधर से गुजर रहे थे। बहुत से नागरिक वहाँ खड़े होकर उस बालक की चर्चा कर रहे थे। अब सूर्य की लाल-लाल किरणें प्रकाश बिखेरने लगी थीं। उसी प्रकाश में उस सुन्दर बालक का गौर वर्ण मुखमंडल दिखाई दे रहा था। कोई कह रहा था, “कैसी निर्दयी माँ होगी, जिसने अपने हृदय के टुकड़े को इस प्रकार फेंक कर इसे मृत्यु को सौंप दिया है।” एक अन्य व्यक्ति कह रहा था, “किसी कुमारी कन्या ने अपना पाप छिपाने के लिए अपने ही पुत्र को त्याग दिया है।” उसी समय घोड़े पर सवार अभय-राजकुमार उधर से गुजरे। उन्होंने कौवों से घिरे तथा कपड़े में लिपटे हुए उस नवजात शिशु को वहाँ पड़ा देख कर पूछा-

“भाई! यह कौवों से घिरा क्या है?”

“देव! बच्चा है! कोई फेंक गया है!”

“जीवित है क्या ?”

“हाँ देव! जीवित है।”

“अरे तुम कैसे लोग हो? उस नि:सहाय शिशु की सहायता करने की जगह तुम कोरी बातों में लगे हो। जाओ इस बच्चे को ले जाकर हमारे अन्त:पुर (महल) में दासियों को पालने-पोसने के लिए दे आओ।”

“अच्छा देव” कहकर लोग उस शिशु को अन्त:पुर में दासियों को पालने-पोसने के लिए दे आए। “जीता (जीवित) है” कहने से उस शिशु का नाम जीवक रखा गया। कुमार ने पाला-पोसा था, इसलिए उसका नाम जीवक कौमार-भृत्य हो गया।

उस समय राजगृह की परम रूपवती गणिका सालवती अपने भवन में बैठी हुई आँसू बहाती हुई रो रही थी। उसने अपने उस नवजात शिशु को एक दासी द्वारा कूड़े के ढेर पर रखवाया था। उसे भय था कि यदि लोगों को पता चल गया कि वह गर्भिणी रही और उसने एक पुत्र को जन्म दिया तो उसका सत्कार चला जाएगा और उसके व्यवसाय को हानि का सामना करना पड़ेगा।

उन दिनों वैशाली की गणिका अम्बपाली अतिदर्शनीय, परम रूपवती, नाच, गीत और वाद्य में प्रवीण थी। वह चाहने वाले मनुष्यों के पास पचास कार्षापण (सिक्के) लेकर रात्रि के लिए जाया करती थी। उससे वैशाली शोभित थी। वह वैशाली की महत्त्वपूर्ण दर्शनीय वस्तुओं में से एक थी। एक बार राजगृह का राज अधिकारी किसी कार्य से वैशाली गया। उसने वहाँ उस रूपसी अम्बपाली को देखा तो ठगा-सा रह गया। अपना कार्य पूरा करके वह राजगृह लौट आया। वह जहाँ मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार थे, वहाँ गया और बोला-

"देव! वैशाली समृद्धशाली है और अद्वितीय रूपवती अम्बपाली गणिका से सुशोभित है। अच्छा हो देव! हम भी राजगृह में कोई गणिका रखें।"

"तो भणे! तुम वैसी ही कुमारी ढूँढ़ो, जिसको तुम गणिका रख सको।"

उस समय राजगृह में सालवती नामक कुमारी अभिरूप दर्शनीय, परम रूपवती और आकर्षणयुक्त थी। उसे राजगृह की गणिका बना दिया गया। सालवती अल्पकाल में ही नाच, गीत और वाद्य में प्रवीण हो गई। वह चाहनेवाले मनुष्यों से एक रात्रि के लिए सौ कार्षापण (सिक्के) लेती थी। वह गणिका कुछ ही समय पश्चात् गर्भवती हो गई। उसने विचार किया कि गर्भिणी गणिका का कौन सत्कार करेगा। क्यों न मैं बीमार बनकर घर में पड़ जाऊँ। उसने द्वारपाल को आज्ञा दी-

"हे द्वारपाल! यदि कोई पुरुष आए और मेरे बारे में मुझे पुछे तो कह देना सालवती बीमार है।"

"अच्छा देवी, ऐसा ही कहूँगा।"

गर्भ के परिपक्व होने पर सालवती ने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। उसने दासी को आदेश दिया-

"दासी! इस बच्चे को कचरे के सूप में रखकर कूड़े पर छोड़ आ।"

"अच्छा स्वामिनी! जाती हूँ।"

वह दासी बच्चे को कचरे के सूप में लपेटकर प्रात:काल अंधेरे में बहुत सावधानी से कूड़े के ढेर पर रख आई। इसी शिशु को अभय-राजकुमार ने अपने अन्त:पुर में पाला-पोसा था। अत: उस बालक का नाम जीवक कौमार-भृत्य पड़ गया। बड़ा होने पर जीवक बहुत बुद्धिमान हुआ। एक दिन वह जहाँ अभय-राजकुमार थे, वहाँ गया, जाकर राजकुमार से बोला-

"देव! मेरी माता कौन है, मेरा पिता कौन है?"

"वत्स जीवक! मैं तेरी माँ को नहीं जानता और मैं तेरा पिता हूँ, मैंने तुझे पाला-पोसा है।"

तब जीवक कौमार-भृत्य ने विचार किया-

"राजकुल अभिमानी होता है। मेरा भविष्य अनिश्चित है। बिना किसी शिल्प के जीविका चला पाना कठिन होगा। क्यों न मैं शिल्प सीखूँ।" उस समय तक्षशिला में एक दिगन्त प्रसिद्ध वैद्य रहता था। जीवक ने उसी के पास जाने का निर्णय लिया। वह अभय-राजकुमार से बिना पूछे, जिधर तक्षशिला थी, उधर चला गया। तक्षशिला पहुँचकर वह उस वैद्य के पास गया और बोला-

"आचार्य! मैं शिल्प सीखना चाहता हूँ।"

"ठीक है वत्स! सीखो।"

जीवक कौमार-भृत्य बहुत परिश्रम से पढ़ता था और जो भी उसे बताया जाता था, उसे जल्दी धारण कर लेता था। इस प्रकार पढ़ते हुए उसे सात वर्ष बीत गए, किन्तु उस शिल्प का कहीं अंत दिखाई नहीं देता था। "कब इस शिल्प का अंत जान पड़ेगा? मुझे पढ़ते हुए इतना लम्बा समय हो चुका है," वह सोचा करता था। एक दिन वह वैद्य से बोला-

"आचार्य! मैं बहुत पढ़ता हूँ। पढ़ते हुए सात वर्ष बीत चुके हैं। कब इस शिल्प का अंत जान

पड़ेगा?"

"तो वत्स जीवक! खनती (खुर्पी) लेकर तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर घूमकर जो भी वनस्पति दवा के अयोग्य देखो, उसे ले आओ।"

"अच्छा आचार्य।" कह जीवक खनती लेकर चल दिया। वह तक्षशिला के चारों ओर दवा के अयोग्य वनस्पति को ढूँढ़ता रहा, किन्तु उसे दवा के अयोग्य कुछ भी न मिला। सारा दिन बीत गया। वह लौटकर वैद्य के पास पहुँचा और बोला-

"आचार्य! तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर मैं घूम आया, किन्तु दवा के अयोग्य कुछ भी नहीं देखा।"

"सीख चुके, जीवक! यह तुम्हारी जीविका के लिए पर्याप्त है", कहकर आचार्य ने जीवक कौमार-भृत्य को मार्ग के लिए पाथेय (राह खर्च) दिया और उसे विदा किया। तब जीवक उस स्वल्प पाथेय को ले, जिधर राजगृह था, उस ओर चल पड़ा। जीवक का वह पाथेय मार्ग में साकेत (वर्तमान अयोध्या) आने पर समाप्त हो गया। तब जीवक सोचने लगा-"अन्न-पान रहित जंगली रास्ते में, बिना पाथेय (मार्ग खर्च और खाद्य-पदार्थ) के जाना दुष्कर होगा, क्यों न मैं पाथेय ढूढूँ।"

उस समय साकेत के श्रेष्ठी (नगर सेठ) की भार्या (पत्नी) को सात वर्षों से सिरदर्द था। बहुत बड़े-बड़े विख्यात वैद्य आकर उस सेठानी को निरोग नहीं कर सके और बहुत सी अशर्फियाँ (हिरण्य) लेकर चले गए। जब जीवक ने साकेत में प्रवेश कर पनघट पर बतियाती महिलाओं की बातें सुनकर जाना कि इस नगर के सेठ की पत्नी बीमार है। उसने उनसे पूछा तो बोलीं-

"आचार्य! इस श्रेष्ठी-भार्या (सेठानी) को सात वर्ष से सिरदर्द है। आचार्य! जाओ श्रेष्ठी-भार्या की चिकित्सा करो।"

जब जीवक कौमार-भृत्य ने जहाँ श्रेष्ठी गृहपति का मकान था, वहाँ जाकर दौवारिक (द्वारपाल) को कहा कि वह जाकर श्रेष्ठी-भार्या को कहे कि एक वैद्य आया है और उन्हें देखना चाहता है।

"अच्छा आर्य!" कहकर, वह द्वारपाल श्रेष्ठी-भार्या के पास जाकर बोला-

"स्वामिनी! एक वैद्य आया है, वह तुम्हें देखना चाहता है।"

"कैसा वैद्य है?"

"तरूण है।"

"तरूण वैद्य मेरी क्या चिकित्सा करेगा? बहुत बड़े-बड़े दिगन्त विख्यात आए और मेरी चिकित्सा नहीं कर पाए।"

द्वारपाल ने जाकर राजवैद्य जीवक को वैसा ही बता दिया।

जीवक ने कहा-

"जाकर सेठानी से कहो कि वैद्य कहता है पहले कुछ मत देना, जब निरोग हो जाना, तब जो चाहे सो दे देना।"

द्वारपाल पुनः सेठानी के पास पहुँचा और वैद्य ने जो कहा था, वही बता दिया। सेठानी ने जीवक को

भवन के अंदर बुलवा लिया। जाँच करने पर जीवक ने रोग पहचान लिया और सेठानी से बोला कि उसे चिकित्सा के लिए पसर भर घी चाहिए।

सेठानी ने जीवक को पसर भर घी दिलवाया। जीवक ने उस घी को नाना प्रकार की दवाइयों के साथ पकाकर, सेठानी को चारपाई पर लिटवाया और उसके नथुनों में घी दे दिया। नाक से दिया गया वह घी मुख से निकल पड़ा। सेठानी ने पीकदान में थूककर, दासी को आज्ञा दी-

"दासी! इस घी को बर्तन में भर ले।"

तब जीवक कौमार-भृत्य को आश्चर्य हुआ- "यह गृहिणी भी कितनी कृपण (कंजूस) है, जो इस फेंकने योग्य घी को बर्तन में रखवाती है। मेरी बहुत सी मूल्यवान औषधियाँ इस घी में मिली हैं, यह सेठानी इसके लिए क्या देगी?"

सेठानी बहुत चतुर थी। उसने जीवक के भाव को ताड़ लिया।

वह बोली- "आचार्य! तू किसलिए उदास है?"

जीवक ने अपने मन के भाव प्रकट कर दिए। सेठानी ने कहा कि वह गृहणी है और संयम को जानती है। यह घी दासों, काम करने वालों के पैर में मलने और दीपक में डालने के लिए अच्छा रहेगा। उसने जीवक को आश्वासन दिया कि वह उदास न हो उसे जो देना है, उसमें कमी नहीं आएगी।

तब जीवक ने सेठानी के सात वर्ष पुराने सिरदर्द को चिकित्सा द्वारा ठीक कर दिया। सेठानी ने निरोग हो जाने पर जीवक को चार हजार स्वर्ण मुद्राएँ दीं। पुत्र ने यह सोचकर कि मेरी माता को निरोग कर दिया है, चार हजार स्वर्ण मुद्रा दिया। बहू ने भी यह सोचकर कि मेरी सास को इन्होंने निरोग कर दिया, चार हजार एक दास, एक दासी और एक घोड़े का रथ दिया। तब जीवक कौमार-भृत्य ने उन सोलह हजार स्वर्ण मुद्राएं, दास, दासी और अश्वरथ को लेकर, जहाँ राजगृह था, उस ओर प्रस्थान किया। कुछ दिनों बाद वह जहाँ राजगृह और जहाँ अभय-राजकुमार था, वहाँ पहुँच गया। जाकर अभय-राजकुमार से बोला-

"देव! यह सोलह हजार स्वर्ण मुद्रा, दास, दासी और अश्वरथ मेरे काम का फल है। इसे देव! पोसाई (पौसवानिक) में स्वीकार करें।"

"नहीं, वत्स जीवक! यह तेरा ही रहे। हमारे ही अन्त:पुर (हवेली) की सीमा में मकान बनवा।"

"अच्छा देव!" कहकर, जीवक ने अभय-राजकुमार के अन्त:पुर में मकान बनवा लिया।

जीवक कौमार-भृत्य का दूसरा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रोगी स्वयं राजा बिम्बिसार थे। उस समय उन मगध राज बिम्बिसार को भगन्दर का रोग था। उनकी धोतियाँ (साटक) खून से सन जाती थीं। देवियाँ (रानियाँ) देखकर परिहास करती थीं- "इस समय देव ऋतुमती हैं, देव को फूल उत्पन्न हुआ है, जल्दी ही देव प्रसव करेंगे।" यह सुनकर राजा चुप रह जाया करते थे। बिम्बिसार ने अभय-राजकुमार से कहा-

"प्रिय अभय! मुझे ऐसा रोग है, जिससे धोतियाँ खून से सन जाती हैं। देवियाँ देखकर परिहास करती हैं। अभय! ऐसे वैद्य को ढूँढ़ो, जो मेरी उचित चिकित्सा करे।"

तब अभय-राजकुमार ने जीवक को आज्ञा दी-

"वत्स जीवक! जाओ और राजा की चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव!" कहकर, जीवक कौमार-भृत्य नख में दवा लेकर, जहाँ राजा बिम्बिसार थे वहाँ गया। जाकर राजा बिम्बिसार से बोला-

"देव! रोग को देखूँगा।"

जीवक ने राजा बिम्बिसार के भगन्दर रोग को एक ही लेप से निकाल दिया। तब राजा बिम्बिसार ने निरोग हो, पाँच सौ स्त्रियों को सब अलंकारों (गहनों) से अलंकृत-भूषित कर, फिर उन आभूषणों को उतरवाकर बंधवाया और जीवक को कहा-

"भणे (वत्स) जीवक! यह पाँच सौ स्त्रियों का आभूषण तुम्हारा है।"

"यही पर्याप्त होगा कि देव मेरे उपकार को स्मरण रखें," जीवक बोला।

"तो भणे (वत्स) जीवक! मेरा उपस्थान (सेवा चिकित्सा द्वारा) करो, रनवास और बुद्ध प्रमुख भिक्खुसंघ का भी उपस्थान (चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव!" कहकर, जीवक ने बिम्बिसार का आदेश स्वीकार किया।

उस समय राजगृह का एक श्रेष्ठी (सेठ) बहुत दुखी था। उसके सिर में सात वर्ष से दर्द चला आ रहा था। अनेक बड़े-बड़े विख्यात वैद्य आए, किन्तु वे श्रेष्ठी का दर्द दूर नहीं कर पाए और बहुत-सा अशर्फियाँ लेकर चले गए। जाने से पूर्व उनमें से कुछ यह वैद्य कह कर गए कि श्रेष्ठी सातवें दिन मर जाएगा। राजगृह के एक अधिकारी ने विचार किया कि यह श्रेष्ठी राजा तथा अधिकारियों की बहुत सेवा करने वाला है। इसका मर जाना बहुत अहितकार होगा। अच्छा रहेगा यदि राजा के तरूण वैद्य जीवक को चिकित्सा के लिए बुलाया जाए। वह राज अधिकारी वहाँ गया, जहाँ राजा बिम्बिसार थे और उनसे निवेदन किया-

"हेदेव! यह रोगी श्रेष्ठी देव का भी और नैगम का भी, बहुत काम करने वाला है। अच्छा हो, देव जीवक वैद्य को श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा के लिए आज्ञा दें।"

तब राजा बिम्बिसार ने जीवक कौमार-भृत्य को आज्ञा दी-

"जाओ, भणे जीवक! श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव!" कह जीवक श्रेष्ठी गृहपति के यहाँ गया। उसका विकार (रोग) पहचानकर, श्रेष्ठी गृहपति से बोला-

"गृहपति! यदि मैं तुझे निरोग कर दूँ, तो मुझे क्या दोगे?"

"आचार्य! यह सब धन तुम्हारा हो, और मैं तुम्हारा दास।"

"गृहपति! क्या तुम एक करवट से सात मास लेटे रह सकते हो?"

"आचार्य! मैं एक करवट से सात मास लेटे रह सकता हूँ।"

"गृहपति! क्या तुम दूसरी करवट से सात मास लेटे रह सकते हो?"

"आचार्य! हाँ, लेटे रह सकता हूँ।"

"गृहपति! क्या उतान सात मास तक लेटे रह सकते हो?"

"हाँ, लेटे रह सकता हूँ।

तब जीवक ने गृहपति को चारपाई पर लिटाकर चारपाई से बाँध दिया। उसने सिर की चमड़ी को फाड़कर खोपड़ी खोली और दो जन्तु (कीड़े) निकालकर लोगों को दिखाए और बताया- "देखो ये जन्तु हैं। एक बड़ा है और दूसरा छोटा, जो आचार्य यह कहते थे कि श्रेष्ठी गृहपति पाँचवें दिन मर जाएगा, उन्होंने इस बड़े जन्तु को देखा था, पाँच दिन में यह गृहपति की गुद्दी चाट लेता, गुद्दी के चाट लेने पर श्रेष्ठी मर जाता। उन आचार्यों ने ठीक देखा था। जो आचार्य यह कहते थे कि श्रेष्ठी सातवें दिन मरेगा, उन्होंने इस छोटे जन्तु को ही देखा था।"

खोपड़ी के खोल को यथास्थान रखकर, सिर के चमड़े को सीकर, जीवक ने लेप कर दिया। तब श्रेष्ठी गृहपति ने जीवक से कहा-

"आचार्य! मैं एक करवट से सात मास नहीं लेट सकता।"

"गृहपति! तुमने मुझे क्यों कहा था कि मैं सात मास तक लेट सकता हूं?"

"आचार्य! यदि मैंने कहा भी था, तो अब मर भले ही जाऊँ, किन्तु मैं एक करवट से सात मास तक लेटे नहीं रह सकता।"

"तो गृहपति! दूसरी करवट से सात मास लेटो।"

तब श्रेष्ठी ने सप्ताह बीतने पर जीवक से कहा

"आचार्य! मैं दूसरी करवट से सात मास नहीं लेट सकता।"

"गृहपति! तुमने मुझे क्यों कहा था कि मैं सात मास उतान नहीं लेट सकता हूँ?"

"आचार्य! यदि मैंने कहा भी था, तो मर भले ही जाऊँ, किन्तु मैं उतान सात मास नहीं लेटा रह सकता।"

"गृहपति! यदि मैंने यह न कहा होता, तो तू इतना भी न लेटता! मैं जानता था कि श्रेष्ठी तीन सप्ताह में निरोग हो जाएगा। उठो गृहपति। निरोग हो गए। जानते हो, मुझे क्या देना है?"

"आचार्य! सब धन तुम्हारा और मैं तुम्हारा दास"

"बस गृहपति! सब धन मेरा मत हो और तुम मेरे दास। राजा को सौ हजार दे दो और सौ हजार मुझे।"

तब गृहपति ने निरोग हो सौ हजार राजा को दिया और सौ हजार जीवक कौमार-भृत्य को।

शल्य चिकित्सा (सर्जिकल ऑपरेशन) का यह एक श्रेष्ठ प्राचीन उदाहरण है। बुद्ध काल का यह राजवैद्य जीवक कौमार-भृत्य राजगृह का ही नहीं, अपितु सारे भारत का गौरव था।

एक और भी स्मरणीय घटना है। उस समय बनारस के श्रेष्ठी (नगर सेठ) के पुत्र को मक्खचिका (=सिर के बल घुमरी काटना) खेलते समय अंतड़ी में गाँठ पड़ जाने का रोग हो गया था। इस कारण पीसी हुई खिचड़ी (=यागु, यादगु) भी अच्छी तरह नहीं पचती थी, खाया-भात भी अच्छी तरह नहीं

पचता था। पेशाब, पखाना भी ठीक से नहीं होता था। वह श्रेष्ठी-पुत्र कृश, रूक्ष=दुवर्ण, पीला ठठरी भर हर गया था। तब, बनारस के श्रेष्ठी ने विचार किया कि मेरे पुत्र को ऐसा रोग है, जिसका कोई उपचार नहीं है। क्यों न मैं राजगृह जाकर अपने पुत्र की चिकित्सा के लिए राजा से जीवक को माँगूँ। तब बनारस का श्रेष्ठी राजगृह पहुँचा। वहाँ उसने जाकर राजा बिम्बिसार से याचना की-

"देव! मेरे पुत्र को गम्भीर रोग हो गया है। अच्छा हो यदि देव मेरे पुत्र की चिकित्सा के लिए जीवक वैद्य को आज्ञा दें।"

तब राजा बिम्बिसार ने जीवक को बुलाकर आज्ञा दी-

"मणे (वत्स) जीवक! बनारस जाओ और बनारस के श्रेष्ठी के पुत्र की चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव!" कहकर, जीवक बनारस के लिए चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने श्रेष्ठी के रोगी पुत्र की जाँच की और रोग को पहचान लिया। वहाँ से लोगों को हटवा कनात से घिरवा खम्भों में बंधवा भार्या को सामने कर जीवक ने पेट के चमड़े को फाड़, आँत की गाँठ को निकाला, भार्या (स्त्री) को दिखलाया-

देखो अपने स्वामी का रोग, इसी से जाउर (तरल पदार्थ) पीना भी अच्छी तरह नहीं पचता था।

जीवक ने गाँठ को सुलझाकर अंतड़ियों को भीतर डालकर पेट के चमड़े को सीकर लेप लगा दिया। बनारस के श्रेष्ठी-पुत्र थोड़े ही दिनों में ठीक होकर निरोग हो गया। बनारस के श्रेष्ठी ने 'मेरे पुत्र को निरोग कर दिया' (सोच) जीवक कौमार-भृत्य को सोलह हजार काषार्पण दिया। तब जीवक उन सोलह हजार काषार्पण को लेकर राजगृह लौट आया।

जीवक के अनेक प्रमुख रोगियों में एक रोगी उज्जैन का राजा चण्डप्रद्योत था। वह पाण्डुरोग से पीड़ित था। बहुत से विख्यात वैद्य उसकी चिकित्सा करने के लिए आए, किन्तु असफल रहे। वे केवल अपनी चिकित्सा का शुल्क लेकर चलते बने। अन्त में राजा प्रद्योत ने बिम्बिसार के पास अपना दूत भेजकर अनुरोध किया-

"मुझे देव! ऐसा रोग है। अच्छा हो यदि देव जीवक वैद्य को आज्ञा दें कि वह मेरी चिकित्सा करे।"

तब राजा बिम्बिसार ने जीवक को आज्ञा दी-

"जाओ भणे जीवक! उज्जैन जाकर राजा प्रद्योत की चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव!" कहकर, जीवक उज्जैन पहुँचकर, जहाँ राजा प्रद्योत था, वहाँ गया। जाकर राजा प्रद्योत के रोग को जान कर वह उससे बोला- "देव! घी पकाता हूँ, उसे पिएँ।"

"भणे जीवक! बस घी के बिना अन्य जिससे तुम मुझे निरोग कर सको, उसे करो। घी से मुझे घृणा है।"

तब जीवक ने विचार किया- "इस राजा का रोग ऐसा है, जिससे घी के बिना आराम नहीं आ सकता। क्यों न मैं घी को कषाय-वर्ण, कषाय-गन्ध, कषाय-रस पकाऊँ।" जीवक ने नाना औषधियों से कषाय-वर्ण कषाय-गंध, कषाय-रस घी पकाया। तब जीवक ने सोचा- "राजा की घी पीकर पचते समय उबान्त होता जान पड़ेगा। वह राजा चण्ड (क्रोधी) है, मुझे मरवा न डाले। क्यों न मैं पहले ही ठीक कर रखूँ। जीवक जाकर राजा प्रद्योत को बोला-"

"दैव1 हम लोग वैद्य हैं, विशेष मुहूर्त्त में मूल (जड़ी) उखाड़ते हैं, औषधि संग्रह करते हैं। अच्छा हो, यदि देव बाहनशालाओं और नगरद्वारों पर आज्ञा दे दें कि जीवक जिस वाहन से चाहें, उस वाहन से जाएँ; जिस द्वार से चाहे जाए; जिस समय चाहे, उस समय जाए, जिस समय चाहे, उस समय नगर के भीतर आए।"

तब राजा प्रद्योत ने वाहनागारों और द्वारों पर वैसी ही आज्ञा दे दी, जैसी जीवक ने माँग की थी। समय राजा की भद्रवतिका हथिनी (दिन में) पचास योजन चलने वाली होती थी। जीवक कौमार-भृत्य राजा के पास घी ले गया और बोला-

"देव! कषाय पिएँ।"

राजा को घी पिलाकर जीवक हथिसार में गया और भद्रवतिका हथिनी पर सवार होकर नगर से बाहर निकल भाग लिया। उधर राजा को पिए गए घी से उबान्त हो गया। राजा ने अपने आदमियों से कहा-

"भणे! दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है, जीवक वैद्य को ढूँढों।"

"देव! जीवक भद्रवति हथिनी पर सवार होकर नगर से भाग गया है।"

उस समय दैवी शक्ति से उत्पन्न काक नामक राजा का दास दिन में साठ योजन चलने वाला था। राजा प्रद्योत ने काक दास को आज्ञा दी-

"भणे काक! जा जीवक को लौटा ला। कहना राजा तुम्हें लौटाना चाहते हैं। भणे काक! ये वैद्य लोग बहुत मायावी होते हैं, उसके हाथ का कुछ मत लेना।"

काक तुरन्त चल पड़ा। उसने जीवक को मार्ग में कौशाम्बी में कलेवा (नाश्ता) करते देखा। दास काक ने जीवक से कहा-

"आचार्य! राजा तुम्हें लौटाते हैं।"

"ठहरो भणे काक! जब तक खा लूँ। हन्त भणे काक! तुम भी खाओ।"

"बस आचार्य! राजा ने आज्ञा दी है कि ये वैद्य लोग मायावी होते हैं, उसके हाथ से कुछ मत लेना।"

उस समय जीवक कौमार-भृत्य नख (नाखून) से दवा लगा आँवला खाकर पानी पी रहा था। तब जीवक ने काक से कहा-

"तो भणे काक! आँवला खाओ और पानी पियो।"

काक दास ने सोचा यह वैद्य आँवला खारहा है, पानी पी रहा है। इसके खाने से कुछ भी अनिष्ट (हानि) नहीं हो सकता। उसने आधा आँवला खाया और पानी पिया। उसका खाया हुआ वह आँवला वमन (उल्टी) होकर निकल गया। काक चिन्तित हो उठा। उसने जीवक से पूछा-

"आचार्य! क्या मैं जीवित रहूँगा?"

"भणे काक! डर मत, तू भी निरोग होगा और राजा भी। वह राजा चण्ड (क्रोधी) है, लौटने पर मुझे मरवा न डाले। इसलिए मैं वापस उसके पास नहीं जाऊँगा।" जीवक ने भद्रवतिका हथिनी काक दास को दे दी और तुरन्त राजगृह की ओर चल दिया। राजगृह पहुँचकर, जहाँ राजा बिम्बिसार थे वहाँ गया और उनको सारी घटना कह सुनाई।

"भणे जीवक! अच्छा किया, तूँ वहाँ नहीं गया, वह राजा चण्ड है, तुझे मरवा भी डालता।"

राजा प्रद्योत निरोग हो गया। उसने कौमार-भृत्य के पास अपना दूत भेजा जिसने संदेश दिया- "आचार्य जीवक! तुम्हें राजा बुलाते हैं, वर (इनाम) देंगे।"

"बस आर्य! देव मेरा उपकार याद रखें, यही बहुत है।"

दूत लौट गया। उस समय राजा प्रद्योत को सौ हजार दुशालों में श्रेष्ठ शिवि देश के दुशालों का एक जोड़ा प्राप्त हुआ था। राजा ने उस शिवि के दुशाले को, जीवक के लिए भेजा।

जीवक ने सोचा राजा प्रद्योत ने मेरे लिए शिवि का श्रेष्ठ दुशाले का जोड़ा भेजा है। उन भगवान अर्हत सम्यक्सम्बुद्ध को छोड़ और मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार को छोड़, दूसरा कौन इसके योग्य हो सकता है।

एक बार की घटना है। उस मसय तथागत रोगग्रस्त (रोगयुक्त) था। भगवान ने आनन्द को कहा कि जाओ और जीवक से बोलो कि तथागत जुलाब लेना चाहते हैं। आनन्द जहाँ जीवक था वहाँ गए और बोले-

"आवुस जीवक! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, वे जुलाब लेना चाहते हैं।"

"तो भन्ते आनन्द!" भगवान के शरीर को कुछ दिन स्निग्ध (चिकना) करें।"

तब आयुष्मान् आनन्द ने भगवान के शरीर को कुछ दिन स्निग्ध किया। फिर जीवक को जाकर बताया- "तथागत का शरीर अब स्निग्ध है। अब जैसा उचित समझो, वैसा करो।"

जीवक ने जाकर भगवान को तीस जुलाब के लिए तीन उत्पलहस्त (चम्मच) दवा दी और अभिवादन एवं प्रदक्षिणा कर चला आया। इसके बाद भगवान को पहले दस, कुछ समय बाद फिर दस और अंत में दस जुलाब आए। भगवान ने स्नान किया। जीवक उन्हें जूस पिण्डपात देता रहा। थोड़े ही समय में भगवान का शरीर स्वस्थ हो गया। तब जीवक उस शिवि के दुशाले को लेकर भगवान के पास पहुँचा। जाकर भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे जीवक ने भगवान से कहा-

"मै भन्ते! भगवान से एक वर माँगता हूँ"
"जीवक! तथागत वर के परे हो गए हैं।"
"भन्ते! जो युक्त है, जो निर्दोष है।"
"बोलो, जीवक।"

"भन्ते! भगवान पांसुकूलिक (लत्ताधारी) हैं, और भिक्खुसंघ भी। भन्ते। मेरे लिए यह शिवि का दुशाला जोड़ा, राजा प्रद्योत ने भेजा है। भगवान मेरे इस शिवि के दुशाले को स्वीकार करे और भिक्खुसंघ को गृहस्थों के दिए चीवर (=गृहपति चीवर) की आज्ञा दें।"

भगवान ने शिवि के दुशाले को स्वीकार कर लिया। भिक्खुसंघ को आमन्त्रित कर बोले-

भिक्खुओं! गृहपति चीवर के उपयोग की अनुज्ञा देता हूँ। जो चाहे पांसुकूलिक (लत्ताधारी) रहे। जो चाहे गृहपति चौवर धारण करे (दोनों में किसी से भी संतुष्टि कहता हूँ।

राजगृह के लोगों को जब यह समाचार मिला कि भगवान ने भिक्खुओं के लिए गृहपति (गृहस्थों के लिए गए) चीवर की अनुमति दे दी है तो वे सभी बहुत हर्षित एवं प्रसन्न हो उठे। अब हम दान देंगे,

पुण्य करेंगे, वे कहने लगे। एक ही दिन में राजगृह में कई हजार चीवर प्राप्त हो गए। देहातों (गाँवों) के लोगों ने सुना, तब वे भी कई हजार चीवर दान कर गए। तभी भगवान ने भिक्खुसंघ को ओढ़ने की अनुमति भी प्रदान कर दी।

उस मसय काशीराज (कोसलराज का सगा भाई) ने जीवक कौमार-भृत्य के पास पाँच सौ का क्षौम (=अलसी की छाल का बना कपड़ा) मिश्रित कम्बल भेजा था। तब जीवक उस कम्बल को लेकर वहाँ गया, जहाँ भगवान थे। जाकर भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए जीवक कौमार-भृत्य ने कहा-

"भन्ते! मुझे काशीराज ने यह पाँच सौ का क्षौम कम्बल भेजा है। भन्ते! भगवान तेरे इस कम्बल को ग्रहण करे, स्वीकार करें, जिसमें कि यह चिरकाल तक मेरे हित और सुख के लिए हो।"

भगवान ने कम्बल स्वीकार किया। तब भगवान ने जीवक कौमार-भृत्य को धार्मिक कथा द्वारा समुतेजित सम्प्रहर्षित किया। श्रवण करने के बाद जीवक भगवान को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया। तब भगवान ने इसी सम्बन्ध में, इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कहकर भिक्खुओं को सम्बोधित किया-

"भिक्खुओं! अनुमति देता हूँ कम्बल की।"

जीवक कौमार-भृत्य भगवान बुद्ध के प्रति अत्यधिक श्रद्धवान था। भगवान भी जीवक के गुणों की प्रशंसा करते थे। अपने अपने धम्मोपदेशों में भगवान ने जीवक की सराहना की थी। राजगृह में पधारने पर भगवान बुद्ध वेणुवन में ठहरते थे। जीवक उनके दर्शन करने एवं उपदेश सुनने के लिए वहाँ जाया करता था। जीवक का निवास-स्थान वेणुवन से पाँच-छः मील दूर था। अतः आने-जाने में बहुत समय लग जाता था। उस श्रद्धावान जीवक का एक बहुत सुन्दर अम्बवन (अम्ब उद्यान) था। उसने उसी अम्बवन में भगवन बुद्ध और भिक्खुसंघ के लिए बुद्ध बिहार का निर्माण करवाकर उसे प्रमुख बुद्ध भिक्खुसंघ को दान कर दिया। भगवान अपने भिक्खुसंघ सहित कभी-कभी उस जीवकाराम में आ कर ठहरा करते थे। इससे जीवक को भगवान बुद्ध का धम्मोपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होता रहता था। एक समय भगवान उस जीवकाराम में बारह सौ पचास भिक्खुओं के साथ विहार कर रहे थे। तब रात्रि में जीवक स्वयं अजातशत्रु को लेकर वहाँ आया था। भगवान ने अजातशत्रु को धम्मोपदेश दिया था, जिसका सामञ्ञफल सुत्त के नाम से त्रिपिटक के दीघनिकाय में विस्तृत वर्णन है।

अपनी चिकित्सा में प्रवीणता, मधुर वाणी, सदाचारण और भगवान एवं उनके धम्म में सच्ची आस्था रखने वाला जीवक एक अत्यन्त लोकप्रिय एवं असाधारण व्यक्ति के रूप में स्थापित हो गये थे। बौद्ध साहित्य के धम्मग्रन्थों (त्रिपिटक) में जीवक का अपना कहीं अलग एक स्थान है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जीवक के सामान श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख चिकित्सा आचार्य उस समय अन्यत्र नहीं था। असलियत में वह भारत का गौरव था।

राजगृह के गौरव आचार्य जीवक का महत्त्व बौद्ध काल के पतन के पश्चात उपेक्षित कर दिया गया। आज के आयुर्वेद के क्षेत्र में जीवक जैसे महान शल्य चिकित्सक का नाम ढूँढ़े से नहीं मिलता। जबकि जगत-प्रसिद्ध तिब्बती चिकित्सा पद्धति जीवक के ज्ञान पर ही आधारित है। कहना न होगा कि वर्तमान समय में आयुर्वेद से अधिक यदि कोई पुरातन चिकित्सा पद्धति संसार में लोकप्रिय हो रही है तो वह राजगृह के प्रसिद्ध आचार्य जीवक की गवेषणाओं पर आधारित तिब्बती चिकित्सा पद्धति ही है। उसका नाम आते ही आदर और श्रद्धा के साथ स्वतः सिर झुक जाता है।

सारिपुत्रा और महामोग्गलायन

50–नरेन

सारिसंभव, सारदवट पुत्र, सालिपुत्रा, सारिपुत्त, सारिपुत्र ठेरा, उपतिस्सा– सब एक ही ज्ञानी पुरुष के नाम हैं, जिसे गौतम बुद्ध ने अपना प्रधान शिष्य घोषित किया था। उनके पिता का नाम वंगान्त था और वे ब्राह्मण जाति के थे। उनकी माता का नाम रापसारि था। यह कहा जा सकता है कि अपनी माता के नाम के अनुरूप ही उन्हें सारिपुत्र के नाम से जाना गया। महामोग्गलायन ने विस्तार–पूर्वक भगवान बुद्ध के इस प्रधान शिष्य के बारे में लिखा है कि उनकी विगत जिंदगी क्या थी और किस प्रकार वे संघ में शामिल किये गये थे। सारिपुत्र अत्यंत ही मेधावी थे और उनकी स्मरण–शक्ति भी अत्यंत प्रखर थी। एक बार वे जिस कठिन–से–कठिन विषय को पढ़ लेते थे या उसकी व्याख्या सुन लेते थे, वह उनकी चेतना में हमेशा के लिये घर कर जाती थी।

गौतम बुद्ध अपने इस मेधावी शिष्य की प्रखर प्रतिभा से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने भिक्षुओं और भिक्षुणियों की विशाल सभा में सारिपुत्र को अपना प्रधान शिष्य घोषित किया था। गौतम बुद्ध मानते थे कि समझ के मामले में सारिपुत्र उनके बाद दूसरे ही स्थान पर हैं। बुद्ध जब एकत्रित अनुयायियों की विशाल भीड़ के समक्ष कोई प्रश्न रखाते थे और उसका उत्तर कोई नहीं दे पाता था तब सारिपुत्र ही थे, जो बुद्ध के सवाल का सटीक उत्तर देकर उन्हें संतुष्ट कर पाते थे। वे विद्वतापूर्वक विस्तार से उस पर अपना प्रवचन देकर बुद्ध का दिल जीत लिया करते थे। इस बात के कई जगह उल्लेख मिलते हैं कि गौतम बुद्ध ने अपने इस शिष्य की प्रतिभा की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। अनुपद सुत्त गौतम बुद्ध के द्वारा अपने प्रिय शिष्य सारिपुत्र के गुणों पर रचित ऐसा ही एक प्रशस्ति ग्रंथ है जिसमें उन्होंने चर्चा की है कि किस प्रकार वे एक सर्वगुण संपन्न शिष्य थे। अपने ग्रंथ महोगोसिंग सुत्त में सारिपुत्र ने व्याख्या की है कि वही भिक्षु श्रेष्ठ है जिसने अपने हृदय पर काबू कर रखा है न कि वह, जो अपने हृदय के वशीभूत है। बुद्ध ने बताया है कि ऐसा कहके सारिपुत्र ने अपनी ही प्रकृति की व्याख्या की है। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर बुद्ध अपने इस परम प्रिय शिष्य की कड़ी आलोचना भी करते थे। राहुल की सही तरीके से देखभाल नहीं किये जाने पर तथा एक नवागत शिष्य के द्वारा शोरगुल किये जाने पर बुद्ध द्वारा उसे कक्ष से बाहर निकाल दिये जाने पर सारिपुत्र द्वारा बुद्ध को गलत समझ लिये जाने के कारण बुद्ध ने उनकी आलोचना की थी।

इस बात के ढेरों उदाहरण मिलते हैं कि सारिपुत्र अपने साथियों से हमेशा सवाल किया करते थे या विभिन्न विषयों के बारे में उनके साथी भी उनके समक्ष अपनी जिज्ञासायें रखा करते थे। सारिपुत्र गौतम बुद्ध की तमाम बौद्धिक और आध्यात्मिक तत्त्व विवेचनाओं की सारी सूक्ष्म व्याख्याओं से भलीभांति अवगत थे, इसलिये हर प्रकार से सटीक जवाब दे पाने में सक्षम थे। गौतम बुद्ध का प्रियपात्र बनना और स्वयं उनके ही द्वारा सर्वश्रेष्ठ शिष्य घोषित किया जाना किसी के लिये भी सौभाग्य और गौरव की बात थी। संघ के प्रति अपनी एकनिष्ठ प्रतिबद्धता, सादगी–भरे सौम्य आचरण आदि के कारण सारिपुत्र बुद्ध के सर्वश्रेष्ठ शिष्य बनने की पात्रता रखते थे। बुद्ध के प्रधान शिष्य के रूप में संघ की समुचित तरीके से देखभाल तथा उसके सदस्यों की गरिमा और अस्मिता की सुरक्षा को सारिपुत्र अपना विशेष दायित्व मानते थे। इस घटना का भी उल्लेख मिलता है कि संघ के जो भिक्षु देवदत्त के बहकावे में आकर संघ छोड़कर चले गये थे उन्हें मोग्गलायन के साथ जाकर सारिपुत्र वापस ले आये थे। कठिनाइयों में पड़ जाने पर भिक्षु सारिपुत्र और मोग्गलायन से आंतरिक परामर्श किया करते थे। जब सारिपुत्र को यह सूचना मिलती थी कि कोई भिक्षु संघ छोड़कर वापस अपनी गृहस्थी में लौट गया है, तो वे बेहद बेचैन

हो जाया करते थे। एक भिक्षु कोशांब के घर लौट जाने पर वे इतने उद्विग्न हो गये थे कि इस संदर्भ में गौतम बुद्ध से राय-विचार करने चले गये थे। बुद्ध के द्वारा नियमों का पालन किये जाने के प्रति वे बेहद सजग रहते थे।

संघ के नियमों में से एक था कि बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा लहसुन का सेवन नहीं किया जाना चाहिये। एक बार सारिपुत्र अस्वस्थ हो गये। उन्हें पता था कि लहसुन का नियमपूर्वक सेवन करके वे स्वास्थ्य लाभ कर सकते हैं। लेकिन जब तक स्वयं गौतम बुद्ध ने उन्हें लहसुन खाने की इजाजत नहीं दी, उन्होंने स्वास्थ्य लाभ के लिये लहसुन का सेवन नहीं किया। धम्मपद में इस बात के विशद उल्लेख मिलते हैं कि जिस विहार में सारिपुत्र रहा करते थे, वहाँ के सारे भिक्षुओं के भिक्षाटन पर चले जाने के बाद वे किस प्रकार विहार की रक्षा के लिये उसके चारों तरफ परिक्रमा करते रहा करते थे। खाली घड़ों को स्वच्छ पेयजल से भर दिया करते थे। सारे विहार की साफ-सफाई करते हुए झाड़ू-बुहारू का काम किया करते थे। साज-सामानों को सुव्यवस्थित कर दिया करते थे।

संघ में जो भिक्षु बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन नहीं करते थे, उनके साथ सारिपुत्र अनुशासनात्मक सख्ती बरतने में जरा भी कोताही नहीं बरतते थे, लेकिन भिक्षुओं की सफलता को समारोहित करते हुये उनके साथ हिल-मिलकर खुशियाँ मनाने में भी वे परहेज नहीं करते थे। वे मोग्गलायन की उपलब्धियों पर उन्हें बार-बार शुभकामनाएँ दिया करते थे। जैसे स्वयं गौतम बुद्ध अस्वस्थ, भिक्षुओं को देखने जाया करते थे, वैसे ही सारिपुत्र भी अस्वस्थ भिक्षुओं के पास जाकर उनका हाल-चाल पता करते रहते थे और उनकी चिकित्सा ठीक से चलती रहे, यह सुनिश्चित करते रहा करते थे।

सारिपुत्र को जिन विषयों पर भिक्षु संघ को प्रवचन देने के लिये कहा जाता था, उसके अलावा भी वे अपनी तरफ से ढेर सारे अन्य विषयों पर भी सारगर्भित प्रवचन दिया करते थे। तमाम महत्त्वपूर्ण भिक्षुओं के साथ सारिपुत्र के अत्यंत मैत्रीपूर्ण संबंध थे, लेकिन मोग्गलायन और आनंद के साथ अत्यंत स्नेहपूर्ण संबंध था। कहा जाता है कि ऐसा इसलिये था कि आनंद बुद्ध के खास सेवक थे। आनंद स्वयं भी सारिपुत्र का बेहद सम्मान करते थे। सारिपुत्र बुद्ध के पुत्र राहुल के साथ भी अत्यंत आत्मीय जुड़ाव रखते थे जिन्हें दीक्षित करने का दायित्व उनपर ही सौंपा गया था। राहुल को उन्होंने प्राणायाम सिखाया था। बुद्ध और राहुल के प्रति सारिपुत्र के मन में जो गहरा सम्मान भाव था, उसका उल्लेख राहुलभात्त में प्राप्त होता है। इसके बाद के भी बौद्धधर्मग्रंथों में अनगिनत उदाहरण मिलते हैं कि किस प्रकार सारिपुत्र गरीबों के प्रति अत्यंत दयाभाव रखते थे और उनकी मदद करने को सदैव तत्पर रहते थे। सारिपुत्र इतने विनम्र थे कि वे सदैव दूसरों के निर्देशों का पालन करने को तत्पर रहा करते थे। आज नालंदा जिला में सिलाव में जो मशहूर खाजा बनता है वह सारिपुत्र को बेहद पसंद था। लेकिन उन्होंने यह महसूस किया कि खाजा (पिट्ठखाज्जक) के प्रति उनके मन में लोभ पैदा हो गया है। फिर उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि वे अब कभी खाजा नहीं खायेंगे। और उन्होंने आजीवन ऐसा ही किया।

गौतम बुद्ध की मृत्यु के कुछ माह पूर्व ही सारिपुत्र की मृत्यु हो गयी थी। उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था कि वे सात दिनों के अंदर इस असार-संसार को छोड़ कर चले जायेंगे। इसलिये वे अपनी माँ से मिलने अपने जन्म-स्थल नालगमक्का चले आये थे। हालांकि उनकी माँ सात अरिहन्तों की माँ थीं, फिर भी उन्हें संघ से भयंकर चिढ़ थी। शायद इसकी वजह यह थी कि उनकी सातों संतानें उन्हें अकेला छोड़कर संघ में चली गयी थीं और घर में 40 करोड़ की अथाह सम्पत्ति लावारिस पड़ी हुयी थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि पहले भी जब वे एक बार अपने संघ के साथियों के साथ,

जिसमें राहुल भी था, घर आये थे तब उनकी माँ उनको और उनके साथियों को लगातार गालियाँ देती रही थीं। आखिरी बार वे पाँच सौ साथियों को साथ लेकर अपनी मातृभूमि पहुँचे। उनकी माँ ने यह सोचते हुये उनका स्वागत करने की भव्य तैयारी की थी कि उनका बेटा शायद सामान्य जिंदगी जीने के लिये वापस लौट आया है। सारिपुत्र ने उसी कमरे में अंतिम सांसें लीं, जिसमें उन्होंने जन्म लिया था। उनकी मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी माँ को अपने समीप बुलाया था और उन्हें धर्मोपदेश दिया था। सारिपुत्र को लगा कि उसने अपनी माँ का ऋण उतार दिया है। फिर उन्होंने अपने भाई कुंड को कहा कि वह भिक्षुओं को बुला लाये। कुंड की मदद से वह अपनी शैय्या पर उठ बैठे और विनम्रतापूर्वक भिक्षुओं से पूछा कि क्या 44 वर्षों तक एक भिक्षु के रूप में अपना जीवनयापन करने के दौरान उन्होंने कभी अपने आचरण से उन्हें नाराज किया है या उनका दिल दुखाया है? जब सारे भिक्षुओं ने समवेत स्वर में कहा कि आजीवन उनका आचरण निर्दोष रहा है, तब उन्होंने चैन की साँस लेते हुये अपने चीवर से अपने होठ पोछे और अपनी शैय्या पर लेट गये। आखिरकार कई प्रकार की तंद्राओं से गुजरते हुये उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।

सारिपुत्र विशेष तौर पर अभिधम्म में पारंगत थे। उन्होंने इसमें पारंगतता सीधे बुद्ध के मुँह से सुने प्रवचनों के आधार पर हासिल की थी। बाद में उन्होंने अपने पाँच सौ शिष्यों को इसकी शिक्षा दी थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सारिपुत्र के साथ अभिधम्म का सूत्रपात हुआ था। आज भी विश्वप्रसिद्ध नालंदा बौद्ध महाविहार की जो छवि लोग देखते हैं, उसमें जो सबसे ऊँचा निर्माण है, वह सारिपुत्र के ही स्मृति गृह का ध्वंसावशेष है।

चाणक्य

–नरेन

चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-निर्माण में कौटिल्य की भूमिका अद्वितीय रही है। वह इतिहास में विष्णुगुप्त तथा चाणक्य, इन दो नामों से भी जाना जाता है। ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रंथों से उसके जीवन के विषय में जो सूचना मिलती है उससे स्पष्ट होता है कि वह तक्षशिला के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ था। वह वेदों तथा शास्त्रों का ज्ञाता था और तक्षशिला के शिक्षा-केन्द्र का प्रमुख आचार्य था। परंतु वह स्वभाव से अत्यंत रूढ़िवादी तथा क्रोधी था। पुराणों में उसे 'द्विजर्षभ' (श्रेष्ठ ब्राह्मण) कहा गया है। कहा जाता है कि एक बार नन्द राजा ने अपनी यज्ञशाला में उसे अपमानित किया जिससे क्रोध में आकर उसने नन्दवंश को समूल नष्ट कर डालने की प्रतिज्ञा कर डाली और चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना अस्त्र बनाकर उसने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

कौटिल्य ने ही पालने में पूत के पाँव देखकर उसके शौर्यशाली भविष्य की कल्पना करके बालक चंद्रगुप्त को पहचाना था। बौद्ध धर्मग्रंथों के अनुसार चंद्रगुप्त के पिता मोरिय नगर के प्रमुख थे। जब वह अपनी माता के गर्भ में था तभी उसके पिता की किसी सीमांत युद्ध में मृत्यु हो गयी थी। उसकी माता को उसके भाइयों ने सुरक्षा के लिहाज से पाटलिपुत्र पहुँचा दिया था। पाटलिपुत्र में ही चंद्रगुप्त का जन्म हुआ था। जन्म के बाद उसे एक गाय पालनेवाले को सौंप दिया गया था। उस गोपालक ने उसे अपने पुत्र के समान पाला था। उसके कुछ बड़ा होने पर गोपालक ने उसे एक शिकारी को बेच दिया था। शिकारी के गाँव में ही वह बड़ा हुआ। शिकारी ने उसे पशुओं की देखभाल करने के काम में लगा दिया। अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा के बल पर जल्द ही वह अपने हमउम्र साथियों का मुखिया बन बैठा। वह बालकों की मंडली का राजा बनकर उनके आपसी झगड़ों का फैसला किया करता था। एक दिन वह अपने साथियों के साथ 'राजकीलम' नामक खेल खेलने में व्यस्त था कि तभी उस ओर से चाणक्य गुजरा। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उसने इस बालक के भावी गुणों का अनुमान लगा लिया। उसने शिकारी को एक हजार कर्षापण देकर बालक चंद्रगुप्त को खरीद लिया।

चाणक्य चंद्रगुप्त को अपने साथ तक्षशिला ले गया जो उस समय विश्व का सर्वश्रेष्ठ शिक्षा का केंद्र था। चाणक्य उसके आचार्य थे। उसने चंद्रगुप्त को सभी कलाओं और विद्याओं की विधिवत शिक्षा दी। जल्द ही चंद्रगुप्त सभी विद्याओं में पारंगत हो गया। उसे चाणक्य ने युद्ध-विद्या में भी निपुण बनाया था। चाणक्य ने जिन कार्यों के लिये चंद्रगुप्त को तैयार किया था उनके दो प्रमुख उद्देश्य थे- यूनानियों के विदेशी शासन से देश को मुक्त कराना तथा नन्दों के घृणित और अत्याचारपूर्ण शासन को समाप्त करना।

यूनानी-रोमन और बौद्ध ग्रंथों से जो साक्ष्य मिलते हैं, उससे यही सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त ने पहले पंजाब तथा सिंध को ही विदेशियों की दासता से मुक्त कराया था। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में विदेशी शासन की घोर निंदा की है तथा उसे देश और धर्म के लिये अभिशाप कहा है। चाणक्य की निगहबानी में चंद्रगुप्त ने अत्यंत चतुराई से उपलब्ध संसाधनों का सदुपयोग किया और विदेशियों के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध छेड़ दिया। उसने इस दुरूह कार्य के लिये विशाल सेना गठित की थी।

जब चंद्रगुप्त मौर्य भारत का एकछत्र सम्राट बना तो कौटिल्य प्रधानमंत्री तथा प्रधान पुरोहित के पद पर आसीन हुआ। जैन ग्रंथों से पता चलता है कि चंद्रगुप्त की मृत्यु के बाद बिन्दुसार के समय में भी

चाणक्य कुछ काल तक प्रधानमंत्री रहा। बाद में उसने शासन-कार्य त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लिया तथा वन में तपस्या करते हुये उसने अपने जीवन के अंतिम दिन व्यतीत किये। वह राजनीतिशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान था और उसने राजशासन के ऊपर 'अर्थशास्त्र' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। यह हिंदू राजशासन के ऊपर प्राचीनतम उपलब्ध रचना है।

'अर्थशास्त्र' के रचना-काल तथा उसके रचयिता के विषय में बड़ा भारी मतभेद रहा है। जाली, कीथ, विन्टरनित्ज जैसे कुछ विद्वान इसे कौटिल्य की रचना ही नहीं मानते। इसके विपरीत शाम शास्त्री, जैकोबी, स्मिथ, काशी प्रसाद जायसवाल आदि इस ग्रंथ को कौटिल्य की ही कृति मानते हैं।

हालांकि अर्थशास्त्र में मौर्य साम्राज्य तथा शासनतंत्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि यूनानी साक्ष्य इसके ऊपर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

यह नगर प्रशासन तथा सैनिक प्रशासन की परिषदों का कोई उल्लेख नहीं करता। इसमें विदेशी नागरिकों के आचरण तथा उनकी देखरेख के लिये भी कोई नियम निर्धारित नहीं किये गये हैं।

कौटिल्य के नाम का उल्लेख मेगस्थनीज नहीं करता जो चंद्रगुप्त के दरबार में रहा था। पतंजलि ने भी, जो मौर्य-शासन से परिचित थे, उसका नामोल्लेख नहीं किया है।

यदि गहराई से उपर्युक्त तर्कों की समीक्षा की जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि उनमें कोई बल नहीं है। कौटिल्य की ऐतिहासिकता एवं अर्थशास्त्र को उसकी रचना होने के पक्ष में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं।

अर्थशास्त्र एक असाम्प्रदायिक रचना है जिसका मुख्य विषय सामान्य राज्य एवं उसके शासनतंत्र का विवरण प्रस्तुत करना है। इसमें चक्रवर्ती सम्राट का अधिकार क्षेत्र हिमालय से लेकर समुद्र-तट तक बताया गया है जो इस बात का सूचक है कि कौटिल्य विस्तृत साम्राज्य से परिचित था।

अर्थशास्त्र मुख्यत: विभागीय अध्यक्षों का ही वर्णन करता है। नगर तथा सेना की परिषदों के स्वरूप का अशासकीय होने के कारण इसमें उल्लेख नहीं मिलता।

भारतीय लेखकों में अपने नाम का उल्लेख अन्य पुरुष में करने की प्रथा रही है। अत: यदि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने अपना उल्लेख अन्य पुरुषों में किया है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वयं इस ग्रंथ का रचयिता नहीं था।

मेगस्थनीज का सम्पूर्ण विवरण हमें उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है कौटिल्य का उल्लेख उन अंशों में हुआ हो जो अप्राप्त है। पतंजलि ने बिन्दुसार और अशोक के नाम का भी उल्लेख नहीं किया है। तो क्या इन दोनों को अनैतिहासिक माना जा सकता है? उनका उद्देश्य पाणिनि तथा कात्यायन के सूत्रों की व्याख्या करना था, न कि इतिहास लिखाना।

कौटिल्य जिस समाज का चित्रण करता है, उसमें नियोग प्रथा, विधवा विवाह आदि का प्रचलन था। यह प्रथा मौर्ययुगीन समाज में भी था। उसने 'युक्त' शब्द का प्रयोग अधिकारी के अर्थ में किया है। यही शब्द अशोक के लेखों में भी आया है। इसमें मद्र, कम्बोज, लिच्छवि, मल्ल आदि गणराज्यों का भी उल्लेख हुआ है जो इस बात के सूचक हैं कि यह ग्रंथ मौर्य युग के प्रारम्भ में लिखा गया था। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में बौद्धों के प्रति भी बहुत कम सम्मान प्रदर्शित किया गया है तथा लोगों को अपने परिवार के पोषण की व्यवस्था किये बिना संन्यास-ग्रहण करने से रोका गया है। इससे यही सूचित

होता है कि बौद्धधर्म के लोकप्रिय होने के पूर्व ही यह ग्रंथ लिखा गया था।

यहाँ उल्लेखनीय है कि कौटिल्य तथा मेगस्थनीज के विवरणों में कई समानतायें भी हैं। मेगस्थनीज के समान कौटिल्य भी लिखाता है कि जब चन्द्रगुप्त आखेट के लिये निकलता था तो उसके साथ राजकीय जुलूस चलता था तथा सड़कों की कड़ी सुरक्षा रखी जाती थी। दोनों हमें बताते हैं कि सम्राट की अंगरक्षक महिलायें होती थीं तथा वह अपने शरीर की मालिश करवाता था। मेगस्थनीज के ओवरसीयर्स अर्थशास्त्र के गुप्तचर हैं। इसी प्रकार मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित कुछ अधिकारी अर्थशास्त्र के अध्यक्षों से मिलते-जुलते हैं। सामान्यत: हम कह सकते हैं कि दोनों के द्वारा प्रस्तुत प्रशासनिक एवं सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप अधिकांश अंशों में समानता रखाता है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र मौर्यकाल की रचना है तथा इसमें चंद्रगुप्त के प्रधानमंत्री कौटिल्य के ही विचार स्वयं उसी के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। कालान्तर में अन्य लेखकों द्वारा इस ग्रंथ में कुछ प्रक्षिप्तांश जोड़ दिये गये जिससे मूल ग्रंथ का स्वरूप परिवर्तित-सा हो गया। अत: मूल ग्रंथ को हम चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में रख सकते हैं। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रंथ के अंत में कहा गया है कि ''इसकी रचना उस व्यक्ति ने की है जिसने क्रोध के वशीभूत होकर शस्त्र, शास्त्र तथा नंदराज के हाथ में गयी हुई पृथ्वी का शीघ्र उद्धार किया।'' कौटिल्य द्वारा नंदों का विनाश एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। अत: अर्थशास्त्र को उसकी रचना मानने में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं है।

अर्थशास्त्र में 15 अधिकरण तथा 180 प्रकरण हैं। इस ग्रंथ में इसके श्लोकों की संख्या 4,000 बताई गई है। शामशास्त्री के अनुसार वर्तमान ग्रंथ में भी इतने ही श्लोक हैं। प्रथम अधिकरण में राजस्व-संबंधी विविध विषयों का वर्णन है।

द्वितीय अधिकरण में नागरिक प्रशासन की विशद् विवेचना की गयी है। तृतीय तथा चतुर्थ अधिकरणों में दीवानी, फौजदारी तथा व्यक्तिगत कानूनों का उल्लेख मिलता है। पञ्चम अधिकरण के अंतर्गत सम्राट के सभासदों एवं अनुचरों के कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का उल्लेख है। छठें अधिकरण में राज्य के सप्तांगों स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, बल, कोष तथा मित्र के स्वरूप तथा कार्यों का वर्णन किया गया है। अंतिम नौ अधिकरण राजा की विदेश नीति, सैनिक अभियान, युद्ध में विजय के उपाय, शत्रुदेश में लोकप्रियता प्राप्त करने के उपाय, युद्ध तथा संधि के अवसर आदि विविध विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र मुख्यत: शासन की व्यावहारिक समस्याओं से संबंधित रचना है।

कौटिल्य के शासन का आदर्श बड़ा ही उदात्त था। उसने अपने ग्रंथ में जिस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत किया है उसमें प्रजा का हित ही राजा का चरम लक्ष्य है। वास्तव में यह ग्रंथ चंद्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था के ज्ञान के लिए बहुमूल्य सामग्रियों का भंडार है।

कौटिल्य मात्र राजनीति विशारद ही नहीं था, अपितु वह राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में एक नये सिद्धांत का प्रतिपादक भी था। बाद के लेखकों ने अत्यंत सम्मानपूर्वक उसके नाम का उल्लेख किया है। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का है।

चन्द्रगुप्त मौर्य

-डॉ० दीपक कुमार राय

चन्द्रगुप्त मौर्य भारतीय इतिहास का ऐसा कृती-व्यक्तित्व था जिसने समय की धारा में बहने से इनकार किया। उसने धारा के विपरीत तैरने की कोशिश की और मौर्य साम्राज्य के रूप में ऐसी मंजिल तय की जहाँ से भारतीय इतिहास का 'सुदृढ़ धरातल' शुरू होता है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारतीय इतिहास तिथि तय करने के लिहाज से बड़ा अनिश्चित सा था। राधा कुमुद मुखर्जी तो मौर्य साम्राज्य की स्थापना को भारतीय इतिहास की अपूर्व घटना बताते हुए कहते हैं कि "जिस कठिन समय में इस वंश ने अपनी नींव डाली उस समय को देखकर तो इसका स्थान सचमुच बहुत ऊँचा उठ जाता है। समय संकट का था। भारत पर सिकंदर का आक्रमण हो चुका था। 327 ई०पू० से 325 ई०पू० तक पंजाब का भाग सिकंदर हस्तगत कर चुका था। ऐसे में मौर्यवंश द्वारा अपनी नींव का सुदृढ़ीकरण हौसले का काम था।"

मौर्य साम्राज्य के महत्त्व और चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रयास की महत्ता को रेखांकित करते हुए डॉ० बी० ए० स्मिथ भी कहते हैं कि "मौर्यों के आगमन के साथ ही इतिहास क्षेत्र में भी प्रकाश की ज्वलंत किरण फैलने लगती है। कालक्रम भी प्राय: सुस्पष्ट होने लगता है। भारत के छोटे-छोटे टुकड़ों को मिलाकर एक विशाल साम्राज्य अपनी सत्ता को स्थिर करने में लगा था। इस साम्राज्य के स्वामी राजा न होकर सम्राट की पदवी से विभूषित हुए... उन्होंने सारे संसार में फैल जाने वाले धर्मों की सहायता की, जिनका प्रभाव आज तक महसूस किया जा रहा है। बहुत समय तक अलग-थलग पड़ा रहने वाला भारत, केवल मौर्यवंश के चलते ही विदेशों से अपने रिश्ते जोड़ सका।"

ऐसे साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य एक ही साथ अपने इतिहास का कर्त्ता और पात्र दोनों रहा। यह दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने किसी ऐतिहासिक पात्र से उसकी जाति-वंश-गोत्र के आधार पर परिचित होने का प्रयास करते हैं, परंतु कुछ तो यह इतिहास की एक जरूरी माँग बन जाती है, और कुछ सुदूर अतीत पर छाई अनिश्चितताओं की अनिवार्य मजबूरी भी।

चन्द्रगुप्त की उत्पति विवाद का विषय बनी है। विष्णु पुराण के भाष्यकार चन्द्रगुप्त को नन्द और मुरा की संतान बताते हैं। भाष्यकार दुण्डिराज ने अठारहवीं सदी में मुद्राराक्षस की टीका करते समय 'मुरा' को शूद्रकन्या (वृषलात्मजा) बताया है। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'मौर्यपुत्र' तथा 'नन्दान्वय' कहा गया है। मुद्राराक्षस में प्रयुक्त शब्द 'वृषल' के आधार पर चन्द्रगुप्त की शूद्र उत्पत्ति साबित नहीं की जा सकती। क्योंकि वह 'राजाओं में वृष' अर्थात राजाओं में श्रेष्ठ के संदर्भ में यह उल्लिखित है। स्पूनर महोदय ने मौर्यों की पारसीक उत्पति का भी मत प्रतिपादित किया है। रोमिला थापर इनकी वैश्य उत्पत्ति के पक्ष में अपना मत रखाती हैं। 'महावंश टीका' मौर्यों को क्षत्रिय बताती है। (मोरियानाँ खत्तियानाँ वंसे जातं चन्द्र गुप्तोति...... सकले जम्बू दीपम्हि रज्ज सममिसिंचो सो) राजस्थान गजट में भी मौर्यों को राजपूत ही बताया गया है। महापरिनिर्वाण सुत्त में भी मौर्यों को क्षत्रिय बताने वाला साक्ष्य उद्धृत है। महाबोधिवंश तथा दिव्यावदान में स्पष्टत: मौर्यों को क्षत्रिय उद्घोषित किया गया है।

जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्वन में उल्लिखित है कि चन्द्रगुप्त मयूर पालनेवाले लोगों के एक गाँव के मुखिया का पुत्र था। जैन ग्रंथ आवश्यक सूत्र की हरिभद्रीय टीका भी यही बताता है। नन्दारगढ़ स्थित अशोक स्तम्भ के निचले हिस्से में 'मोर' का अंकन भी है। बौद्ध परम्परा भी मौर्यों से 'मोरो' का

सम्बन्ध बताती है। पाटलिपुत्र के राजप्रासाद के उद्यान में 'मोर' पाले जाते थे। रामचन्द्र भुभुक्षु रचित पुण्याजक्र कथाकोश में चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कहा गया है।

अर्थशास्त्र में एक स्थान पर उल्लिखित है कि "जनमत अभिजात दुर्बल नरेश का तो आदर करता है, किंतु अनभिजात बलवान का नहीं।" उपरोक्त परस्पर दावे-प्रतिदावे शायद इसलिए भी और मुखर हो उठे हों कि मौर्यवंशी नरेश ब्राह्मण मतावलम्बी नहीं थे। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन मतावलम्बी माना जाता है, अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में अभूतपूर्व योगदान किया था। इन दोनों जैन एवं बौद्ध आंदोलनों ने ब्राह्मण विचारधारा पर निर्णायक प्रहार किए थे। इसलिए यह अकारण नहीं है कि मौर्यवंशी नरेश ब्राह्मण व्यवस्थाकारों की निगाह में अपनी प्रतिष्ठा खो चुके थे। फिर चन्द्रगुप्त ने तो सेल्यूकस, जो यवन था, विधर्मी था, उसकी पुत्री से शादी भी कर ली थी। इसलिए व्रात्य लिच्छवियों की तरह इनका भी जात्यपकर्ष सांस्कृतिक सन्दर्भों में ही समझा जा सकता है।

प्रारम्भिक जीवन और चाणक्य के साथ आ मिलने सम्बन्धी कई किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं। अत्यंत दीन-हीन अवस्था में बचपन बीतने की बातें हैं।, फिर चाणक्य के द्वारा एक दिन तक्षशिला ले जाए जाने की चर्चा होती है और यह भी जिक्र आता है कि वहीं पर उसने शिक्षा-दीक्षा दी और चन्द्रगुप्त को एक सुयोग्य तरूण में तब्दील किया। यूनानी लेखों में इसके नाम के कई रूपान्तर मिलते हैं। स्ट्रैवो, एरियन और जस्टिन इसे 'सैण्ड्रोकोट्टस' कहते हैं तो एप्पियन और प्लूटार्क 'ऐण्ड्रोकोट्टस'। फिलार्कस चन्द्रगुप्त को 'सैण्ड्रोकोप्टस' नाम देता है।

बहरहाल चन्द्रगुप्त मौर्य भारतीय इतिहास के जाज्बल्यमान नक्षत्र की तरह है, जो जितना बड़ा विजेता था उतना ही सहृदय एवं सुयोग्य प्रशासक भी। लेकिन यह भी बड़ा विवादास्पद सवाल है कि पहले मगध जीता गया या पंजाब। यूनानी उल्लेख चन्द्रगुप्त के साथ सिर्फ पंजाब विजय को ही संयुक्त करते हैं और भारतीय साक्ष्यों ने एकमात्र मगध-विजय का उल्लेख किया है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि मगध पर शुरुआती हमलों में चन्द्रगुप्त को मुँह की खानी पड़ी होगी तभी वह कथा प्रचलन में आती है जिसमें एक बच्चा गर्म रोटी को बीच से ही खाने लगता है तो उसकी माँ चन्द्रगुप्त से उसकी तुलना करते हुए उसके हाथ जलने को चन्द्रगुप्त की असफलता से जोड़ती है, और किनारे से रोटी खाने की सलाह देती है। ये बातें चन्द्रगुप्त और चाणक्य सुन रहे थे। इसके गूढ़ार्थ को उन्होंने समझा और फिर से सेना एकत्र की एवं इस बार उन्होंने सबसे पहले सीमा प्रांतों को हस्तगत किया फिर क्रमशः विजय हासिल करते हुए पाटलिपुत्र तक चढ़ गए। यहाँ तब आते-आते पर्याप्त सैन्यबल भी इनके पास हो चुका था जिसका सुपरिणाम यह रहा कि इस बार मगध पर इनका निर्णायक कब्जा हुआ।

परिशिष्ट पर्वण से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने नंदवंशी नरेश को क्षमादान दिया और एक रथ में उसकी पूरी क्षमता भर सामान एवं उसकी पत्नी तथा दो पुत्रियों के साथ राजधानी से बाहर चले जाने की मोहलत दी।

टामस, हैवेल इत्यादि के विचार भी प्रथमतः पश्चिमोत्तर विजय के ही पक्ष में जाते हैं। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों का आपसी वैमनस्य सतह पर आ गया था। भारतीय भी पराधीनता की घुटन महसूस कर ही रहे थे। वैसे भी शस्त्र के बल पर शासन कितने दिन टिकता। फिर चन्द्रगुप्त और चाणक्य विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने के लिए सुनियोजित ढंग से कार्य भी कर रहे थे। जस्टिन ने तो स्पष्टतः चन्द्रगुप्त को पश्चिमी भारत के स्वतंत्रता संग्राम का नेता करार दिया ही है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त बड़े सुनियोजित तरीके से नंदवंशी नरेशों एवं इधर विदेशी शासन के विरुद्ध जनमत तैयार करने में लगे थे। कहा तो यह भी जाता है कि चन्द्रगुप्त स्वयं सिकन्दर के पास गया था

और उसे मगध राज्य पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित भी किया था। योजना यह थी कि सिकन्दर की शक्ति का ही उपयोग कर मगध को हस्तगत कर लिया जाय, आखिर सिकन्दर को भारत में बहुत दिन तो रहना नहीं था। यह योजना नाकाम रही, दो शत्रुओं को आपस में नहीं भिड़ाया जा सकता। फिर दोनों से अलग-अलग निपटने की योजना बनी। विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त लगातार अपने जन-जागरण अभियान में लगे रहे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र यह साफ दर्शाता है कि 'वैराज्य' के खिलाफ उस समय कैसी भावना थी। (नैतत् मम व इति मन्यमान:/यानी अधीनस्थ देश को कभी अपना देश नहीं मानता। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है 'अपवाहषति' यानी अधीनस्थ देश का घन अपहृत करता है। 'कर्षयति', यानी उत्पीड़न करता है। राष्ट्रीय मुक्ति की ऐसी साफ-सुथरी और पारदर्शी समझ बिहार से ही मिलती है। ऐतिहासिक अवधारणाओं में गैरीबाल्डी और कावूर का नाम लेनेवाले कभी चन्द्रगुप्त और चाणक्य का नाम भी लेते तो सही अर्थों में एक राष्ट्रीय गौरव बोध जागता।

कुछ मत-मतान्तरों के बाद चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि 322 ई० पू० पर लगभग सहमति बनती प्रतीत होती है जब चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर अभिसिक्त किया था। पंजाब से पाटलिपुत्र की यह विजययात्रा लगभग दो वर्षों में सम्पूर्ण होती है।

लेकिन इतने से ही चन्द्रगुप्त संतुष्ट नहीं होता है। उसने सम्पूर्ण आर्यावर्त (उत्तर भारत) को अधिकृत किया। इसमें सुदूर पश्चिम और पूर्वी भारत के भी कई हिस्से शमिल थे। रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र में पुष्यगुप्त नाम का, चन्द्रगुप्त मौर्य का एक प्रान्तपति शासन कर रहा था, जिसने सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। डॉ० रायचौधरी ने भी अपनी सहमति व्यक्त की है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला था।

विन्ध्य के दक्षिण चन्द्रगुप्त मौर्य की विजय विवाद का विषय हैं। कुछ लोग इनका श्रेय विन्दुसार को देते हैं किन्तु डॉ० रायचौधरी का अभिमत है कि दक्षिण विजय नन्दों के द्वारा ही हुई थी और जब चन्द्रगुप्त ने नन्दों को परास्त किया तो वह भूभाग सहज ही इसके अधीन आ गया। प्राचीन तमिल साहित्य में नन्द राजाओं का वर्णन है। कुछ पुरातात्विक प्रमाण भी बताते हैं कि नन्दों का राज्य मैसूर के कुन्तल प्रान्त तक प्रसारित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दराजाओं द्वारा विजित दक्षिण के प्रदेश उत्तर भारत की अस्थिरता नन्दों की लापरवाही और उनके पतन के दिनों में पुन: स्वतंत्र हो गए हों और चन्द्रगुप्त को उन्हें परास्त करने हेतु नए सिरे से अभियान चलाना पड़ा हो। इसके पर्याप्त साक्ष्य भी तमिल एवं जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। हरिषेण का वृहत्कथाकोश, या फिर भद्रवाहुचरित ऐसे ही ग्रन्थ हैं। राजावलिकथा में भी चन्द्रगुप्त मौर्य का दक्षिण के साथ गहरे संबंध प्रतीत होते हैं। 600 ई० का एक शिलालेख, सेरिंगापट्टम के निकट 900 ई० में दो शिलालेख, 1129 का श्रवणवेलगोला शिलालेख भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनि के सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। श्रवणवेलागोला की एक पहाड़ी तो चन्द्रगिरि के नाम से मशहूर भी है। यहीं पर चन्द्रवस्ती मंदिर है जिस पर चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के जीवन के 90 चित्र अंकित हैं। अशोक के भास्कर, येरागुड़ी और कुरनूल अभिलेख भी इस तथ्य को संपुष्ट करते हैं। अशोक स्वयं कहता है कि उसके राज्य की दक्षिणी सीमा पर चोल और पाण्ड्य राज करते थे। कलिंग उसकी अंतिम विजय थी तो बीच के प्रदेश उसके राज्य में कैसे आए। तमिल पुस्तकें भी इसकी सूचना देती हैं कि 'वंब मोरियार' नामके कुछ लोगों ने दक्षिण को जीत लिया था।

बी० ए० स्मिथ चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार बताते हुए कहता है कि सैकड़ों

वर्ष बाद आने वाले अँग्रेज और न ही मुगलों ने उतना बड़ा साम्राज्य कभी स्थापित किया।

सिकन्दर के सेनापति रह चुके सेल्यूकस ने भी सिकन्दर की ही भांति भारत विजय का सपना देखा और लगभग 305 ई० पू० साम्राज्यवादी भूख के वशीभूत होकर उसने भारत पर आक्रमण भी कर दिया। परन्तु इस बार स्थितियाँ दूसरी थीं। अब यहाँ महापराक्रमी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन था। महापंडित आचार्य चाणक्य का कूटनीतिक कौशल भारतीय इतिहास को एक नई दिशा में सँवार रहा था। एकीकृत प्रतिरोध ने यूनानी आक्रांता के होश उड़ा दिए। उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी। पुरु की पराजय का प्रतिशोध पूरा हुआ था। भारतीय जनता ने इतिहास की गलतियों से सीख ली थी और चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में एक बार फिर हार जाने से इनकार करते हुए विदेशी मंसूबे को ध्वस्त कर दिया था।

मगध की न्यायप्रिय धरती पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सुशासन के सुनहरे अध्याय हजारों साल पहले ही लिख दिए थे।

"प्रजा सुखे सुखमराज्ञः प्रजानांम् च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हितंराज्ञः प्रजानां तु प्रियम् हितम्।।"

कौटलीय अर्थशास्त्र ने राजत्व का उपर्युक्त आदर्श अत्यंत ऊँचा रखा था, यह आज भी आदर्श है। जब हम प्रजातांत्रिक दुनिया में जी रहे हैं, सुशासन और कुशासन के संजाल में उलझी आज की राजनीति बिहार के गौरवशाली अतीत के कुछ पन्नें क्यों नहीं पलटतीं।

राजा सर्वोपरि था। लेकिन, उसके लिए प्रजा का हित सर्वोपरि था। वह राज्याधिकारियों को नियुक्त करता था। विदेशों से समन्वय की नियमित समीक्षा करता था। गुप्तचरों से राज्य का विवरण लेता था। वह न्यायाधीश की हैसियत से न्याय करता था। वह सेना का नेतृत्व करता था। सैन्य संगठन-संचालन एवं सीमाओं की रक्षा करता था। एक मंत्रिपरिषद होती थी। 12 या 20 की संख्या में उसके सदस्य होते थे जो मूलतः परामर्शदातृ संस्था होती थी। केन्द्रीय शासन में प्रधान, समाहर्ता, सन्निधाता, सेनापति, युवराज, प्रदेष्टा इत्यादि होते थे। स्थानीय शासन में उस समय भी चन्द्रगुप्त मौर्य ने ग्राम प्रशासन को पर्याप्त महत्त्व दिया था। नगर शासन के बारे में मेगस्थनीज बताता है कि 30 सदस्यों की एक सभा थी जो विभिन्न कार्यों के हिसाब से छः समितियों में बंटी होती थी। जैसे शिल्पकला समिति, विदेशी यात्री समिति, जनगणना समिति, वाणिज्य समिति, उद्योग समिति, कर समिति। व्यापार-वाणिज्य एवं तमाम आर्थिक उपक्रमों पर विशेष ध्यान दिया गया था।

जनोन्मुखी शासन का स्वरूप निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त के प्रशासन में देखा जा सकता है। यातायात की बेहतर व्यवस्था और आरामदेह आवागमन मौर्य प्रशासन की एक बड़ी विशेषता थी सड़कमार्ग या जलमार्ग। इसने व्यापारिक गतिविधियों को काफी बढ़ावा दिया। सिंचाई की व्यवस्था पर सरकार ने विशेष ध्यान दिया था। राज्यनियंत्रित अर्थव्यवस्था का शुरुआती चरण यहीं से प्रारम्भ होता है। सिंचाई के निमित्त नहरें, तालाब, कुएँ इत्यादि का निर्माण एवं देखरेख सरकार के दायित्वों में शामिल था। सौराष्ट्र में सुदर्शन झील इसकी सक्षम साक्षी है।

स्वास्थ्य एवं स्वच्छता पर भी मौर्य प्रशासन काफी उत्सुक था। जगह-जगह चिकित्सालय यानी भैषज्यगृह खुले थे एवं वहाँ विशेषज्ञ वैद्य नियुक्त किए जाते थे। प्रसूति चिकित्सक की नियुक्ति यह दर्शाती है कि महिला स्वास्थ्य तब भी चिंताओं में शुमार था जो आज भी अक्सर अनदेखा ही रह जाता है और प्रसव के दौरान हो रही महिलाओं की मृत्यु-दर कोई कम नहीं है। नगरों की सफाई के लिए

और भोजन एवं खान-पान की शुद्धता हेतु राज्य की ओर से निरीक्षक नियुक्त किए जाते थे। लेकिन, आज भी बिहार में ही नहीं देश की राजधानी दिल्ली में भी हम अपनी एक बड़ी आबादी को शुद्ध साफ पेयजल उपलब्ध करा पाने में असमर्थ हैं। लेकिन बिहार की धरती पर ये सारे मुद्दे हजारों साल पहले के राज्य की प्राथमिकताओं में शामिल थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस बात को बखूबी भाँप लिया था कि शैक्षिक उन्नति के बिना व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती थी। महान पण्डित कौटिल्य का उदाहरण उसके सामने था ही। शिक्षा के निमित्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने व्यापक इन्तजामात किए थे। शिक्षकों और विद्यालयों को वृत्ति या अनुदान सरकार की ओर से मिलता था। आज बिहार के शैक्षणिक माहौल के लिए मौर्यकालीन बिहार एक 'रोल मॉडल' हो सकता है। आज के बिहार की तरह वित्तरहित शिक्षा-प्रणाली वाली कोई कलंकित पद्धति तब नहीं थी। शायद यही कारण था कि एक से बढ़कर एक तक्षशिला, नालंदा, राजगृह, गया, पाटलिपुत्र जैसे शैक्षणिक केन्द्र विकसित हो सके। यहाँ बौद्ध संगीतियां आयोजित की जा सकी।

किसी सरकार या प्रशासन की उत्तमता और चौकसी आपदा प्रबन्धन में ही परखी जाती है। लेकिन मौर्य प्रशासन यहाँ भी अपनी मुस्तैदी से हमें चकित करता है। महामारियों, अग्निकांडों, अकाल, बाढ़ इत्यादि से निपटने की जितनी चाक-चौबन्द व्यवस्था मौर्यकालीन प्रशासन दे जाता है, वह आज तक फिर संभव नहीं हुआ। अग्निकांड को रोकने के लिए नगरों में शासन की ओर से तमाम यंत्र एवं उपकरण उपलब्ध कराये जाते थे। अत्यंत दुर्गम परिस्थितियों में भी यह शत-प्रतिशत सुनिश्चित किया जाता था कि कोई खाने बिना न मरे।

लेकिन आज हमारे देश में पिछले पाँच साल में गरीबी एवं भुखमरी के चलते 1 लाख 60 हजार किसान आत्महत्या कर चुके हैं, इसके बावजूद कि भारत किसानों का देश है। आज की आधुनिक दुनिया और विकसित तकनीकी ज्ञान के दौर में भूख से मौतें होती हैं, तो हम अपने बेहतर अतीत से कुछ पाठ क्यों नहीं सीखते? स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, यातायात इत्यादि के क्षेत्र में अद्भुत मानदण्ड स्थापित कर चुका चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य का बिहार अपने इतिहास से सीखना कब शुरू करेगा? क्या इतिहास की सीख यही है कि हम उससे कुछ नहीं सीखेंगे?

चन्द्रगुप्त के अंतिम दिन दक्षिण में बीते। कहा जाता है कि वह जैन मतावलम्बी हो गया था। भद्रबाहु के समीप श्रवणवेलगोला की पहाड़ियों पर अनशन-अनाहार कर उसने प्राण त्याग दिए। हालांकि जैन अनुश्रुति की प्रमाणिकता पर संशय के भी साक्ष्य बनते हैं। परन्तु देहान्त की तिथि 297/98 ई० पू० पर इतिहासकारों में लगभग सहमति है। सम्भवत: इन्हीं दिनों 305-298 ई० पू० के बीच मेगस्थनीज भी भारत में और आज के बिहार की राजधानी पटना (तब की पाटलिपुत्र) में प्रवासी जीवन बिता रहा था। मौर्ययुगीन भारत के प्रामाणिक दस्तावेज उसके यात्रा विवरण भी बनते हैं।

कई आधुनिक राज्य एवं प्रशासनिक ईकाइयाँ आज भी उतनी व्यवस्थित एवं सुसंचालित नहीं थी। राज्य अपनी कल्याणकारी भूमिका में सर्वप्रथम बिहार की धरती पर ही इतनी मजबूती से पहचाना गया। इतिहास अप्रतिम शासकों की सूची में चन्द्रगुप्त मौर्य को सबसे पहले गिनेगा। डॉ० बी० ए० स्मिथ उसकी महत्ता को कुछ इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं, "अठारह वर्ष का लम्बा समय लगाकर उसने मकदूनिया के सिपाहियों को भारत की सीमा से खदेड़ा; विशेषतया पंजाब और सिंध की सरजमीं से। सेल्यूकस
की शक्ति को क्षीण करते हुए उत्तरी भारत का निर्विवाद अधिपति बना। एरियाना के बहुत बड़े भूभाग पर उसका अधिकार था। ये सारी विशिष्टताएँ

इतिहास के सफलतम शासकों के बीच उसे स्थान दिलाती हैं।"

अशोक

-डॉ० दीपक कुमार राय

अशोक की गणना भारत ही नहीं विश्व के महानतम शासकों में होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य, कनिष्क, चन्द्रगुप्त द्वितीय, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, अलाउद्दीन खिलजी या अकबर; किसी का भी नाम लेने से पहले सिर्फ और सिर्फ अशोक का ही नाम लिया जा सकता है। वैश्विक स्तर पर एण्टोनिनस, सीजर, नेपोलियन, सेंटपाल से अशोक की तुलना तो की जा सकती है, परंतु राजपद के जिस उच्चतम आदर्श के साथ अशोक उपस्थित होता है, उस आधार पर किसी भी अन्य नरेश से उसका कद कुछ ऊँचा ही ठहरता है। हालांकि उसके साथ विवादों का भी रिश्ता अटूट रहा। इतिहास में कुछ पन्ने उसकी तथाकथित क्रूरता के किस्सों से भी रंगे गए हैं। लेकिन करुणा, दया और सहानुभूति में प्राणिमात्र को आप्लवित करती एक अजस्र धार, जिसका उत्स अशोक का कृतित्व एवं व्यक्तित्व है, क्रूरता के उन तमाम किस्सों को डुबा लेती है। रोमिला थापर भी उसके व्यक्तित्व के अनगिनत रूपों को प्रतिच्छायायित करती है जिसमें किसी को वह संत दिखायी देता है तो कोई उसे संन्यासी और सम्राट का अद्‌भुत सम्मिश्रण बताते प्रतीत होता है। रोमिला थापर बखूबी उन तत्त्वों की शिनाख्त करती हैं जिसके चलते अशोक किसी को ऐसा विजेता दिखाई देता है जिसने विजय के दुष्परिणामों को देखकर उसे त्याग दिया हो। किसी की नजर में वह निष्णात् राजनीतिज्ञ था जो मनुष्यों को परखने की अद्‌भुत क्षमता से लैस था।

खैर इतना तो तय है कि अशोक अपने समय का एक सक्षम समीक्षक था। वह परिवर्तन की प्रक्रियाओं के साथ था। वह इतिहास में कुछ नई संकल्पनाओं का प्रवर्तन भी करता है। भेरीघोष की जगह धम्मघोष की अवधारणा इतिहास बदल देने वाली अवधारणा है और यह हजारों साल पहले बिहार से ही गुंजायमान हुई थी। यह और बात है कि आज वही बिहार तरह-तरह की हिंसाओं से हलकान हुआ जा रहा है।

चन्द्रगुप्त मौर्य, विन्दुसार और तब अशोक। महान मौर्यों की विरासत भी अशोक के प्रारम्भिक जीवन, उसके राज्यारोहण की तिथि को विवाद का शिकार हो जाने से नहीं बचा सकी। चम्पा के एक ब्राह्मण की अत्यंत रूपवती कन्या सुभद्रांगी को अशोक की माता बताया गया है। दिव्यावदान आगे यह भी सूचना देता है कि राजमहलों की दुरभिसंधियों की शिकार सुभद्रांगी को राजा यानी बिन्दुसार से दूर ही रखा जाता था। हालांकि अंत में वह राजा के साथ रहने लगी थीं; एक पुत्र भी हुआ और तभी उसके मुँह से निकला कि 'अब मैं दु:खों से मुक्त हूँ यानी 'अशोक'। वही पुत्र इतिहास में 'अशोक' नाम से ख्यात होता है। लंका के पालि साहित्य के अनुसार बिन्दुसार की सोलह पत्नियाँ थीं और 101 पुत्र थे। सबसे बड़ा सम्भवत: सुसीम था। अशोक का सहोदर भाई तिष्य था। एक तो ज्येष्ठत्व के चलते और दूसरे सुसीम के सुदर्शन व्यक्तित्व के चलते, अशोक प्राय: उपेक्षित रह जाया करता था। कहते हैं कि बिन्दुसार भी सुसीम पर कुछ अधिक ही स्नेह रखता था। हालांकि प्रतिभा और योग्यता के मामले में अशोक उन सबसे आगे था। इसके चलते दूसरे भाई इसके प्रति कुछ ईर्ष्या रखते थे। अशोक की महत्त्वाकांक्षाओं ने आशंकित तो बिन्दुसार को भी कर दिया था। अशोक को 18 वर्ष की आयु में ही 'अवन्ति' प्रदेश का प्रमुख बना कर भेजा गया। यहीं पर सम्भवत: अशोक ने महादेवी से शादी कर ली जिसकी जगत्प्रसिद्ध संततियाँ रहीं- महेन्द्र और संघमित्रा। कहा जाता है कि तक्षशिला में जब विद्रोह हुआ तो उसके भी परिशमन हेतु अशोक को ही भेजा गया, क्योंकि शायद सुसीम वहाँ से असफलता

को गले लगाकर आ चुका था।

बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् और अशोक के राज्याभिषेक से पहले यानी 272 ई० और 269 ई० पू० के बीच के चार वर्ष कई इतिहासकारों ने उत्तराधिकार युद्ध के हवाले कर दिए हैं। कहा जाता है कि राज्याभिषेक से पहले अशोक 99 भाइयों को मौत के घाट उतार चुका था। इसीलिए इसका एक नाम 'चण्डाशोक' भी मिलता है। हालांकि ये सारी चीजें कुछ अतिरंजित जान पड़ती हैं। यह हो सकता है कि सुसीम से कुछ संघर्ष हुआ रहा होगा, कुछ और भाई सुसीम के पाले में रहे हों। संभव है कि कोई युद्ध ही न हुआ हो, क्योंकि साक्ष्य बताते हैं कि सुसीम के व्यवहार से राज्य के मंत्रीगण असंतुष्ट थे और यह भी कि राधागुप्त की सहायता से अशोक को गद्दी हासिल करने में कोई विशेष असुविधा नहीं हुई होगी। अशोक के अभिलेखों से मालूम होता है कि उसके राज्य के 13वें वर्ष में भी उसके कई भाई बहन जीवित थे। हां 'तिष्य' नामक भाई जरूर अशोक का विशेष विश्वासपात्र रहा होगा क्योंकि बाद में वही 'उपराजा' भी बना। स्मिथ ने तो इन चार वर्षों के बारे में कहा भी है कि उनके बारे में निराधार कल्पनाएँ किसी तथ्य पर आधारित नहीं है और वे निरर्थक हैं। वैसे बौद्धग्रन्थों की यह विशिष्टता भी रही है कि बौद्धधर्म के युगान्तकारी प्रभाव को दर्शाने के लिए बौद्धधर्म में दीक्षित किसी भी व्यक्ति की पुरानी जिंदगी में उसे बहुत क्रूर दिखाने की साहित्यिक छूट ली गयी है, ताकि बौद्धशिक्षाओं के प्रभाव में उसमें आए परिवर्तनों को क्रांतिकारी प्रभाव का परिणाम माना जा सके, कि बौद्धधर्म में आने से पहले अमुक व्यक्ति कितना क्रूर था। और अशोक जैसे सम्राट को, जिसने पूरी मानवता को करुणा का संदेश दिया, जिसने बौद्धधर्म की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिए शासकीय और व्यक्तिगत स्तर पर घनघोर प्रयास किया, उसका यह मानवीय चरित्र यदि बौद्धधर्म का परिणाम बता दिया जाय तो उसका कितना लाभ होगा- कुछ इसी मानसिकता की उपज लगती है अशोक की 'तथाकथित' क्रूरता। अशोक पहले भी क्रूर और हृदयहीन नहीं था, हाँ बाद में बौद्धधर्म के प्रभाव में वह और अधिक उदार और करुणामय एवं और अधिक प्रजावात्सल सम्राट बन सका और 'देवानांप्रिय' तथा 'प्रियदर्शी' की उपाधियों से भी विभूषित हुआ। मास्की शिलालेख और रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में 'अशोक' नाम मिलता है। सारनाथ में कुमारदेवी के शिलालेख में, धर्माशोक' नाम आया है।

अपने शासन के प्रारिम्भक वर्षों में अशोक ने भी अपने पूर्ववर्ती राजाओं की नीतियों को ही आदर्श स्वरूप सामने रखा एवं भारत के ऐसे प्रदेश जो मौर्यों की साम्राज्य सीमा से बाहर थे, उन्हें जीतने की ओर अग्रसर हुआ। तारानाथ की मानें तो खस्या एवं नेपाल के लोगों ने विद्रोह किया था और अशोक को इन्हें जीतना पड़ा था। दिव्यावदान से अशोक की 'स्वासदेश' की विजय का पता चलता है। कल्हण की राजतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि सबसे पहले अशोक ने कश्मीर विजय की। कश्मीर के इतिहास में अशोक को ही मौर्यवंश का पहला शासक बताया जाता है, जो इस तथ्य को और सम्बल प्रदान करता है कि चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के समय कश्मीर मौर्य साम्राज्य में अधिगृहीत नहीं किया जा सका था। एक मान्यता तो यह भी है कि अशोक ने ही श्रीनगर नामक नगर बसाया था एवं कश्मीर घाटी में अनेकानेक चैत्यों एवं स्तूपों का निर्माण भी कराया था।

कलिंग पर्याप्त प्रभुतासम्पन्न और सामरिक हितों एवं व्यापारिक गतिविधियों के लिहाज से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिक्षेत्र था। दक्षिण से सम्पर्क के लिए तो कलिंग जरूरी था ही। कौटिल्य ने दक्षिण के साथ व्यापारिक सम्पर्कों के लिए भी कलिंग को अत्यावश्यक बताया है।

अशोक का तेरहवाँ अभिलेख इसका साक्ष्य बनता है जिसमें यह साफ-साफ कहा गया है कि अशोक

ने शासनकाल के नवें वर्ष यानी 268-69-9=260 ई० पू० में कलिंग विजित किया। जिस युद्ध में एक लाख लोगों के मरने एवं डेढ़ लाख लोगों के बन्दी बनाए जाने की बात भी प्रकाश में आती है। यह भी बहुत स्वाभाविक है कि इस युद्ध के दुष्परिणामों में भूख, बीमारी एवं अन्यान्य परिस्थितियों में मरनेवाले लाखों लोगों को भी शामिल किया जाय। मौर्य साम्राज्य हिन्दूकुश से बंगाल की खाड़ी और हिमालय से मैसूर तक फैल चुका था और उसके राजनीतिक प्रभाव में चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सत्रियपुत्र और ताम्रपर्णी यानी श्रीलंका इत्यादि भी निश्चित रूप से शामिल थे।

शासन के नौवें साल कलिंगविजय की घटना के बाद अशोक ने ग्यारहवें साल बौद्धधर्म अंगीकार कर लिया तत्पश्चात् उसने जगह-जगह भ्रमण भी किया। हालांकि रोमिला थापर बौद्धधर्म स्वीकार करने की घटना की इस नाटकीयता से इनकार करती हैं। लेकिन इतना तो तय है कि इसी के बाद मगध के साम्राज्य विस्तार की उस चेतना और उस स्वरूप का अंत हो गया जो बिम्बिसार की अंग विजय के साथ सदियों पहले प्रारम्भ हुआ था। यह धम्म विजय का नया दौर था। शांति, सामाजिक सामरस्य, आर्थिक प्रगति, राजनीतिक स्थिरता एवं मनुष्य होने की सार्थकता को प्रमाणित करता हुआ नया दौर।

कलिंगयुद्ध की भीषणता का अशोक के जीवन एवं आदर्शों पर एकदम से निर्णायक असर रहा। पराजित प्रदेश की जनता के चीत्कारों ने उसकी अंतरात्मा को झकझोर कर रख दिया था। धौली एवं जौनगढ़ के शिलालेखों में स्पष्टत: निर्देशित है कि कलिंग एवं सीमांत प्रांतों की जनता के साथ कैसा व्यवहार हो, "प्रजा के साथ पुत्रवत् व्यवहार हो, जनता को प्यार किया जाय, अकारण लोगों को कारावास या दण्ड न दिया जाय। जनता के साथ न्याय हो।"

वैदेशिक सम्पर्कों, प्रजातीय सम्मिश्रणों, जैन एवं बौद्धधर्मों की प्रगतिशील वैचारिकी के प्रभाव में एक उदार राज्य और लोकतांत्रिक समाज बन रहा था। बौद्ध, जैन, आजीवक एवं इन ग्रन्थों के विचार प्रवाह को जगह देता। एक सहिष्णु समाज बन रहा था। लौह तकनीक के कृषि में अनुप्रयोग ने अतिरिक्त उत्पादन-अधिशेष को संभव बनाया। सरल ग्रामीण अर्थव्यवस्था-शहरों एवं उद्योगों पर आधारित अर्थव्यवस्था के लिए जगह खाली कर रही थी। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन सामाजिक संरचना में बदलाव हेतु दबाव बना रहे थे ताकि उन परिवर्तनों का समंजन हो सके।

अशोक तक आते-आते मौर्य साम्राज्य प्रभुत्ता सम्पन्न राज्य में तब्दील हो चुका था जहां शक्तिशाली सम्राटों की गौरवशाली परम्परा बन चुकी थी। एक कुशल और सक्षम नौकरशाही बेहतर प्रशासन उपलब्ध करा रही थी। संचार के सघन और सुचारू माध्यमों ने सुदूर प्रान्तों को भी केंद्र के साथ मजबूती से जोड़ रखा था। पारस्परिक ऐक्य ने भारत को एक सूत्र में आबद्ध कर रखा था। उस समय के भारत के लोग एक विस्तृत नागरिकता 'इंटरटेन' कर रहे थे। उतनी बड़ी राजशाही, एक जटिल अर्थ संजाल, धार्मिक मत-मतांतरों के बीच राज्य के बेहतर प्रबंधन हेतु एक ऐसी व्यवस्था की दरकार थी जिसे कम-से-कम सैन्य हस्तक्षेप के बावजूद ठीक-ठाक नियंत्रित किया जा सके। रोमिला थापर ने दो विकल्पों पर विचार किया है जो उस समय अशोक के समक्ष उपलब्ध रहे होंगे- पहला कि अशोक का ही समकालीन चीन का शी-हुआंग टी, जिसने सैन्य शक्ति एवं कठोर प्रबंधनों के आधार पर शासन किया और दूसरा कि विभिन्न मतवादों के बीच सार-संग्रह और नई समाजार्थिक संरचनाओं के मध्य संतुलन स्थापित करता एक नया सिद्धांत, जिस पर आमजन को राजी किया जा सके। अशोक ने इसी दूसरे विकल्प को अपनाया।

अशोक ने जो संहिता विकसित की वह मूलत: आचार-व्यवहार की संहिता थी, जो अपने नैतिक स्वरूप के कारण धर्म का एहसास कराती है। एच०एच० विल्सन ने अशोक के बौद्ध होने पर ही सवाल

उठाया तो एडवर्ड थामस ने एक नई स्थापना दी कि प्रारम्भ में अशोक जैन था। दीक्षितार का मत है कि अशोक ब्राह्मणधर्म का अनुयायी था। क्योंकि उसने शिव मंदिरों का भी निर्माण कराया था। तारानाथ अशोक को तांत्रिक बौद्ध बताते हैं। मध्यकालीन इतिहासकार अबुल फजल ने राजतरंगिनी में अशोक को 'जिन' का अनुयायी बताए जाने के आधार पर महावीर का अनुयायी मान लिया। फ्लीट महोदय उसके राजकीय आदेशों के आधार पर उसकी मान्यताओं को 'राजधर्म' करार देते हैं। स्मिथ ने कहा कि अशोक के 'धम्म' की अवधारणा में सभी धर्मों का सार है। सेनार्ट अशोक के धम्म को बुद्ध द्वारा प्रचारित मौलिक बौद्धधर्म बताते हैं। रीज डेविड्स भी इसी मत से सहमत हैं। भण्डारकर भी अशोक के बौद्ध होने की पुष्टि करते हैं। जबकि डॉ० आर० के० मुखर्जी कहते हैं कि अशोक को किसी एक धर्म विशेष के प्रचार में सरकारी अमले-जमले या राज्य की ताकत के दुरुपयोग का दोषी नहीं माना जा सकता।

लेकिन अशोक ने बड़ी खूबी से अपनी निजी आस्था को प्रजा के विश्वासों एवं उनकी आचार संहिता से अलग रखा। आजीवक, जैन, ब्राह्मण एवं अन्य मतानुयायी भी अपने विश्वासों के साथ आराम से रह सकते थे। हाँ अपनी निजी आस्था के वशीभूत उसने बौद्ध-स्थलों की यात्रा की जिन्हें स्मिथ ने कुछ इस क्रम से रखा है- लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, बोधगया, कुशीनगर। इसी यात्रा के क्रम में लुम्बिनीग्राम को 'बलि' से मुक्त कर दिया तथा भूमिकर भी मात्र आठवें हिस्से तक सीमित कर दिया। निगिलसागर अभिलेख से कनकमुनि के स्तूप संवर्धन का पता चलता है। कहा तो जाता है कि अशोक ने 84,000 चैत्यों एवं स्तूपों का निर्माण कराया था। धम्मप्रचार के निमित्त की गई इस यात्रा यानी 'धम्मयात' के दसवें वर्ष में बोधगया की यात्रा का वृतांत आता है। उसने शिकार या आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजनार्थ यात्राओं को हतोत्साहित किया एवं धम्मयात्रा को प्रोत्साहित किया। पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम विहार की यात्रा भी आचार्य उपगुप्त के साथ संभव हुई।

राज्यकाल के सत्रहवें वर्ष में आयोजित बौद्ध संगीति का उल्लेख दीपवंश में आया है। इसमें बौद्धधर्म को नए सिरे से व्यवस्थित किया गया। उत्तरी भारत के बौद्ध व्यवस्थाकार उपगुप्त को इस अधिवेशन का अध्यक्ष बताते हैं। जबकि कुछ अन्य ग्रंथ मोग्गलिपुत्ततिस्स को। सम्भवतः यह संगीति 250 ई० पू० में पाटलिपुत्र में ही हुई थी। यह अपनी निजी आस्था के निमित्त अशोक का एक महान प्रयास था, लेकिन राजधर्म का अनुपालन करते हुए जब उसने आजीवकों को एक गुफा दान दी तो यह राजधर्म के प्रति किया गया उसका नैसर्गिक और तटस्थ न्याय भी था। धम्म महामात्यों की नियुक्ति की गई तो विदेशों में भी धम्म प्रचार हेतु दूत भेजे गए। चतुर्थ शिलालेख से यह अभिज्ञात होता है कि युद्धभेरी सर्वथा शांत कर दी गई थी। धम्मविजय की संकल्पना के साथ पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री संबंध बनाए गए। सीरिया, मिस्र, मकदूनिया, साइरीन और एप्पिरस नामक देशों पर धम्मविजय हाशिल की जा चुकी थी। चौदहवें शिलालेख में यह उद्घोष है कि 'धम्मलिपि' सम्राट के द्वारा उत्कीर्ण कराई गयी जिसका सीधा उद्देश्य था धम्मप्रचार।

ग्यारहवें शिलालेख और द्वितीय लघुशिलालेख ने 'धम्म' के मूलभूत सिद्धांतों को बताया गया है- माता-पिता की सेवा, मित्रों-परिचितों, संबंधियों, साधुओं के प्रति उदारता का भाव। सबके प्रति आदर एवं भृत्यों-दासों के प्रति सदाचरण नैतिक आचरण में विकास एवं सुधार तथा धार्मिक भावना के प्रसार हेतु आत्म परीक्षण पर अशोक ने अपने सिद्धांतों में विशेष बल दिया।

स्वामी-दास का संबंध किसी भी समाज की संरचना, उसमें मानवीयता और न्यायशीलता का 'मीटर' होता है। इस लिहाज से अशोक के समय का समाज एक उदार समाज था जहाँ उच्चतम संस्तरों पर

मानवीय मूल्यों का निर्वहन संभव था। दंडविधान में भी बंदी के परिवार के प्रति संवेदना एवं उसकी सुरक्षा-संरक्षा संबंधी निर्देश एकबार फिर मौर्यकालीन प्रशासन में संवेदना एवं मानवीय मूल्यों की संस्थापना के साक्षी बनते हैं।

धार्मिक सहिष्णुता तत्कालीन समाज का एक और विशिष्ट तत्त्व है जिसे आज भी हमारे समाज में स्थापित किए जाने की जरूरत है। अशोक की मंशा थी कि अपने मत-सम्प्रदाय की प्रशंसा के क्रम में हम किसी अन्य की आस्था क्षतिग्रस्त न करें।

अशोक ने महामात्यों की नियुक्ति कर जनता और राजा के बीच संवाद की संभावना को और बढ़ा दिया था, क्योंकि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस पर प्रकाश डाला है कि अपनी प्रजा के लिए सम्राट की अनुपलब्धता असंतोष को बढ़ाने वाली साबित होती है। चन्द्रगुप्त के बारे में मेगस्थनीज ने स्पष्ट किया ही है कि मालिश कराते वक्त भी वह जनता की फरियाद सुन सकता था। अशोक के द्वारा की गई धम्मयात्राओं को प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर प्रजा के साथ सम्वादहीनता तोड़ने की कोशिशों के तौर पर भी देखती हैं। ग्रामीण जनता के प्रति अशोक ने विशेष ध्यान दिया था एवं उनकी समस्याओं के निराकरण हेतु ‘राजुक’ नामक अधिकारियों की नियुक्ति की थी। अशोक ने स्थानीय स्तर के अधिकारियों को भी यह अधिकार दिया था कि वे अच्छा कार्य करनेवाले को उसी स्तर पर पुरस्कृत कर सकते हैं।

लोकोपकारी कार्यों पर अशोक ने विशेष ध्यान दिया था। सड़कें बनवाना, कुँआ खोदवाना, वृक्षारोपण कराना, पशुओं एवं मनुष्यों के लिए औषधालयों का निर्माण कराना, पशुबध निषेध पर अमल कराना, औषधियों का उद्यान लगवाना, इत्यादि कई ऐसे कार्य थे जिन्हें अशोक ने विशेष ध्यान देकर संपन्न कराया था।

अशोक की नीतियों के माध्यम से पालि भाषा और जिस ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ उससे लोकधर्म एवं लोककला एवं लोकसंस्कृति का प्रसार हुआ। मानवता का अंतर्राष्ट्रीय बोध विकसित हुआ सो अलग।

अशोक ने जिस उच्च राजत्व सिद्धांत की नींव रखी वह आज भी उदाहरण है। आज के लोकतांत्रिक विश्व में भी एक मील पत्थर- “जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरी संतान इस संसार और परलोक में सुख-वैभव को भोगे, ठीक वैसे ही मेरी कामना है कि सभी लोग उसी प्रकार सुखी हों। कई ऐसे व्यक्ति हैं जो हिंसा का मार्ग अपनाते हैं। तुम्हें चाहिए कि तुम उन्हें ठीक मार्ग पर ले आओ,”- यह आदेश था अशोक का अपने अधिकारियों को।

छठे शिलालेख में अशोक ने कहा है कि “बहुत समय हो गया है, किन्तु अभी तक कार्य पूर्ण नहीं हुआ है। मुझे समय-समय पर लोगों को मिलने वाले दु:खों की सूचनाएँ अभी भी मिलती रहती हैं- मैंने इस बात का फैसला किया है कि हर समय और हर स्थान पर मुझे जनता की आवाज सुनने के लिए बुलाया जा सकता है। चाहे मैं भोजन कर रहा होऊँ, मैं सो रहा होऊँ, या अपने उद्यान में होऊँ। मेरे राज्य के अधिकारी जनता की कोई भी बात मुझ तक पहुँचा सकते हैं। जनता की सेवा के लिए मैं हर समय तैयार हूँ।”

अशोक की सबसे बड़ी कामना थी कि परलोक ही नहीं इहलोक भी सुधरे और आंनदमय हो। इन सब बातों का प्रभाव भण्डारकर के मतानुसार थेराप्युटे और ऐसेनिज के यहूदी मतों पर तो पड़ा ही मध्ययुगीन ईसाई धर्म भी इससे पूर्णतया प्रभावित हुआ।

वात्स्यायन

–नरेन

अगर दुनिया में ऐसी कोई एक पुस्तक है, जिसकी भारत के साथ गहरी पहचान जुड़ी हुई है, तो वह है लगभग 1600 वर्ष पूर्व इसी पाटलिपुत्र की धरती पर वात्स्यायन द्वारा रचित 'कामसूत्र'। स्त्री-पुरुष के बीच मानसिक और शारीरिक प्रेम संबंधों को बेबाकी से सूक्ष्मता पूर्वक व्याख्यायित करने वाली विश्वप्रसिद्ध इस पुस्तक के आज 200 से भी अधिक संस्करण प्रचलन में हैं और आज भी नयी-नयी व्याख्याओं के साथ इस लोकप्रिय ग्रंथ के नये-नये संस्करण दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग भाषाओं में लगातार प्रकाशित होते चले जा रहे हैं। संस्कृत में लिखे इस ग्रंथ को 1883 में रिचर्ड बर्टन ने अँग्रेजी में 'कामसूत्रा ऑफ वात्स्यायन' शीर्षक से अनूदित करके पूरी दुनिया के सामने प्रस्तुत किया था। रिचर्ड बर्टन तत्कालीन भारतीय सेना में थे जो बाद में भारत में ही बस गये थे और एक स्थानीय औरत के साथ शादी करके यहीं के होकर रह गये थे। भारतीय संस्कृति में उनकी गहरी रूचि थी और उसे और ज्यादा गहरायी से समझने के लिए उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अरबी तथा पर्सियन भाषायें भी सीखी थीं।

'कामसूत्र' के रचना काल के दौर से पूर्व ही अपने बहुआयामी विकास की शोहरत की वजह से मौर्यकाल की प्रसिद्धि दिक्-दिगन्त तक फैली हुई थी। विडम्बना देखिये कि स्त्री और पुरुष के बीच के मानसिक और शारीरिक अंतर्संबंधों को अभूतपूर्व ढंग से व्याख्यायित करने वाले इस ग्रंथ के रचयिता वात्स्यायन स्वयं ब्रह्मचारी थे। वात्स्यायन एक ब्राह्मण थे जो गुप्त काल में चौथी शताब्दी में पाटलिपुत्र में ही रहते थे। दरअसल 'कामसूत्र' पूरी तरह से वात्स्यायन द्वारा ही रचित ग्रंथ नहीं है। वात्स्यायन धार्मिक अध्ययन के लिए बनारस में रह रहे थे। वहीं अपने अध्ययनकाल के दौरान उन्होंने कामकला और स्त्री-पुरुष संबंधों पर विभिन्न ऋषि-मुनियों द्वारा पहले से किये गये कार्यों को एक जगह पर सुनियोजित तरीके से संकलित करके 'कामसूत्र' ग्रंथ को तैयार किया था। वस्तुत: कामसूत्र में वर्णित स्त्रियों और पुरुषों के आचार-विचार तत्कालीन पाटलिपुत्र वासियों के ही थे। अपनी समग्रता में 'कामसूत्र' महज संभव-असंभव, ग्राह्य, अग्राह्यय, कथित नैतिक या अनैतिक तरीकों में पारंगतता हासिल करके निर्द्वन्द्व भाव से यौनसुख प्राप्त करने की मार्गदर्शिका मात्र नहीं था। 'कामसूत्र' के विभिन्न अध्याय अपने पाठक स्त्री-पुरुषों को ढेर सारे ऐसे टिप्स देते हैं कि वे अपने मानस और व्यक्तित्व को आकर्षक रूप से निखारकर किस प्रकार समाज में अपनी गरिमामय हैसियत का निर्माण करने के कार्य को अंजाम दें, किस प्रकार नेतृत्वकारी गुणों से लैस हों और अच्छे नागरिक और राजनयिक बनें।

आमतौर पर प्राचीन धर्मग्रंथ ईश वंदना या किसी के स्तुति गायन से आरंभ होता है, लेकिन 'कामसूत्र' इस मामले में संभवत: अनोखा ग्रंथ है जो अपने प्रथम अध्याय में मूल्यों की स्तुति से आरंभ होता है- "धर्म, अर्थ और प्रेम (काम) के क्षेत्र में प्रशंसित होना ही जीवन का लक्ष्य है।"

आज के दौर में जब मानव सभ्यता अपनी भौतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक और तथाकथित रूप से 'सांस्कृतिक उन्नयन' की उपलब्धियों को लेकर अत्यंत आत्ममुग्ध है, जरा इस तथ्य पर गौर करना भी प्रासंगिक होगा कि हमारा समाज यौन विषयक मामलों में भी कितना पारदर्शी, वैज्ञानिक, उदार और व्यावहारिक दृष्टिकोण रखता है। पाखण्डी नैतिकता भरे हमारे आग्रहों ने स्थितियों को और जटिल और कुहरीला बना रखा है। स्त्री-पुरुष संबंध पर चर्चा करना आज भी समाज में निषिद्ध और अश्लील माना जाता है। भला कल्पना करें कि आज का विश्व जिस प्रकार एच०आई०वी० (एड्स) की महामारी की

चपेट में पड़ा विनाश की दिशा में अग्रसर हो रहा है, वैसी स्थिति में यौन विषयक मुद्दों पर पारदर्शी और पाखण्ड रहित नजरिये से सामाजिक विमर्श किया जाना कितना आवश्यक है! आज से लगभग 16-17 सदी पूर्व वात्स्यायन ने ऐसा किया था। उन्होंने नि:संकोच, बगैर किसी कथित नैतिक मूल्यों की पक्षधरता के, समाजिक जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए मनुष्य की यौन मानसिकता को साफगोई से व्याख्यायित किया था। 'कामसूत्र' के अस्तित्व में आने के लगभग 16 सदी बाद पिछली सदी में सिगमंड फ्रायड, हैवलॉक एलिस, शीयर ह्वाईट, किन्से, जुंग तथा नैंसी फ्रायडे जैसी यौन मनोवैज्ञानिकों ने मानव मन की यौन विषयक गुत्थियों को अनकने-परखने का वैज्ञानिक अध्ययनों का सिलसिला आरंभ किया था और यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है कि वात्स्यायन ने आज से 16-17 सदी पूर्व कितने धैर्य एवं परिपक्वता के साथ तत्कालीन मानव समाज के यौन आचरणों को बारीकी के साथ जान-समझ कर उन्हें साहस के साथ लिपिबद्ध करके 'कामसूत्र' में समेटा था।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में स्त्री की स्वतंत्र सत्ता को, उसकी अस्मिता को, एक मानव के रूप में उसकी इच्छा-आकांक्षा को जितने गरिमामय अंदाज में सम्मान दिया है, वह विस्मित करता है कि वह आज के अनगिनत स्वनामधन्य स्त्री विमर्श वादियों से मीलों आगे हैं और अपनी पारदर्शी निष्ठा के कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वात्स्यायन 'कामसूत्र' में लिखते हैं कि एक स्त्री को किशोरावस्था प्राप्त करने के पूर्व ही अपनी शिक्षा आरंभ कर देनी चाहिये तथा उनकी शादी हो जाने के बाद उन्हें अपने पति के साथ अपनी शिक्षा अवश्य जारी रखनी चाहिए। स्त्रियों को चाहिए कि वह अपनी दैहिक और अपने परिवेश की साफ-सफाई का विशेष ध्यान रखे। वात्स्यायन ने लिखा है कि स्त्रियाँ फूलों के समान सुकुमार होती हैं, उनके साथ अत्यंत संवेदनशील अंदाज में व्यवहार किया जाना चाहिए, ताकि वे स्वयं को सुरक्षित महसूस कर सकें।

वात्स्यायन का 'कामसूत्र' इस विषय का सर्वश्रेष्ठ और प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्यों के समस्त पक्षों, यथा- सामाजिक, वैयक्तिक, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, भोग आदि का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। अपने अत्यंत संवेदनशील विषय वस्तु के बावजूद 'कामसूत्र' कहीं से भी अश्लीलता का शिकार नहीं हुआ है, बल्कि उसमें निष्कपट सरलता है। 'कामसूत्र' में सुखी-संपन्न एवं सुसंस्कृति के प्रति लगाव रखनेवाले नागरिकों (पाटलिपुत्रवासियों) के दैनिक जीवन का वर्णन है। उन्हें कलात्मक विषयों में रूचि होनी चाहिये। ऐसा जीवन वे नागरिक ही बिता सकते थे, जिनके पास पर्याप्त अवकाश हो और जिनके लिये आवश्यक भौतिक सुख-सुविधायें उपलब्ध हों। वात्स्यायन ने लिखा है कि ऐसा परिवेश प्रस्तुत किए जाएँ, जो कविता और चित्रकला की प्रेरणा के अनुकूल हों और कलाप्रेमी नागरिकों का वाक्‌पटुता के साथ-साथ इन दोनों कलाओं में दक्ष होना चाहिए। कवि सम्मेलनों का तथा सांस्कृतिक मेलों का आयोजन हुआ करता था। युवा नागरिकों को प्रणय कला में पारंगत होने के साथ-साथ निखरे-आकर्षक व्यक्तित्व का स्वामी बनने के लिए उस काल में 'कामसूत्र' और इसी प्रकार के अन्य ग्रंथों की रचना की गयी थी।

उन दिनों गणिकाएँ भी नागरिक जीवन का सामान्य अंग हुआ करती थीं और उन्हें राज्याश्रय प्राप्त रहता था। राज्य उनसे कर वसूलता था और उनकी सुरक्षा भी सुनिश्चित करने का प्रयास करता था। गणिकाओं को न तो भावुकता भरी दृष्टि से देखा जाता था और न ही उपेक्षा की दृष्टि से। 'कामसूत्र' में गणिकाओं को दिये जाने वाले प्रशिक्षणों के विवरण से स्पष्ट है कि उस काल में इस व्यवसाय की पर्याप्त माँग थी। ग्रंथों में इस बात के भरपूर साक्ष्य उपलब्ध हैं कि वज्जि गणराज्य वैशाली और मगध की राजधानी राजगीर में खूबसूरत लड़कियों को 'नगरशोभिनी' बना दिया जाता था। इस संदर्भ में

वैशाली की नगरवधू आम्रपाली और राजगीर की नगरवधू शालवती का उल्लेख किया जाना प्रासंगिक होगा। ये नगर की प्रतिष्ठित नागरिक हुआ करती थीं और काफी धन अर्जित करती थीं। आम्रपाली के आग्रह पर गौतम बुद्ध को भी उसके आतिथ्य को स्वीकारने में संकोच नहीं हुआ था। आज के सामाजिक जकड़न की तुलना में स्त्रियाँ ज्यादा स्वतंत्र थीं और उनमें से बड़ी संख्या में अपने मनोनुकूल जीवन यापन करने का निर्णय ले सकती थीं।

वात्स्यायन न सिर्फ एक साहसी समाज शास्त्रीय अध्येता थे, बल्कि महत्त्वपूर्ण न्यायिक दार्शनिक भी थे। उन्हें गौतम के बाद दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक माना जाता था, जिन्होंने 'न्यायसूत्र' का भाष्य लिखा था। वात्स्यायन से गुजरना स्वयं को पाखण्डी नैतिकता से अतिक्रमित करना है। वात्स्यायन जितना अपने काल में प्रासंगिक थे, उससे कहीं ज्यादा वे आज की दुनिया के लिये भी प्रासंगिक हैं।

नालंदा, विक्रमशिला और ओदंतपुरी वश्वविद्यालय

—नरेन

बौद्धधर्म की उन्नति के साथ-साथ बौद्ध विहार भी शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये तथा कुछ ख्याति-प्राप्त महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हो गये। प्राचीन भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयों को तत्कालीन ज्ञान की सभी शाखाओं के विकास का केंद्र माना जाना चाहिए।

प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्रों में नालंदा विश्वविद्यालय का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। बिहार प्रान्त की राजधानी पटना के दक्षिण में लगभग 40 मील की दूरी पर आधुनिक बड़गाँव नामक ग्राम के समीप यह स्थित था। राजगृह से नालंदा की दूरी लगभग आठ मील है। सर्वप्रथम यहाँ एक बौद्ध-विहार की स्थापना गुप्तकाल में करवाई गयी। चीनी यात्री हुएनसांग लिखता है कि इसका संस्थापक 'शक्रादित्य' था, जिसने बौद्धधर्म के त्रिरत्नों के प्रति महती श्रद्धा के कारण इसकी स्थापना करवायी थी। 'शक्रादित्य' की पहचान कुमारगुप्त प्रथम (वर्ष 415-455) से की जाती है जिसकी सुप्रसिद्ध उपाधि 'महेन्द्रादित्य' की थी। 'महेन्द्र' तथा 'शुक्र' एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। कुमारगुप्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी बुद्धगुप्त (बुधगुप्त) ने अपने पिता के कार्य को जारी रखते हुए इसके दक्षिण में दूसरा विहार बनवाया। इसके बाद तथागत गुप्त ने पूरब में एक विहार बनवाया तथा फिर बालादित्य ने पूर्वोत्तर दिशा की ओर एक अन्य विहार बनवाया। तत्पश्चात् उसके पुत्र वज्र ने इस विहार के पश्चिम की ओर एक विहार बनवा दिया। इसके बाद मध्य भारत के एक शासक ने यहाँ एक और विहार बनवाया तथा सभी विहारों को चारों ओर से घेरते हुए एक चाहरदीवारी बनवा दी। चीनी यात्री द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त राजाओं में प्रथम पाँच गुप्तवंश से संबंधित हैं यद्यपि उनकी पहचान तथा क्रम सुनिश्चित नहीं है। मध्य भारत के शासक की पहचान सम्राट हर्ष से की जाती है जिसने नालंदा में एक ताम्र विहार बनवाया था। ग्यारहवीं सदी के अंत तक हिंदू तथा बौद्धदाताओं द्वारा नालंदा में मठ तथा विहार बनवाये जाने का क्रम चलता रहा। हर्षकाल तक आते-आते नालंदा महाविहार एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया।

नालंदा में की गयी खुदाइयों से पता चलता है कि यहाँ का विश्वविद्यालय लगभग एक मील लम्बे तथा आधा मील चौड़े क्षेत्र में स्थित था। भवन, स्तूप एवं विहार वैज्ञानिक योजना के आधार पर बनाये गये थे। विश्वविद्यालय में आठ बड़े कमरे तथा व्याख्यान के लिए तीन सौ छोटे कमरे बने हुऐ थे। तीन भवनों में स्थित 'धर्मगञ्ज' नामक विशाल पुस्तकालय था। नालंदा के भवन भव्य, उत्तुंग तथा बहुमंजिले थे। हुएनसांग का जीवनचरितकार ह्वी-ली यहाँ के भवनों का अत्यंत रोचक विवरण प्रस्तुत करता है जो इस प्रकार है- 'संपूर्ण संस्थान ईंटों की दीवार से घिरा हुआ है जो कि पूरे मठ को बाहर से घेरती है। एक द्वार विद्यापीठ की ओर है जिससे आठ अन्य हॉल, जो (संघाराम के) बीच में स्थित हैं, अलग किये गये हैं। प्रचुर रूप में अलंकृत मीनारें तथा अत्यंत भव्य गुम्बज, पर्वत की नुकीली चोटियों की तरह परस्पर हिले-मिले से खड़े हैं। मान मंदिर (प्रातःकालीन) धूम्र में विलीन हुए से लगते हैं तथा ऊपरी कमरे बादलों के ऊपर विराजमान हैं। खिड़कियों से कोई यह देख सकता है कि किस प्रकार हवा तथा बादल नया-नया रूप धारण करते हैं, और उत्तुंग ओलतियों के ऊपर सूर्य एवं चंद्रमा की कांति देखी जा सकती है। गहरे तथा पारभासी तालाबों के ऊपर नीलकमल खिले हुए हैं जो गहरे लाल रंग के कनक पुष्पों से मिले हैं तथा बीच-बीच में आम्रकुञ्ज चारों ओर अपनी छाया बिखेरते हैं। बाहर की सभी कक्षायें जिनमें श्रमण आवास है, चार-चार मंजिली हैं। उनके मकराकृत बार्जे, रंगीन ओलतियाँ,

सुसज्जित एवं चित्रित मोती के समान लाल स्तम्भ, सुअलंकृत लघु स्तम्भ तथा खपड़ों से ढकी हुई छतें जो सूर्य का प्रकाश सहस्त्रों रूप में प्रतिबिम्बित करती हैं- ये सभी विहार की शोभा को बढ़ा रही हैं।" इस चीनी विवरण की पुष्टि न्युनाधिक रूप में आठवीं शती के कन्नौज नरेश यशोवर्मन् के नालंदा से प्राप्त प्रस्तर अभिलेख से हो जाती है जिसके अनुसार 'नालंदा की गगनचुम्बी पर्वत शिखर के समान विहारवलियाँ पृथ्वी के ऊपर ब्रह्मा द्वारा विचरित सुंदर माला के समान शोभायान हो रहीं थीं। नालंदा में विहारों के अतिरिक्त अनेक स्तूप भी थे जिनमें बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियाँ रखी गयी थीं। इस प्रकार इन सभी भवनों के बीच नालंदा का विश्वविद्यालय एक विस्तृत क्षेत्र में स्थित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा के केंद्र के रूप में नालंदा की ख्याति पाँचवीं शताब्दी से बढ़ी तथा छठी शताब्दी तक आते-आते यह न केवल भारत अपितु अंतर्राष्ट्रीय जगत में भी प्रतिष्ठित हो गयी। चीनी यात्री फाहियान, जो चौथी शताब्दी में भारत की यात्रा पर आया, नालंदा का कोई उल्लेख नहीं करता जबकि उसके दो शताब्दियों बाद आने वाले चीनी यात्री हुएनसांग तथा इत्सिंग इसकी उच्च शब्दों में प्रशंसा करते हैं। स्पष्ट है कि हर्षकाल में नालंदा को पूर्ण राजकीय संरक्षण मिला, जिसके परिणामस्वरूप यह जगत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गया। हर्ष ने लगभग एक सौ गाँवों की आय इसके निर्वाह के लिये दिया। चीनी विवरण से पता चलता है कि इन गाँवों के दो सौ गृहस्थ प्रतिदिन कई सौ पिकल (एक पिकल=134 पौण्ड) साधारण चावल तथा कई सौ कट्टी (एक कट्टी=160 पौण्ड) घी और मक्खन नालंदा विश्वविद्यालय को दान में दिया करते थे। इस प्रकार यहाँ विद्यार्थियों को जीवनोपयोगी वस्तुएँ इतनी अधिक मात्रा में सुलभ थीं कि उन्हें माँगने के लिये अन्यत्र नहीं जाना पड़ता था तथा वे अपना सारा समय विद्याध्ययन में ही लगाते थे।

नालंदा विश्वविद्यालय में न केवल भारत के कोने-कोने से अपितु चीन, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, मध्य एशिया आदि देशों से भी बड़ी संख्या में विद्यार्थी शिक्षा-ग्रहण करने आते थे। ह्वी-ली यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या दस हजार बताता है। ज्ञात होता है कि यहाँ अध्ययन-अध्यापन का स्तर अत्यंत उच्च कोटि का था। विश्वविद्यालय में शिक्षा-ग्रहण हेतु प्रवेश के लिये द्वार पंडितों के द्वारा द्वार पर ही एक कठिन परीक्षा ली जाती थी जिसमें दस में दो या तीन विद्यार्थी ही मुश्किल से सफल हो पाते थे। यहाँ के स्नातकों का बड़ा सम्मान था तथा देश में कोई भी उनकी समानता नहीं कर सकता था। इसी कारण यहाँ प्रवेश लेने के लिये विद्यार्थियों की अपार भीड़ लगी रहती थी।

यद्यपि नालंदा महायान बौद्धधर्म की शिक्षा का प्रमुख केंद्र था तथापि यहाँ अन्य अनेक विषयों की शिक्षा भी समुचित रूप से प्रदान की जाती थी। पाठ्यक्रम में महायान तथा बौद्धधर्म की अठारह सम्प्रदायों के ग्रंथों के अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, योगशास्त्र चिकित्सा, तंत्रविद्या, सांख्यदर्शन के ग्रंथों आदि की शिक्षा व्याख्यानों के माध्यमों से दी जाती थी। विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्वान प्रतिदिन सैकड़ों व्याख्यान देते थे जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी को उपस्थित होना आवश्यक था। हुएनसांग, जिसने स्वयं यहाँ 18 महीने तक रहकर अध्ययन किया था, लिखता है कि यहाँ सैकड़ों की संख्या में अत्यंत उच्चकोटि के विद्वान निवास करते थे। 'एक हजार व्यक्ति ऐसे थे जो सूत्रों और शास्त्रों के बीस संग्रहों का अर्थ समझा सकते थे, 500 व्यक्ति ऐसे थे जो 30 संग्रहों को पढ़ा सकते थे, धर्म के आचार्य को लेकर दस शिक्षक ऐसे थे जो 50 संग्रहों के ज्ञाता थे। इस प्रकार विभिन्न विद्याओं, विचारों एवं विश्वासों में सामंजस्य स्थापित करना विश्वविद्यालय की प्रमुख विशेषता थी। यहाँ विचारों एवं विश्वासों की स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता की भावना विद्यमान थी। हुएनसांग के समय शीलभद्र ही विश्वविद्यालय के कुलपति थे। चीनी यात्री उनके चरित्र तथा विद्वता की काफी प्रशंसा करता है। वे सभी

विषयों के प्रकाण्ड विद्वान थे। उसने स्वयं शीलभद्र के चरणों में बैठकर अध्ययन किया था। वह उन्हें 'सत्य एवं धर्म का भण्डार' कहता है। यहाँ के अन्य विद्वानों में धर्मपाल (जो शीलभद्र के गुरु तथा उनके पूर्वगामी कुलपति थे), चंद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचंद्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुयी थी। ये सभी विद्वान मात्र अच्छे शिक्षक ही नहीं थे अपितु विभिन्न ग्रंथों के रचयिता भी थे। इनकी रचनाओं का समकालीन विश्व में बड़ा सम्मान था। इन प्रसिद्ध आचार्यों के अतिरिक्त नालंदा में अन्य अनेक विद्वान भी थे जिन्होंने विद्या के प्रकाश से पूरे देश को आलोकित किया।

नालंदा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ग्रंथों का विशाल संग्रह तथा बड़ी संख्या में प्राचीन पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित थीं। चीनी यात्रियों के इसके प्रति आकर्षण का एक कारण यह था कि उन्हें यहाँ बौद्ध ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने की सुविधा थीं। यहाँ का धर्मगंज नामक पुस्तकालय तीन भव्य भवनों- रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक में स्थित था। विश्वविद्यालय का प्रशासन चलाने के लिए दो परिषदें थीं- बौद्धिक तथा प्रशासनिक। इन दोनों के ऊपर कुलपति होता था। विश्वविद्यालय का खर्च शासकों तथा अन्य दाताओं द्वारा प्रदान किये गये ग्रामों के राजस्व से चलता था। इत्सिंग के समय इसके अधिकार में दो सौ गाँवों का राजस्व था। खुदाई में कुछ गाँवों की मुहरें तथा पत्र मिले हैं जो विश्वविद्यालय को सम्बोधित करके लिखे गये हैं।

इस प्रकार नालंदा अपने ढंग का अद्भुत एवं निराला विश्वविद्यालय था। हर्ष के बाद लगभग बारहवीं सदी तक इसकी ख्याति बनी रही। मंदसोर प्रस्तर लेख (आठवीं सदी) से पता चलता है कि सभी नगरों में नालंदा अपने विद्वानों के कारण, जो विभिन्न धर्मग्रंथों तथा दर्शन के क्षेत्र में निष्णात थे, सबसे अधिक ख्याति प्राप्त किये हुए था। नवीं सदी में यह अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त किये हुए था। ज्ञात होता है कि इसकी ख्याति से आकर्षित होकर जावा एवं सुमात्रा के शासक बालपुत्रदेव ने नालंदा में एक मठ बनवाया तथा उसके निर्वाह के लिये अपने मित्र बंगाल के पाल नरेश देवपाल से पाँच गाँव दान में दिलवाया।

ग्यारहवीं सदी से पाल शासकों ने नालंदा के स्थान पर विक्रमशिला को राजकीय संरक्षण देना प्रारम्भ कर दिया जिससे नालंदा का महत्त्व घटने लगा। तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि इस समय से नालंदा पर तंत्रयान का प्रभाव बढ़ने लगा। इस कारण भी नालंदा की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची। अंततः बारहवीं सदी के अंत में मुस्लिम आक्रांता बख्तियार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय को ध्वस्त कर दिया। यहाँ के भिक्षुओं की हत्या कर दी गयी तथा बहुमूल्य पुस्तकालय को जला दिया गया। इस प्रकार एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के शिक्षा के केंद्र का दुखद अंत हुआ।

नालंदा विश्वविद्यालय के विद्वानों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म एवं भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। आठवीं सदी से नालंदा के विद्वान तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ जाने लगे। नालंदा में तिब्बती भाषा का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया। तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचारकों में सर्वप्रथम चन्द्रगोमिन् का नाम उल्लेखनीय है। उनके ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। नालंदा के दूसरे बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित् आठवीं सदी के मध्य तिब्बत नरेश के निमंत्रण पर वहाँ गये तथा बौद्धधर्म का उपदेश दिया। उन्हीं के निर्देशन में प्रथम तिब्बती बौद्धमठ निर्मित कराया गया। इस मठ में अध्यक्ष के रूप में जीवनपर्यन्त रहते हुए शांतरक्षित् ने तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार किया। उनके इस कार्य में नालंदा से ही शिक्षित कश्मीरी भिक्षु पद्मसंभव ने भरपूर सहायता प्रदान की।

इस प्रकार नालंदा प्राचीन शिक्षा का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण केंद्र था जिसकी ख्याति न केवल भारत

अपितु विदेशों में भी फैली हुई थी। वस्तुतः यह एक विश्वभारती था जहाँ से सम्पूर्ण देश में संस्कृति का प्रसार होता था। यहाँ के विद्वानों की महानता, उदारता एवं पाण्डित्य के परिणामस्वरूप नालंदा का नाम ही तत्कालीन विश्व में विद्या के सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम गुणों का पर्याय बन गया था।

बिहार प्रांत के भागलपुर जिले में अंतिचक के समीप स्थित विक्रमशिला नालंदा के ही समान एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का शिक्षा केंद्र रहा है। इसकी स्थिति भागलपुर से 24 मील पूर्व की ओर पथरघाट नामक पहाड़ी पर बतायी गयी है जहाँ से प्राचीन काल के विस्तृत खण्डहर प्राप्त होते हैं।

विक्रमशिला के महाविहार की स्थापना पाल नरेश धर्मपाल (755-800 ई०) ने करवायी थी। उसने यहाँ मंदिर तथा मठ बनवाये और उन्हें उदारतापूर्वक अनुदान दिया। यहाँ 160 विहार तथा व्याख्यान के लिए अनेक कक्ष बने हुए थे। धर्मपाल के उत्तराधिकारी तेरहवीं सदी तक इसे राजकीय संरक्षण प्रदान करते रहे। परिणामस्वरूप विक्रमशिला लगभग चार शताब्दियों से भी अधिक समय तक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बना रहा।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में छः महाविद्यालय थे। प्रत्येक में एक केंद्रीय कक्ष तथा 108 अध्यापक थे। केंद्रीय कक्ष को 'विज्ञान भवन' कहा जाता था। प्रत्येक महाविद्यालय में एक प्रवेश द्वार होता था तथा प्रत्येक प्रवेश द्वार पर एक-एक द्वारपण्डित बैठता था। द्वारपण्डित द्वारा परीक्षण किये जाने के बाद ही किसी विद्यार्थी का महाविद्यालय में प्रवेश सम्भव था। कनक के शासनकाल में निम्नलिखित द्वारपण्डितों के नाम हमें मिलते हैं।-

1. पूर्व द्वार - आचार्य रत्नाकर शान्ति
2. पश्चिम द्वार - वागीश्वर कीर्त्ति (वाराणसेय)
3. उत्तर द्वार - नरोप
4. दक्षिण द्वार - प्रज्ञाकरमति
5. प्रथम केन्द्रीय द्वार - रत्नवज्र (कश्मीरी)
6. द्वितीय केन्द्रीय द्वार - ज्ञानश्रीमित्र (गौड़ीय)

विश्वविद्यालय में अध्ययन के विशेष विषय व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा, तंत्र, विधिवाद आदि थे। यहाँ का पाठ्यक्रम नालंदा के समान विस्तृत नहीं था। आचार्यों में दीपंकर श्रीज्ञान का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है जो इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वे हीनयान, महायान, वैशेषिक तथा तर्कशास्त्र के विद्वान और तिब्बती बौद्धधर्म के महान् लेखक थे। ग्यारहवीं सदी में तिब्बती नरेश चनचुब के निमंत्रण पर वे तिब्बत गये जहाँ उन्होंने बौद्धधर्म के सुधार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। तिब्बती स्रोतों में उन्हें दो सौ ग्रंथों की रचना का श्रेय प्रदान किया गया है। बारहवीं सदी में अभयांकर गुप्त यहाँ के आचार्य थे। वे तंत्रवाद के महापण्डित थे। तिब्बती तथा संस्कृत में उन्होंने कई ग्रंथ लिखे। अन्य विद्वानों में ज्ञानपाद, वैरोचन, रक्षित, जेतारी, रत्नाकर, शांति, ज्ञानश्री मित्र, रत्नव्रज, तथागत आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। बारहवीं सदी में लगभग तीन हजार विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें अधिकांश तिब्बत के थे। तिब्बती छात्रों के आवास के लिये विश्वविद्यालय में एक विशिष्ट अतिथिगृह बनवाया गया था। यहाँ एक संपन्न तथा विशालकाय पुस्तकालय भी था। विश्वविद्यालय का प्रबंध चलाने के लिये मुख्य संघाध्यक्ष की देखरेख में एक परिषद् थी जिसके सदस्य विभिन्न प्रशासनिक कार्यों जैसे नवागन्तुकों को दीक्षित करने, नौकरों की व्यवस्था तथा उनकी देखभाल, खाद्य सामग्री तथा इंधन की आपूर्ति, मठ के कार्यों का आबंटन आदि को संपन्न किया करते थे। शैक्षणिक व्यवस्था छः द्वारपण्डितों की समिति द्वारा ही संचालित होती थी। इस समिति का भी एक अध्यक्ष होता था। कालान्तर में विक्रमशिला विश्वविद्यालय

की प्रशासनिक परिषद् ही नालंदा विश्वविद्यालय का भी कार्य देखने लगी। तारानाथ के विवरण से ज्ञात होता है कि पाल शासक नालंदा विश्वविद्यालय के कार्यों की देखरेख करने के लिये विक्रमशिला के आचार्यों को नियुक्त किया करते थे। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम की अवधि के विषय में हमें पता नहीं है। मात्र यह ज्ञात होता है कि यहाँ के स्नातकों को अध्ययनोपरान्त पाल शासकों द्वारा उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं। संभव है वहाँ आजकल की भाँति दीक्षान्त समारोहों का आयोजन भी किया जाता रहा हो जिसमें समकालीन पाल शासक कुलाधिपति (Chancellor) की हैसियत से उपस्थित होते हों। तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि जेतारी तथा रत्नवज्र ने पाल राजाओं- महीपाल तथा कनक- के हाथों से उपाधियाँ प्राप्त की थी। स्नातकों को 'पण्डित' की उपाधि दी जाती थी। महापण्डित, उपाध्याय तथा आचार्य क्रमश: उच्चत्तर उपाधियाँ थीं।

इस प्रकार विक्रमशिला ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में भारत का सर्वाधिक सम्पन्न, सुसंगठित तथा प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था। नालंदा के ही समान इस विश्वविद्यालय का मुख्य कार्य तिब्बत में भारतीय सभ्यता का प्रचार-प्रसार करना था। विश्वविद्यालय के प्रमुख आचार्य दीपंकर सहित कई विद्वान् तिब्बत गये जहाँ उन्होंने बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार यहाँ के आचार्यों ने भारतीय ज्ञान-विज्ञान को अंतर्राष्ट्रीय जगत् में प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

1203 ई० में मुस्लिम आक्रांता बख्तियार खिलजी ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को दुर्ग के भ्रम में ध्वस्त कर दिया। भिक्षुओं की सामूहिक हत्या कर दी गयी तथा ग्रंथों को जला दिया गया। इस समय विश्वविद्यालय के कुलपति शाक्यश्रीभद्र थे। वे अपने कुछ अनुयायियों के साथ किसी प्रकार बच कर तिब्बत भाग गये। इस प्रकार इस गौरवशाली शिक्षण संस्थान का अंत दुखद रहा।

विक्रमशिला के अतिरिक्त पाल नरेश रामपाल के समय (ग्यारहवीं-बारहवीं सदी) में ओदन्तपुरी तथा जगदल्ल में भी शिक्षण केन्द्र स्थापित करवाये गये थे। ओदंतपुरी विश्वविद्यालय वर्तमान नालंदा जिला के मुख्यालय बिहारशरीफ में कहीं अवस्थित था। इस उभर रहे महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय को भी बारहवीं सदी के आरंभ में बख्तियार खिलजी ने इस कदर नेस्तनाबूद कर दिया कि आज उसका कोई निशान भी ढूँढे नहीं मिलता है। हूबहू ओदंतपुरी विश्वविद्यालय के नक्शे-कदम पर तिब्बत में एक विराट बौद्ध महाविहार बनाया गया था, जो वहाँ आज भी मौजूद है। वह विहार इतना विशाल और भव्य है कि यह समझ कर सहसा रोमांच हो उठता है कि वैसा ही भव्य बौद्ध महाविहार बारहवीं सदी के आरंभिक काल तक आज के बिहारशरीफ में ही कहीं मौजूद था।

विक्रमशिला, नालंदा तथा ओदंतपुरी विश्वविद्यालय तत्कालीन जगत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक केंद्र थे जहाँ ज्ञान-विज्ञान की सारी शाखाओं की पढ़ाई होती थी। वर्तमान बिहार के नवनिर्माण काल के इस दौर में इन महान शैक्षणिक संस्थानों की समृद्ध स्मृतियाँ शिक्षा के क्षेत्र में विलक्षण कर गुजरने के लिये गझिन प्रेरणा देती हैं।

केसरिया बौद्ध स्तूप

-सुबोध कुमार नंदन

केसरिया स्तूप विश्व में आज तक उत्खनित स्तूपों में विशालतम बौद्ध स्तूप है। इस स्तूप की ऊँचाई आज भी भग्न अवस्था में अपनी वास्तविक ऊँचाई से काफी कम होने के बाद भी 104 फीट है, जो विश्व प्रसिद्ध बोरोबुदूर (इंडोनेशिया) स्तूप की तुलना में एक फीट अधिक है। यह स्तूप बिहार की राजधानी पटना से 100 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम, मुजफ्फरपुर से 70 किलोमीटर दक्षिण, वैशाली से 45 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम एवं जिला मुख्यालय मोतिहारी से 50 किलोमीटर दक्षिण है।

केसरिया के इस स्तूप के लिए खुदाई 3 मार्च 1998 ई० को आरंभ हुई थी और 2001 ई० में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अधीक्षण पुराविद् मोहम्मद के० के० ने इसको दुनिया के सबसे ऊँचा बौद्ध स्तूप होने की घोषणा की थी। अपने अध्ययन और सर्वेक्षण के आधार पर मोहम्मद के० के० ने जो नक्शा तैयार किया है उसके अनुसार स्तूप का मुख्य द्वार पूर्व और उत्तर दिशा में है। लेकिन तब तक द्वार प्रकाश में नहीं आयेगा जब तक स्तूप के चारों ओर खुदाई नहीं होगी। पुराविदों का मानना है कि स्तूप के नीचे खुदाई करायी जाये तो चौंकाने वाले साक्ष्य प्रकाश में आ सकते हैं। उल्लेखनीय है कि विश्वप्रसिद्ध सांची स्तूप की ऊँचाई मात्र 77 फीट 6 इंच है जो कि केसरिया की मूल ऊँचाई का लगभग आधा है। केसरिया और बोरेबुदूर दोनों ही स्तूप षडतल यानी छः तलों वाला है। बोरोबुदूर की चौड़ाई तथा केसरिया का व्यास दोनों ही समान माप के हैं। 6वीं शती के मध्य में चीनी यात्री फाहियान तथा ह्वेनसांग केसरिया आये थे और ह्वेनसांग ने अपने यात्रा वृतांत में लिखा है कि वैशाली से लगभग 55 किलोमीटर दूर उत्तर पश्चिम में एक बहुत समृद्ध और पुराना नगर था। भौगोलिक दृष्टि से इस स्तूप का स्थान वर्तमान केसरिया में आता है। यहाँ अति प्राचीन बौद्ध स्तूप का होना प्रमाणित भी हो गया है। साथ-ही-साथ यह भी प्रमाणित हो गया कि यह भगवान बुद्ध के प्रिय स्थल वैशाली से उनके जन्म-स्थान कपिलवस्तु जाने के मार्ग पर ही अवस्थित है। इस प्राचीन मार्ग पर छः अशोक स्तंभ तथा चार बौद्ध स्तूप केसरिया, लौरिया, नंदनगढ़ तथा जानकीगढ़ है। इस गढ़ की ऊँचाई के बारे में कहा जाता है कि इसके शीर्ष पर खड़ा होकर डेढ़ सौ किलोमीटर से भी ज्यादा दूर पाटलिपुत्र को देखा जा सकता था।

भगवान बुद्ध ने एक बार कहा था कि कभी मैंने यहाँ चक्रवर्ती राजा होकर जन्म लिया था। शायद इसलिए यहाँ तथागत की स्मृति को ताजा रखने के लिए एक वृहत स्तूप बनवाया गया था। छठीं सदी ई० में गुप्तकाल के दौरान इनके आकार एवं संरचनात्मक सौंदर्य की वृद्धि करके इनमें सैकड़ों बुद्ध-मूर्तियाँ भक्तों के दर्शनार्थ स्थापित की गयीं। यह निर्माण प्रविधि इतनी प्रभावशाली एवं चित्ताकर्षक सिद्ध हुई कि इससे प्रेरणा लेकर भूटान, तिब्बत एवं वर्मा में अनेकों स्तूपों का निर्माण किया गया। इसमें चोर्टेन कोरा (भूटान), श्वेसंडा पेगांडा (वर्मा), सेटोलिंग चोर्टेन (तिब्बत), मिंगलार्चेती, मिंगला जेदी एवं तिसररू स्तूप प्रमुख हैं। इस स्तूप को भगवान बुद्ध के जीवन के एक अन्य अध्याय से भी जोड़ा गया है। प्राचीन समय में केसरिया केसपुत नामक गणराज्य था। भगवान बुद्ध जब घर त्यागकर ज्ञान की खोज में शाक्य के लिए माल्य इत्यादि गणराज्यों को पारकर केसपुत गणराज्य केसरिया पहुँचे तो उन्हें वहाँ अलार कलाम नामक एक संन्यासी से भेंट हुई और स्तूप-स्थल पर ही भगवान बुद्ध ने अलार कलाम से सर्वप्रथम दीक्षा ली। अपने ज्ञान को और प्रकाशवान बनाने के उद्देश्य से केसपुत से दक्षिण में वैशाली होते हुए बोधगया पहुँचे, जहाँ उन्हें बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई।

इस स्तूप के संबंध में जनरल कनिंघम का कहना है कि केसरिया नामक स्तूप 200 ई० से 700 ई० के मध्य कभी बना होगा तथा यह स्तूप किसी अति प्राचीन स्तूप के ऊपर बनाया गया होगा। कनिंघम के (वर्ष 1861-62) रिपोर्ट से पता चलता है कि 1841 ई० में कर्नल मैंकजी ने स्तूप के पूर्वी किनारे तक एक गलियारा काटकर देखा था। इसके बाद ब्लॉक ने भी इस स्थल का भ्रमण किया था, परंतु कोई खास लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं है। बंगाल लिस्ट एवं कुरेशी लिस्ट में भी इस स्थान का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध पुराविद् कनिंघम के अनुसार इस बौद्ध स्तूप के निर्माण में लगभग पंद्रह करोड़ ईंटें लगी थीं। पूर्व भाग में अब तक के उत्खनन के बाद जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उससे प्रमाणित होता है कि यह स्तूप गोलाकार है जो प्रदक्षिणा पथ के साथ-साथ सीढ़ीनुमा चार सतहों वाला है। ईंटों से निर्मित सीढ़ी ऊपर की ओर क्रमशः कम होती गई है एवं कई सतहों वाली वृत्ताकार बनावट प्राप्त हुई है। प्रदक्षिणापथ के साथ छः सतह की बनावट है जो सभी ओर से पथ से घिरी हुई है। इसकी दीवारों में कहीं-कहीं ताखें मिलीं हैं। प्रत्येक वृत्ताकार सतह में कई सेल मिले हैं जिनमें भगवान बुद्ध की सुर्खी-चूने से बनी विशाल मूर्तियों ने पुराविदों को चौंका दिया है। मूर्तियों की बनावट से तत्कालीन कला की निपुणता का आभास होता है। ये मूर्तियाँ ध्यानस्थ तथा भूमि-स्पर्श मुद्रा में हैं। स्तूप में प्रयोग की गई ईंटें कई आकार की हैं। प्रारंभ में लगी ईंटें मौर्यकाल की हैं। इसके बाद शुंग तथा कुषाण काल की ईंटें लगी हैं। स्तूप में प्रयोग की गई घुमावदार एवं नक्काशीदार ईंटें गुप्तकाल की हैं। कुषाण काल के तत्कालीन राजाओं ने भी समय-समय पर स्तूप की मरम्मत की और अपने राज्य चिह्न औंधा कमल और व्याघ्रमुखी ईंटों से उसे अलंकृत किया। गुप्तकाल में उसे सँवारा गया। उत्खनन से अब तक मौर्यकाल, शुंग, कुषाण तथा गुप्तकाल की वास्तुकला के नमूने मिले हैं और इन पर पाँचवीं शताब्दी की सारनाथ शैली का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भूमि-स्पर्श मुद्रा वाली बुद्ध मूर्ति पर सारनाथ शैली के अलावा गांधार शैली का भी प्रभाव है।

केसरिया का स्तूप राजा बेन के नाम से भी जुड़ा है। यह किला राजा बेन का गढ़ के नाम से भी जाना जाता है। वर्तमान में स्थानीय लोग इस स्तूप को देउरा कहते हैं। देवरा (देव+अरा) यानी देउ यानी देवता बुद्ध, अरा यानी ठहरना। इस प्रकार देवरा का शाब्दिक अर्थ भगवान बुद्ध का ठहराव-स्थल है। पद्मपुराण के अनुसार राजा बेन बौद्ध थे। कनिंघम ने स्थानीय मान्यता के आधार पर लिखा है कि राजा बेन ने अपनी उदारता के कारण चक्रवर्ती के रूप में ख्याति अर्जित की थी। वह किसी प्रकार का कर नहीं लेता था। कर वसूलने की घोषणा करने के बाद राजा बेन को इस नीति का दुष्परिणाम भुगतना पड़ा। उसकी दैविक शक्तियाँ अचानक लुप्त हो गयीं एवं उसकी पत्नी स्नान करते हुए डूबकर मर गयी। इस घटना के कारण राजा बेन बहुत ही हताश हुआ। इसके बाद राजा ने पंडितों से सलाह के बाद देउरा या स्तूप का निर्माण कराया। दूसरी ओर इस ऐतिहासिक पुरातात्विक महत्त्व के स्थान की चर्चा श्रीमद्‌भागवत पुराण के अध्याय 8, 11, 14, 18 और 34 में की गई है। इन अध्यायों में केसरिया के नजदीक के इसी देउरा स्थान से महात्मा ध्रुव के पुत्र अंग, अंगराज के पुत्र राजा बेन, उनके पुत्र पृथ्यु और इसी वंश के राजा बलि के गहरे संबंध को दर्शाये गये हैं। इस स्थान को उनकी राजधानी भी बताया गया है। इस खुदाई में महापारी निब्बान सूत सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिला है। इस निब्बान सूत में केसरिया को भोगनगर कहा गया है। बौद्ध स्तूप के ठीक पूर्व लगभग सौ मीटर की दूरी पर एक बहुत बड़ा तालाब है। बताया जाता है कि इस तालाब का क्षेत्रफल काफी बड़ा था, मगर आज भी यह तालाब लगभग चार एकड़ में फैला हुआ है। इस तालाब को यहाँ सदियों से सूर्यमुखी तालाब के नाम से जाना जाता है। यहाँ के लोगों का मानना है कि यह तालाब राजमहल के अंदर का तालाब है और इसमें राजा-रानी स्नान करते थे। इस टील्हे से लगभग चार किलोमीटर उत्तर-पूर्व की दिशा में एक और टील्हा

है जहाँ रानी (पद्मावती) का महल था, जिसे आज रनिवास का भग्नावशेष कहा जाता है। लोग गढ़ यानी स्तूप के स्थान पर पहले किसी राजा का राजमहल होना मानते हैं। पुराविदों का कहना है कि रनिवास का टील्हा भी किसी बौद्ध मठ का भग्नावशेष है। इस बात की पुष्टि 1862 ई० में हुए उत्खनन से प्राप्त भगवान बुद्ध की प्रतिमा करती है। परंतु, इसके बाद उत्खनन-कार्य बंद हो जाने के कारण रनिवास उसी तरह ऊँची मिट्टी के ढेर के रूप में हमारे सामने मौजूद है। स्तूप के आधार तल के बिलकुल समीप एक देवी का स्थान है जिसे लोग राजदेवी के नाम से जानते हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यहाँ मिल रहे ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ पर किसी नगर का अवशेष दबा है।

यह स्तूप उस स्थान का द्योतक है जहाँ भगवान बुद्ध ने अपने गृह-त्याग के बाद ज्ञान-प्राप्ति के क्रम में अपना पड़ाव डाला था। भविष्यद्रष्टा बुद्ध ने वैशाली के चापाल चैत्य एवं कूटागारशाला में अपने महापरिनिर्वाण की पूर्व घोषणा कर दी थी। महापरिनिर्वाण-प्राप्ति के क्रम में उन्होंने यहाँ रात्रि विश्राम किया था तथा अपना अंतिम उपदेश केसरियावासियों तथा वैशाली से आये लिच्छिवियों को देकर जीवन के मूल्यों एवं सिद्धांतों का विवेचन कर 'आप्पो दीपो भव' यानी 'अब अपने रास्ते का दीपक स्वयं बनो' ऐसा अमृत वचन कहकर एवं भिक्षा पात्र स्मृति-चिह्न के रूप में भेंटकर स्वयं कुशीनगर की ओर चल दिये थे जहाँ उन्हें महापरिनिर्वाण की प्राप्ति हुई। इसी घटना की याद में सम्राट अशोक ने इस स्थान पर वृहत स्तूप का निर्माण कराया था।

पतांजलि

–डॉ० ठाकुर हरेन्द्र दयाल

पतांजलि से तत्कालीन भारतीय संस्कृति तथा राजनैतिक धारणाओं के विषय में जानकारी मिलती है। वह शुंग राजा पुष्पमित्र का राजपुरोहित था। उसी राजा के समय में उसने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना की। छठी शताब्दी ई० पू० में महावीर जैन तथा गौतम बुद्ध ने संस्कृत को अस्वीकार कर जनभाषा प्राकृत को प्रोत्साहित किया। जनता संस्कृत में रचित वेदों तथा वैदिक साहित्य को विस्मृत कर चुकी थी। अपने प्राचीन रूपों, प्रयोगों और अर्थों के कारण संस्कृत वाङ्मय जनता को दुर्बोध हो रहा था। इस दुर्बोधता ने साहित्य, धर्म तथा संस्कृति की प्रगति में अवरोध उपस्थित कर दिया था। सूत्रों को समझाते हुए पतांजलि ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उससे उनकी ब्राह्मण और ब्राह्मण संस्कृति के प्रति सजगता दिखाई देती है। महाभाष्य से भारत के तत्कालीन संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है।

पतांजलि ने विदेशी जातियों का उल्लेख किया है। उसने महाभाष्य में यवनों के साथ शकों का उल्लेख किया है। लगता है कि ये जातियाँ आर्यावर्त के बाहर निवास करती थी। महाभाष्य में शकों तथा यवनों के राजाओं का उल्लेख नहीं किया है।

पतांजलि में तत्कालीन गणराज्यों का उल्लेख नहीं किया है जबकि विभिन्न साधनों से ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ई०पू० में भारत में अनेक गणराज्य का अस्तित्व था।

पतांजलि को भारत के भूगोल का ज्ञान था। आर्यावर्त को शिष्ट की भूमि कह कर सम्बोधित किया गया है। उसने आर्यावर्त की सीमाओं के विषय में लिखा है कि इसके उत्तर में हिमालय, पूर्व आदर्श, पश्चिम में कालक तथा तथ्य दक्षिण में परिणाम है। पतांजलि ने महाभाष्य में आर्यावर्त के बाहर के प्रदेशों जैसे वल्ख, कम्बोज, कश्मीर, गन्धार, पाण्डण, चोड, केपर, केरल का उल्लेख किया है। प्राच्यदेश में भीम, जम, कलिंग पश्चिमी देशों में सिन्ध सौवीर का उल्लेख है।

पतांजलि नगरों तथा ग्रामों से अपना परिचय व्यक्त किया है। प्रमुख नगरों में तक्षशिला, मथुरा, पाटलिपुत्र सेकिरनो, साकेत, वाराणसी, कोसाम्बी, हस्तिनापुर, गोवन्दपुर, कान्यकुब्ज, उज्जयिनी, नासीका, सहित्यमती, कोचीपुर, अलम्बुर, सौर्य आदि तथा ग्रामों में प्राताप्रस्थ नान्दिपुर, दाससुप्य, मणिसरल, औम्बिक, कंटवत का उल्लेख मिलता है। पतांजलि द्वारा उल्लिखित ग्रामों की पहचान करना कठिन है। महाभाष्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पतांजलि आर्यावर्त के भूगोल से काफी परिचित था। उसे दक्षिण भारत की भी जानकारी थी।

महाभाष्य से सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। उसे सामाजिक संरचना, चार वर्णों तथा उपजातियों का ज्ञान उसे। उसने तत्कालीन भारत के भोजन गृह की सामग्रियों, वस्त्रों, आभूषणों, विवाह पद्धति, नदियों की दशा, आमोद प्रमोद, सामाजिक उत्सवों का उल्लेख किया है। उस समय परिवार का नामकरण आचार्यों के नामों पर होता था। उस समय सम्मिलित परिवार था। पिता, माता तथा अनेक सम्बन्धी एक साथ निवास करते थे। भार्या, दौहित्र, पौत्र, सास, पितामह, चाचा, चाची, भतीजा आदि परिवार के सदस्य थे।

उस समय शाकाहारी तथा मांसाहारी भोजन से सम्बन्धित अनेक प्रकार की खास सामग्रियाँ थी। कुछ लोग तरल तथा ठोस सामग्रियों को भोजन में व्यवहार करते थे। दूध से कई प्रकार की वस्तुएँ तैयार

की जाती थी। लोग मिठाई, विभिन्न प्रकार की मदिराओं तथा फलों का व्यवहार करते थे।

उबला चावल को ओदन, मता कहा जाता था। पतांजलि ने चावल के व्यवहार का उल्लेख किया है। पापड़, दही, मिष्टान्न में शरकुली, पूप, अपूप, मधु, गुड़ आदि का व्यवहार किया जाता था।

उस समय मांसाहार का भी प्रचलन था। बत्तख का मांस भी व्यवहार में लाया जाता है। पतांजलि ने मांस के साथ चावल तथा कच्चा मांस का उल्लेख किया है। प्याज तथा लहसुन को भोजन में व्यवहार किया जाता था।

विभिन्न प्रकार के बर्तनों जैसे कुम्भ, कुण्ड, काट, स्वालि उखा से परिचित थे। घी रखने के लिए घृतघट तेल के लिए तैलघट, शराब (छोटी तश्तरी) मण्चिक (कुर्की) प्रदीप को भी व्यवहार में लाया जाता था।

पतांजलि गृह निर्माण कला से भी परिचित थे। इनके ग्रन्थ महाभाष्य में गवाक्ष (खिड़की) अटालिका (अच्छे भवन) प्रसाद का उल्लेख है। लोग घरों में ब्लास्टर भी लगवाते थे।

पतांजलि से ज्ञात होता है कि उस समय उत्तरीय तथा अधोवस्त्र का व्यवहार किया जाता था। कपास, ऊन के वस्त्र होते थे। उस समय वस्त्रों की सिलाई हाथ द्वारा सूइयों से की जाती थी। उस समय चमड़े के जूते तथा काठ के जूते व्यवहार में लाये जाते थे। स्त्रियां साड़ी चादर का इस्तेमाल करती थी। पतांजलि से ज्ञात होता है कि वस्त्रों को नीले, पीले, हरे रंगों में रंगा जाता था। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि लोग स्वर्ण तथा चांदी के आभूषणों का व्यवहार करते थे। उस समय के प्रमुख आभूषण थे समक, करक, स्वास्तिक, कुण्डल, आदि। लोग विभिन्न प्रकार से अपने केशों को संवार कर रखते थे। कुछ लोग अपने केशों को मस्तक पर जटा के समान लपेट कर रखाते थे। कुछ घुंघराले केश तथा कुछ जटा रखते थे। लेकिन कुछ मुंछ रखाते थे। स्त्रियों के केश बड़े मुलायम होते थे।

केश संवारने के लिए तेलों, कंघों, अंजन, चन्दन, गन्ध आदि का इस्तेमाल किया जाता था। लोग अपने चेहरों को सजाने के लिए विभिन्न पदार्थों को व्यवहार में लाते थे। पतांजलि तत्कालीन विभिन्न प्रकार के मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद से परिचित थे। समाज में उत्सव का आयोजन किया जाता था। नृत्य से भी लोगों का मनोरंजन होता था। नर्तक विभिन्न प्रकार के वेष भूषा धारण कर नृत्य करते थे। स्त्रियां भी नृत्य करती थी। लोग उस समय के विभिन्न वाद्ययंत्र थे ढोलक, शेख, वीणा आदि। कुश्ती से भी लोगों का मनोरंजन होता था। महाभाष्य में जुआड़ी तथा जुओं के खेल का उल्लेख मिलता है। पतांजलि से ज्ञात होता है कि उस समय कई लोग भिक्षा मांग कर अपनी जीविका चलाते थे। स्त्रियों के लिए लालसा, चोरी, धोखाधड़ी, आदि अनेक सामाजिक बुराइयाँ भी मौजूद थी।

पतंजलि ने अनेक प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख किया है। महाभाष्य में कुम्हार, सेवक, वर्धकिन (नाई), रजक (धोबी), आयताकार, लोहार का उल्लेख है। कुछ लोग धातुकर्म कर अपनी जीविका चलाते थे। महाभाष्य में स्वर्णकार, लोहकार, आयतकार का उल्लेख है। नगर निर्माण में नगरकार लगे हुए थे। कूपखनक कुआँ खोदने का काम करते थें।

पतांजलि विभिन्न प्रकार के घरेलू नौकरों जैसे दास, कर्मकार, किंकर (दासी) द्वारपाल, क्षत्रधर, मारवाह, घाटग्रह आदि का उल्लेख करते हैं।

कुछ लोग विभिन्न प्रकार का भोजन पका कर उसका विक्रय भी करते थे। चावल तथा जौ की विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ बनाई जाती थी। माढ़ा बेचने वाले, मौदाकिक (लट बेचने वाले) मिष्टान्न बेचने वाले तथा मांस के विक्रेता भी

थे। अनाजों को पीसने वाले भूसे से अनाज अलग करने वाले आदि का भी उल्लेख मिलता है। कुछ लोग मछली पकड़ने, पशुओं को पालने का कार्य करते थे। उस समय चटाई बुननेवालों, जुलाहों, चर्मकारो को निम्नकोटि में रखा गया था।

पतांजलि से तत्कालीन कृषि कर्म के विषय में पता चलता है। उस समय खेतों के छोटे-छोटे टुकडे हुआ करते थे। उस समय विभिन्न प्रकार की फसलों का उत्पादन होता था।

पतांजलि तत्कालीन पशुपालन व्यवसाय से काफी परिचित थे। पशुओं को चराने के लिए गोप या गोपाल थे। उस समय विभिन्न प्रकार के गायें होती थी। गोपालक गायों पर अपना नियंत्रण रखता था और चराने के लिए चारागाह में ले जाता था। गायें को रखने के लिए गोशाला की व्यवस्था थी। भेड़ों को रखने के लिए अलग स्थान था।

समय तथा स्थान के माप करने की भी व्यवस्था थी। समाज में विभिन्न प्रकार के श्रमिक विद्यमान थे। श्रमिकों को मेहनताना देकर कार्य कराया जाता था। नौकर भी अपनी मजदूरी पाकर कार्य सम्पन्न करता था। पतांजलि ने चतुर श्रमिकों का उल्लेख किया है।

पतांजलि उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उन्होंने अपने महाभाष्य में वैदिक ग्रन्थों का उल्लेख किया। उसे पुराणों तथा महाकाव्यों का भी ज्ञान था। पतांजलि को लोक साहित्य का भी ज्ञान था। उसने अपने ग्रन्थ में कतिपय प्रचलित कथाओं, दन्त कथाओं का संकेत दिया है। उसे नृत्य शास्त्र का भी ज्ञान था। इस ग्रन्थ में नटों तथा उनके द्वारा कथानक के कहने का उल्लेख हैं पतांजलि को दर्शन का भी ज्ञान था। उसने महाभाष्य में दार्शनिकगढ़ों, प्रदूषण, आत्मा, प्रत्यक्ष, दुख, आदि का उल्लेख है।

महाभाष्य में औषधि के कतिपय लक्षणों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में शरीर के विभिन्न अंगों के नाम, रोगों के नाम तथा कुछ औषधियों का उल्लेख है। पतांजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर एक वृहद महाभाष्य लिखा और इस प्रकार संस्कृत भाषा के नियमों को पुनः प्रतिपादित किया। इस प्रकार पतांजलि व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत साहित्य का प्रकाण्ड विद्वान था। उसने संस्कृत के विकास तथा प्रसार के लिए अपना योगदान दिया। पाणिनि के सूत्रों के विस्मृत हो जाने के कारण उनकी व्याख्या करना कठिन था। पतांजलि ने महाभाष्य लिखकर पाणिनि के सूत्रें को समझने में सरल कर दिया।

आर्यभट

–हेमंत

उस दिन **पाटलिपुत्र** में हंगामा मच गया। आम और खास दोनों वर्गों में। आर्यभट विरोधी वे तमाम विद्वान राजमहल में जमा होने लगे, जो पिछले एक साल में कई बार दरबार में आये थे, लेकिन निराश लौटे थे।

आम जन में से भी कई लोग राजमहल की दर्शक-दीर्घा में जगह पाने के लिए दौड़ पड़े थे। लेकिन आम जनों में से अधिसंख्य गंगा-गंडक के तट की ओर दौड़ लगा रहे थे। वहां मंत्र-जाप करते ब्राह्मण-पुरोहितों में आम जनों को अपनी ओर आकर्षित करने की होड़ मची हुई थी।

वैसे, कुछ आम लोग नगर से थोड़ी दूर स्थित आश्रम में भी जमा होने लगे थे। आश्रम में अलग ही माहौल था। आश्रम से सटे टीले पर वेधशाला थी। वहाँ खूब चहल-पहल थी। वहाँ भी तीखी बहस चल रही थी। लेकिन वैसा शोर और होड़ का माहौल नहीं था, जैसा कि राजमहल से लेकर नदी-तट तक फैले नगर के घर-घर में था। वहाँ भी उत्तेजना छाई हुई थी। लेकिन वह कुछ अलग तरह की थी। राजमहल से लेकर नगर के घर-घर में व्याप्त उत्तेजना के माहौल में डर और चिंता छलकती दिख रही थी। जबकि वेधशाला में आकाश के ग्रहों और तारों की स्थितियों और गतियों को जानने के लिए लगे यंत्रों को घेरे बैठे लोगों में निडर चिंतन चल रहा था।

कुल मिलाकर उस दिन पाटलिपुत्र में हर जगह व्याप्त उत्तेजना और जिज्ञासा, चिंता और चिंतन के केंद्र में एक ही विषय था- सूर्यग्रहण!

वह गुप्तवंश के शासन का अंतिम दौर था। सम्राट बुधगुप्त अपने पूर्वजों की परंपरा के अनुरूप ही अपने राजपाट को संभालने में हरचंद कोशिश में लगे थे। श्वेत-हूणों के हमले तेज हो रहे थे। पूरे देश के राजनीतिक आकाश में गुप्त साम्राज्य के विघटन की आशंकाओं के बादल मंडरा रहे थे। इसलिए राजधानी पाटलिपुत्र में जहाँ एक तरफ फौजी तैयारियाँ चल रहीं थीं, वहीं दूसरी तरफ धर्म एवं धार्मिक कर्मकांडों का बोलबाला बढ़ रहा था।

पाटलिपुत्र माने आज का पटना शहर। गंगा, सोन और गंडक नदियों के संगम पर बसा यह नगर बहुत बड़ा था! उस समय देश का सबसे बड़ा नगर। सीधी और चौड़ी सड़कें। कई मंजिली इमारतों की कतारें। हरे-भरे बाग-बगीचे। इन बगीचों में बड़ी तादाद में खिलनेवाले फूलों के कारण इस नगर को कुछ लोग **कुसुमपुर** अथवा **पुष्पपुर** भी कहते थे। यह नंद राजाओं और चंद्रगुप्त तथा अशोक-जैसे प्रसिद्ध मौर्य सम्राटों की राजधानी था। इस नगर की कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। देश के ही नहीं, विदेशों के यात्री भी इस नगर के दर्शन के लिए पहुँचते थे। दर्शन से ज्यादा विद्या हासिल करने के लिए। विद्या हासिल करने के लिए देश के कोने-कोने के विद्यार्थी भी यहाँ पहुँचते थे। राजधानी होने से यहाँ देशभर के नामी पंडित एकत्र होते थे। ज्योतिष के अध्ययन के लिए तो पाटलिपुत्र सबसे ज्यादा मशहूर था। यहाँ गणित के पठन-पाठन और ग्रह-नक्षत्रों के प्रायोगिक अध्ययन के लिए आश्रम थे और वेधशाला भी थी।

यूँ उस दिन पूरे देश में 'सूर्यग्रहण' को लेकर गहमागहमी थी। लेकिन हंगामे का वैसा दृश्य और कहीं नहीं था, जैसा कि पाटलिपुत्र के राजमहल में। इसका कारण था एक व्यक्ति- आर्यभट! वह

सूर्यग्रहण से संबंधित तमाम पुरानी अवधारणाओं को चुनौती दे रहा था।

पाटलिपुत्र में आर्यभट के नाम की चर्चा डेढ़-दो साल पहले से हो रही थी। राजमहल से लेकर पढ़ने-लिखने वाली जमातों तक में यह सूचना फैली हुई थी कि वह ज्योतिष और गणित का अध्ययन करने के लिए पाटलिपुत्र आया है। वह दिन-रात आश्रम में अध्ययन में लीन रहता है और वेधशाला के यंत्रों से न जाने आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की गति-दिशा गणना और गणित-ज्ञान के बीच कौन-कौन से जोड़ बिठाता रहता है। आम लोगों में यह जानने की जिज्ञासा थी कि उसका जन्म कहाँ हुआ, उसके माता-पिता कौन हैं, वह कब से पाटलिपुत्र में है? लेकिन लोग कुछ जान नहीं पाये। इस बाबत आर्यभट मुंह खोलता ही नहीं! वह दिन-रात अध्ययन करता और कुछ न कुछ लिखता। भोजपत्रों और ताड़पत्रों पर उसके लिखे साहित्य में बहुत सी जानकारियाँ होतीं- संस्कृत के श्लोक और गणित के सूत्र लेकिन उनको देखने-पढ़ने वालों को यह मालूम नहीं हो पाता कि उसकी जाति क्या है। लोग उसके नाम से जुड़े 'भट' शब्द को 'भट्ट' (ब्राह्मण) मान बैठे थे, लेकिन सुना गया कि वह गणित का कोई ग्रंथ रच रहा है और उसका नाम रखा है- आर्यभटीय! तब तो वह भट ही है, भट्ट नहीं। भट का माने होता है योद्धा! तब उसकी सही जाति क्या है? - इस बारे में लोग तब तक नहीं जान सकते, जब तक खुद आर्यभट खुलासा न करे। लेकिन आर्यभट कुछ कहता ही नहीं! पूछने पर कहता है - वह वैज्ञानिक बनना चाहता है, सिर्फ वैज्ञानिक रहना चाहता है। उसके गणित-ज्ञान और विद्वता की बातें आश्रम से बाहर आने लगीं, तब मालूम हुआ कि वह दक्षिण भारत के गोदावरी नदी तट के अश्मक जनपद (आज का विदर्भ, महाराष्ट्र) से आया है। लोगों ने सुन रखा था कि वैदिक धर्म-प्रचारकों के लिए अश्मक जनपद दक्षिण में पहला उपनिवेश जैसा था। तो हो सकता है कि वह वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए गणित और ज्योतिष का अध्ययन करने पाटलिपुत्र आया हो!

जो हो, लोग उसे अश्मकाचार्य नाम से भी पुकारने लगे थे। 23 साल की उम्र में वह गणितशास्त्र के पंडित के रूप में चर्चित होने लगा था। बड़े-बड़े आचार्य उसकी बुद्धि का लोहा मानते। कुछ ही दिनों में आश्रम के सहपाठी आर्यभट से होनेवाली बातचीत के आधार पर जहाँ-तहाँ यह कहने लगे थे कि आर्यभट अब पूरा जीवन पाटलिपुत्र में गुजारेगा, यहीं बसेगा और अध्ययन-अध्यापन करेगा। मगर यह सूचना आम लोगों के बीच फैलने के पूर्व ही खास लोगों में एक खबर आग की तरह फैल गयी कि उसके विचार क्रांतिकारी हैं। वह धार्मिक विचारों की परवाह नहीं करता। अपने गणितीय सूत्रों के आधार पर वह कुछ ऐसी बातें कहने लगा है, जिनसे धर्मशास्त्रों में बँधे विद्वान बेचैन हो उठे हैं। उन्हें लगने लगा है कि आर्यभट का गणित ज्ञान उनके ज्योतिष विद्या के वर्चस्व को ध्वस्त करने की तैयारी कर रहा है। इसलिए, वे राज्यसत्ता के जरिये आर्यभट का मुँह बंद करवाने के प्रयासों को हवा देने में लगे हैं।

++++++

हमारा और तुम्हारा ईश्वर कल्पनाजनित है

दो-तीन महीने पूर्व की ही तो बात है। उस दिन पुराणपंथियों का एक गुट सम्राट से कह आया था कि आर्यभट अपने ज्ञान से सामाजिक और धार्मिक परंपराओं को चुनौती दे रहा है। अगर इसके मुँह को बंद नहीं किया गया तो एक दिन यह तमाम धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकांडों के खिलाफ जनता को उकसा देगा। अगर जनता धर्म और धार्मिक कर्मकांड पर सवालिया निशान लगाने लगेगी, तो सोचिये क्या होगा। राजशाही की जमीन हिलेगी और राज-सिंहासन डोलेगा!

लेकिन सम्राट बुधगुप्त ने उस दिन अपने पुरखे पूर्ववर्ती मौर्यवंशीय सम्राटों के समय के विमर्श से

जुड़ी घटनाएँ सुनाकर सबका मुंह बंद कर दिया था। उन्होंने सम्राट चंदगुप्त मौर्य के समय चाणक्य और धर्मशास्त्र के आचार्यों के बीच हुई बहस की याद दिलायी। और पूछा था - धर्म को किसने जन्म दिया?

सम्राट के सामने नतमस्तक पुराणपंथी विद्वान पहले तो चुप रहे। तब बुधगुप्त ने बताया कि चाणक्य ने चुनौती के स्वर में कहा था कि धर्म समाज द्वारा निर्मित है - 'चाणक्य ने कहा कि धर्म ने नीतिशास्त्र को जन्म नहीं दिया है। समाज को जीवित और गतिशील रखने के लिए समाज द्वारा निर्धारित नियमों को ही नीतिशास्त्र कहते हैं और इस नीतिशास्त्र का आधार तर्क है। धर्म का आधार विश्वास है और विश्वास के बंधन से बाँधकर उससे अपने नियमों का पालन कराना ही समाज के लिए हितकर है...।'

इतना सुनने के बाद पुराणपंथी विद्वानों को कुछ साहस हुआ था और उन्हों बुधगुप्त को टोका- ''महाराज, हम भी तो यही कह रहे हैं। पाटलिपुत्र में ज्ञानार्जन के लिए अश्मक प्रदेश से आया आर्यभट समाज के विश्वास पर चोट कर रहा है.........।''

लेकिन बुधगुप्त हँस पड़े थे- ''लेकिन चाणक्य ने केवल इतना ही नहीं कहा। उन्होंने तो कहा कि ऐसी भी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब धर्म के विरुद्ध चलना समाज के लिए कल्याणकारक हो जाता है और धीरे-धीरे धर्म का रूप बदल जाता है। आप जिस आर्यभट का विरोध कर रहे हैं, कहीं वह ऐसा कुछ कर रहा है, तो राज्यसत्ता उसका मुँह कैसे बंद कर सकती है?''

उस क्षण दरबार में उपस्थित विद्वत्मंडली में ऐसी निस्तब्धता छा गयी थी कि आर्यभट विरोधी गुट निराश हो चुका था। लेकिन एक साधु वेषधारी वृद्ध ने ऐसी बात उठा दी कि वह गुट आशा बाँधे बैठा रहा था। उस वृद्ध ने कहा- ''महाराज, लेकिन चाणक्य के तर्क को एक युवक योगी ने चुनौती दी थी। यह आपको मालूम होगा ही। उस युवक योगी ने कहा था कि ईश्वर मनुष्य का जन्मदाता है। मनुष्य समाज का जन्मदाता है। धर्म ईश्वर का सांसारिक रूप है, वह मनुष्य को ईश्वर से मिलाने का साधन है। धर्म की अवहेलना, ईश्वर की अवहेलना है, सत्य से दूर हटना है। सत्य एक है, धर्म उसी सत्य का दूसरा नाम है। यदि नीतिशास्त्र धर्म के सिद्धांतों के प्रतिकूल है तो वह नीतिशास्त्र नहीं, वरन् अनीतिशास्त्र है। उचित और अनुचित- न्याय और अन्याय- इन सबकी कसौटी धर्म है, धर्म के अंतर्गत सारा विश्वास है।''

'हाँ, हाँ, मैंने सुना है कि चाणक्य ने तब उस युवक से सीधा सवाल किया था- जानते हो धर्म को किसने जन्म दिया? युवक योगी ने कहा- ईश्वर ने। तब चाणक्य ने पूछा- ''ईश्वर को किसने जन्म दिया? तब दरबार में उपस्थित विद्वान चकित रह गये थे और जनसमुदाय में कोलाहल मच गया था कि चाणक्य ने कितना भयानक प्रश्न रख दिया! तब भी युवक योगी ने शांत भाव से उत्तर दिया- ईश्वर अनादि है।''

इतना कहकर सम्राट बुधगुप्त कुछ पल के लिए रुक गये। तब पुराणपंथियों के उस विद्यार्थी गुट में फुसफसाहट शुरू हुई, जो पहली बार राजदरबार में आया था। वह गुट धर्म पर अडिग आस्था के बावजूद आर्यभट की विद्वता से चमत्कृत था। इसलिए वह समर्थन या विरोध के मामले में असमंजस में था। वह राज्यसत्ता के रुख पर अपनी दिशा तय करना चाहता था। उस गुट के एक विद्यार्थी ने उठकर बुधगुप्त को नमस्कार किया- ''महाराज, आप हमें पूरी बात बतायें। युवक योगी ने कहा कि ईश्वर अनादि है। यह हम भी मानते हैं। हमें जिस धर्म का ज्ञान दिया जा रहा है, उसमें भी यही कहा गया है। सिर्फ पाटलिपुत्र नहीं, बल्कि आपके शासनाधीन पूरे देश और समाज में प्रत्येक मनुष्य यह मानता है। यहाँ तक कि स्वयं आर्यभट भी यह मानते हैं। लेकिन हम जानना चाहते हैं कि सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की

उपस्थिति में चाणक्यजी ने क्या कहा? क्या उन्होंने युवक योगी की बात का खंडन किया?''

बुधगुप्त ने कहा- ''नहीं, चाणक्य ने खंडन नहीं किया, लेकिन उन्होंने पूरे विमर्श को खंडन-मंडन की सीमाओं के पार ले जाते हुए कहा कि ईश्वर अनादि है, पर उस ईश्वर को, मैं दावे के साथ कहता हूँ, कोई नहीं जानता- वह कल्पना से परे है। वह सत्य है, पर इतना प्रकाशवान कि मनुष्य के नेत्र उसके आगे खुले नहीं रह सकते। आप भी यही मानते-जानते होंगे। लेकिन मैं इस मान्यता को तर्क की इस कसौटी पर कसना चाहता हूँ। वह यह कि यदि हममें से कोई यह कहे कि वह ईश्वर को जानता है, या यह कहता है कि अखंड और नि:सीम अनंत के रचयिता यानी ईश्वर की कल्पना कर सकता है, तो फिर वह ईश्वर कैसा? जो अनंत है, उसकी आदि-अंत की सीमा में बंधी छवि की कल्पना आप कर सकते हैं, कर लें लेकिन उसे तब ईश्वर कैसे माना जा सकता है? इसलिए मैं कहता हूँ कि हमारा और तुम्हारा ईश्वर, जिसकी हम पूजा करते हैं, उस ईश्वर से भिन्न है। हमारा और तुम्हारा ईश्वर कल्पनाजनित ईश्वर है। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही समाज ने उस ईश्वर को जन्म दिया है।''

उस दिन इतना कहते हुए बुधगुप्त उठ गये थे। उन्होंने उठते-उठते यह प्रश्न रखा था - ''आर्यभट अगर सृष्टि के रहस्य या अज्ञात तत्वों को ज्ञात के दायरे में लाने का प्रयास कर रहा है तो उसे अनादि ईश्वर की अवधारणा पर टिके हमारे धर्म का विरोध कहकर हम उसका मुँह कैसे बंद कर दें?''

+++++++

दे दान तो छूटे गिरान!

बहरहाल, उस दिन नदी किनारे ब्राह्मण-पुरोहित लोग-बाग को समझाने में आकाश-पाताल एक कर रहे थे कि राहु पुन: सूर्य को निगलने जा रहा है। यह तो हमारे धर्म-ग्रंथों में साफ लिखा है कि उसने समुद्र-मंथन से निकले अमृत को चोरी से चख लिया था। राहु राक्षस था लेकिन अमृत ग्रहण करने के लिए चुपके से देवताओं के पंगत में बैठ गया था। उसने जैसे ही अमृत के प्याले को मुँह से लगाया, वैसे ही सूर्य और चंद्र ने उसे पहचान लिया। उन्होंने तुरंत विष्णु को बताया। विष्णु ने तत्काल अपने चक्र से राहु का सिर काट दिया, लेकिन उसने थोड़ा-सा अमृत चख लिया था, इसलिए उसका सिर अमर हो गया। उसे सूर्य और चंद्रमा पर बड़ा क्रोध आया। तब से वह जब मौका मिलता है चंद्र और सूरज को निगलता रहता है। सो आज भी ऐसा ही होनेवाला है!

उनकी बातों से तट पर उपस्थित जन समुदाय में डर की लहर दौड़ने लगी। पंडे-पुरोहित डर की लहरों पर सवार होकर खुद को रक्षक के रूप में पेश करने लगे- 'हाँ, हमारे धर्मशास्त्रों के अनुसार भरी दोपहरी में धरती पर अंधेरा छा जायेगा। ऐसा अवश्य होगा क्योंकि हमारे धर्मग्रंथों में यह लिखा हुआ है। हमारे पुरखों ने इसका अनुभव किया है कि हमारे धर्म-ग्रंथों में जो लिखा गया, वह अक्षरश: घटित हुआ है!'

बेचारी जनता के बीच से आवाज उठी- ''महाराज, आपलोग तो त्रिकालदर्शी हैं, धर्म और धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं। आप ही बतायें, इस अनिष्ट से बचने का और क्या उपाय है। आप लोगों के कहे अनुसार तो हम यहां आये हैं। हमने उपवास रखा है। अपनी शक्ति भर दान-पुन्न कर रहे हैं। और क्या करें?''

ब्राह्मण-पुरोहित चिल्लाने लगे- ''दान-पुन्न में कोई कंजूसी न करें। ब्राह्मणों को दिल खोलकर दान-दक्षिणा दो। खूब दान-पुन्न कर दिखा दो कि अपने धर्मग्रंथों और शास्त्रों पर तुम्हारा विश्वास

कितना अडिग है। तभी राहु के चंगुल से सूर्य देवता को जल्द-से-जल्द मुक्ति मिलेगी। तभी मानव समाज पर छाया अनिष्ट कटेगा।''

फिर क्या था! नदी के किनारे नारा गूंज उठा- ''दे दान तो छूटे गिरान!''

सृष्टि के रहस्य को समझने के सुअवसर

दूसरी ओर आश्रम की वेधशाला में हंगामा मचा हुआ था आर्यभट के नये वक्तव्य पर। वह तो कई दिनों से यह खुलेआम कहता आ रहा था कि वह यह मानने के लिए तैयार नहीं कि किसी राहु के कारण ग्रहण लगता है। और आज! आज वह अपने गणित-ज्ञान के बल पर यह बता रहा है कि ग्रहण क्यों और कैसे लगता है। ऊपर से वह यह दावा कर रहा है कि उसका गणित-ज्ञान जो कुछ कह रहा है, उसे आज आकाश में घटित रूप में देखा जा सकता है! इसमें कुछ भी डरने जैसी बात नहीं है। पूरी घटना को वेधशाला में मौजूद यंत्र से देखा जा सकता है। अनिष्ट की आशंका से ग्रस्त होकर मंत्र-जाप करने की बजाय आज की घटना को सृष्टि के रहस्य को समझने के सुअवसर के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह अवसर है ग्रहों और तारों के बारे में सही-सही जानकारी हासिल कर आकाश में निरंतर हो रही घटनाओं को समझने का और परंपरागत ज्ञान को प्रयोगों के माध्यम से नया विस्तार देने का। जनकल्याण के लिए यह जरूरी है!

लेकिन आर्यभट के सहपाठी और गुरु कई गुटों में बँट गये थे। उनमें से वह गुट आज वेधशाला की बजाय राजदरबार में था, जो आर्यभट को 'धर्मविरोधी' साबित करने के लिए कमर कसे हुए था। हालांकि वह गुट इतना अवश्य समझ रहा था कि धर्मशास्त्रों में जिस राहु की चर्चा की गयी है, उसका आज के सूर्य-ग्रहण से कोई लेना-देना नहीं है, लेकिन आर्यभट जो कुछ समझा रहा है, उससे तो देव-दानव की उस मूल अवधारणा पर सवालिया निशान लग जायेगा, जिसके आधार पर राजनीति और धर्म की सत्ता चल रही है! पिछले कुछ दिनों से तो आर्यभट ने अपने गणित-ज्ञान के बल पर जन्म-कुंडली देखकर भविष्य बतानेवाले ज्योतिषियों को चुनौती दे रखी है। वह पाटलिपुत्र आया ज्योतिष और गणित का अध्ययन करने, लेकिन आते ही यहाँ के ज्योतिष-विद्या के गुरुओं के नाकों में दम कर दिया है। वह कहता है कि सच्चा और सही ज्योतिष होने के लिए किसी भी विद्यार्थी को कुशल गणितज्ञ होना जरूरी है। गणित का पंडित होकर ही आकाश के ग्रहों और नक्षत्रों की गतियों का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जा सकता है।

आर्यभट के गणित-ज्ञान से आश्रम के विद्यार्थी और गुरुओं के कुछ गुट चमत्कृत हैं। लेकिन उनमें से भी कुछ लोग आज वेधशाला में नहीं हैं। दरअसल, जब से आर्यभट ने खुलकर कहा कि वह आँखें मूँदकर शास्त्रों की पुरानी बातें मानने को तैयार नहीं है, तब से उन गुटों के कुछ पुराणपंथी लोग तिलमिला उठे हैं, क्योंकि पाटलिपुत्र के आम निरक्षर लेकिन समझदार नागरिकों पर तरुण पंडित के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है।

+++++

पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है

उस दिन तो पुराणपंथी विद्वान चुपचाप लौट गये, लेकिन आज वे लोग चुप बैठे नहीं रह सके। वे पुनः गुहार लगाने राजदरबार में पहुँच गये। उन्होंने कहा- ''महाराज, आज तो अनर्थ हो रहा है। आज तो यह तरुण पंडित हमारे धर्मग्रंथों को यह कहकर चुनौती दे रहा है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती

है और तारामंडल स्थिर है! वह दावा कर रहा है कि आज के सूर्यग्रहण से उसकी यह स्थापना सिद्ध होगी। हमारे धर्म-ग्रंथ कहते हैं कि पृथ्वी आकाश में स्थिर है। पृथ्वी विश्व के मध्यभाग में स्थिर है और आकाश के तारे इसकी परिक्रमा करते रहते हैं। आज तक हमारे किसी भी विद्वान ने धर्मशास्त्रों के वचनों के खिलाफ कुछ कहने का साहस नहीं किया। लेकिन इस पंडित का साहस तो देखिये! वह पूरे शास्त्र को उलटने का दुस्साहस कर रहा है। अब भी अगर सम्राट चुप रहे तो फिर अनर्थ अवश्यंभावी है।

सम्राट बुधगुप्त ने गंभीरता से उनकी बातें सुनीं। वह कुछ चिंतित भी दिखे। लेकिन उनकी बातें सुनने के बाद कहा - 'विषय गंभीर है। लेकिन हमारे राज में धार्मिक आजादी है। इसका माने है अपने-अपने धर्म और संप्रदायों के विचारों को प्रचारित करने की आजादी। लेकिन इसका यह माने भी प्रकट है कि हमारे राज में धार्मिक बातों का खंडन करने की भी आजादी है। इसीलिए यहाँ कई भिन्न-भिन्न पंथ और संप्रदाय हैं। इससे समाज और देश अस्थिर नहीं हुआ। इसके विपरीत सत्ता-राजनीति में स्थिरता आयी, देश-समाज के विकास के नये रास्ते खुले। यहाँ अध्ययन व शोध के लिए कई ज्ञान-विज्ञान के केंद्र स्थापित हुए। हमारे पूर्वजों ने इनकी स्थापना और विकास में सहयोग किया। उन्होंने इन केंद्रों के विकास के लिए किसी पुराने रीति-रिवाज या परंपराओं पर प्रतिबंध नहीं लगाया। आपके रीति-रिवाजों पर या कर्मकांडों पर भी नहीं। तब हम इस पंडित के मुँह पर कैसे ताला लगायें। वह भी इसलिए कि उसकी नयी बातों से पुरानी बातों के गलत साबित होने का खतरा है। अगर हम उसे बोलने से रोक दें तो यह कैसे साबित होगा कि आपकी पुरानी बातें सही हैं?''

सम्राट बुधगुप्त यह कहते हुए सबको लौटा दिया कि आज सूर्यग्रहण है, तो धार्मिक रीतिरिवाज के अनुसार वे भी स्नान-पूजा करेंगे और विपन्नों को दान-दक्षिणा देंगे, लेकिन सूर्यग्रहण के बाद आश्रम से यह सूचना पाने का प्रयास करेंगे कि आर्यभट के निष्कर्ष कितने खरे उतरे?

पुराणपंथियों के विरोध की सूचनाओं पर कान दिये बिना इधर आर्यभट अपने आसपास जमे विद्यार्थियों की जिज्ञासु भीड़ को ग्रहणों का सही कारण समझा रहा था - ''पृथ्वी की बड़ी छाया जब चंद्रमा पर पड़ती है, तो चंद्र-ग्रहण होता है। और इसी प्रकार, चंद्र जब पृथ्वी और सूर्य के बीच आता है और वह सूर्य को ढक लेता है तब सूर्यग्रहण होता है। गणित की सहायता से हिसाब लगाकर हम पहले से ही जान सकते हैं कि पृथ्वी और सूर्य के बीच में ठीक किस समय चंद्र आयेगा और किस स्थान पर ऐसा सूर्यग्रहण दिखाई देगा। लेकिन इसके लिए पहले यह समझना होगा कि पृथ्वी स्थिर नहीं है। यह अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है और आकाश का तारामंडल स्थिर है।''

उसी वक्त एक सहपाठी ने टोक दिया- ''तो फिर आकाश के तारे हमें चक्कर लगाते क्यों दिखाई देते थे? पृथ्वी के चक्कर लगाने का पता हमें क्यों नहीं चलता?''

आर्यभट ने धीरज से समझाया- ''मान लो कि नदी में एक नाव है और वह धारा के साथ तेजी से आगे बढ़ रही है। तब उसमें बैठा हुआ आदमी किनारे की स्थिर वस्तुओं को उलटी दिशा में जाता हुआ अनुभव करता है। उसी प्रकार आकाश के तारों की बात हैं पृथ्विी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है और उसके साथ हम भी घूमते रहते हैं, इसलिए आकाश का स्थिर तारामंडल हमें पूरब से पश्चिम की ओर जाता जान पड़ता है। दरअसल यह तारामंडल स्थिर है। पृथ्वी ही अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है।''

सूर्यग्रहण सम्पन्न होने के साथ ही पूरे पाटलिपुत्र में शोर मच गया- आर्यभट का मत सही है।

पुराणों और धर्मग्रंथों की बात गलत है! पाटलिपुत्र की प्रजा ने आर्यभट को आदर से सिर-माथे उठा लिया।

++++++

आर्यभटीय : वैज्ञानिक चिंतन के नये युग की शुरुआत

इस प्रकार आर्यभट (499 ई०) के साथ भारत में गणित और ज्योतिष के अध्ययन का एक नया युग शुरू हुआ। वैज्ञानिक चिंतन की एक नयी स्वस्थ परंपरा स्थापित हुई। आर्यभट प्राचीन भारत के पहले वैज्ञानिक हैं जिन्होंने अपने समय (जन्म : 476 ई०) के बारे में स्पष्ट जानकारी दी।

आर्यभट हमारे देश के पहले ज्योतिषी थे जिन्होंने कहा था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। हालांकि, यह स्मरण रहे कि आर्यभट ने यह नहीं कहा था कि पृथ्वी सूर्य का भी चक्कर लगाती है। कोपर्निकस वह पहले ज्योतिषी थे, जिन्होंने कहा था कि पृथ्वी एक साल में सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करती है। वैसे, प्रचीन ग्रंथों के अनुसार भारत में भास्कराचार्य की गणना में भी पृथ्वी द्वारा सूर्य की एक परिक्रमा एक साल में पूरा किये जाने का उल्लेख है, लेकिन उपलब्ध सूचना के अनुसार आर्यभट के करीब 600 साल बाद भास्कराचार्य हुए।

आर्यभट ने केवल तेईस साल की छोटी उम्र में एक छोटा ग्रंथ लिखा- आर्यभटीय। यह ग्रंथ उन्होंने कविता में लिखा है। भाषा है संस्कृत। उस जमाने में पंडित लोग अपने ग्रंथ ज्यादातर संस्कृत भाषा में ही लिखते थे।

आर्यभट के जमाने में आज जैसा कागज नहीं था। आर्यभट के जमाने में पुस्तकें भोजपत्रों अथवा ताड़पत्रों पर लिखी जाती थीं। फिर शिष्यगण अपने आचार्य की पुस्तक की कुछ प्रतियाँ तैयार करते थे। आर्यभट के जमाने में मोटे-मोटे पोथे लिखना कोई बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती थी। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक बातें भर देने से ही पंडित की तारीफ होती थी।

आर्यभटीय शुद्ध विज्ञान का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में कुल 121 श्लोक हैं। हर श्लोक में दो पंक्तियाँ। इसका मतलब यह हुआ कि पूरे ग्रंथ में कुल मिलाकर 242 पंक्तियाँ हैं। आजकल इतनी पंक्तियों को केवल दस पृष्ठों में आसानी से छापा जा सकता है। बस, इतना ही बड़ा है आर्यभट का यह महान ग्रंथ! आज के हिसाब से केवल दस पृष्ठों का ग्रंथ!

अपने इसी ग्रंथ के एक श्लोक में उन्होंने ग्रहणों का वैज्ञानिक कारण बताया है। एक अन्य श्लोक में उन्होंने यह बताया है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। आर्यभट ने अपने इस ग्रंथ में और भी अनेक नयी बातें बताई हैं।

इसी ग्रंथ के एक श्लोक की एक पंक्ति में आर्यभट ने जानकारी दी है कि, वह ऐसे ज्ञान का वर्णन कर रहे हैं जिसका कुसुमपुर यानी पाटलिपुत्र में आदर होता है। इस जानकारी से सिर्फ इतना ही नतीजा निकाला जा सकता है कि आर्यभट ने अपने ग्रंथ की रचना कुसुमपुर में बैठकर की है। उन्होंने यह नहीं लिखा कि उनका जन्म कुसुमपुर (पाटलिपुत्र यानी पटना) में हुआ।

एक श्लोक में वे बताते हैं- तीन युग बीत गए थे और उसके बाद साठ वर्षों की साठ अवधियाँ (3600 वर्ष) गुजर गई थीं, तब मेरे जन्म के बाद 23 वर्ष हो चुके थे।

यहाँ तीन युगों का मतलब है- कृत, त्रेता और द्वापर। आर्यभट आगे बताते हैं कि चौथे कलियुग के

जब 3600 शक वर्ष बीत गए, उस समय मैं 23 साल का था। भारतीय ज्योतिषी शककाल का आरंभ 3179 कलि से मानते हैं। इसलिए 3600-3179 = 421 शक वर्ष में आर्यभट 23 साल के थे।

शक वर्ष में 78 की संख्या जोड़ने से ईसवी सन् का वर्ष मिलता है। अतः, 421+78 = 499 ई० में आर्यभट 23 साल के थे। अर्थात्, आर्यभट का जन्म 478 ई० में हुआ था।

आर्यभटीय ग्रंथ चार भागों में विभक्त है-

1. दशगीतिका	10+3	श्लोक
2. गणितपाद	33	,,
3. कालक्रिया	25	,,
4. गोपाद	50	,,
	---	---
कुल	121	श्लोक

प्रथम भाग में गीतिका छंद के दस श्लोकों (दशगीतिका) में गणित और ज्योतिष की बुनियादी बातें सूत्र-रूप में लिखी गयी हैं। इस प्रथम भाग में तीन श्लोक और हैं। प्रथम श्लोक में, ब्रह्मा की वंदना करने के बाद लेखक कहते हैं - मैं गणित, कालक्रिया और गोल का वर्णन करता हूँ। दूसरे श्लोक में नयी अक्षरांक-पद्धति के नियमों को सूत्रबद्ध किया गया है। अंतिम श्लोक में दशगीतिका के सूत्रों के महत्त्व को बतलाकर ब्रह्मा को स्मरण किया गया है। आर्यभटीय के शेष तीन भाग - गणित, कालक्रिया और गोल - आर्या छंद में हैं और उनकी कुल संख्या 108 है, इसलिए ये **आर्याष्टशत** के नाम से भी जाने जाते हैं।

दूसरे भाग **गणितपाद** में वर्ग-वर्गमूल, घन-घनफल, त्रैराशिक, श्रेढ़ियों, क्षेत्रफलों, घनफलों, वर्ग-समीकरण के हल आदि से संबंधित नियम दिये गये हैं। गणितपाद के अंतिम दो श्लोक (32 और 33) महत्त्व के हैं। इनका विषय कुट्टक है। यह बीजगणित का विषय है। उस समय बीजगणित को कुट्टक के नाम से जाना जाता था। आर्यभट ने इन दो श्लोकों में प्रथम घात के **अनिर्धार्य** समीकरण का हल प्रस्तुत किया।

तीसरे भाग **कालक्रियापाद** में 25 श्लोक हैं। इसमें आर्यभट ने काल-विभाजन, युग-पद्धति आदि के बारे में जानकारी दी है।

चौथे भाग **गोलपाद** में कुल 50 श्लोक हैं। इसमें गोल से संबंधित गणित की चर्चा है। इसमें आर्यभट ने ग्रहणों के सही कारण दिये हैं।

इस प्रकार, कुल 121 श्लोकों का आर्यभटीय ग्रंथ समाप्त हो जाता है। ग्रंथ के अंत में एक श्लोक में आर्यभट कहते हैं- सत्य और असत्य ज्ञान के समुद्र में सत्य ज्ञान का जो रत्न डूबा हुआ था, उसे मैंने देवता के प्रसाद से बुद्धिरूपी नाव की सहायता से बाहर निकाला है।

अभी दो सौ साल पहले जब नये सिरे से प्राचीन भारत के गणित और ज्योतिष का अध्ययन शुरू हुआ, तो उस समय विद्वानों को आर्यभट के इस ग्रंथ की प्रति उपलब्ध नहीं थी। अभी कोई सवा सौ साल पहले दक्षिण की मलयालम लिपि में इस ग्रंथ की दो-तीन प्रतियाँ मिलीं। तभी जाकर हमें और सारे संसार को प्राचीन भारत के इस महान वैज्ञानिक के बारे में अधिक जानकारी मिली। महाराष्ट्र के विद्वान डा० भाऊ दाजी (1822-74) ने केरल में 1864 में नए सिरे से आर्यभटीय की मलयालम लिपि में ताड़पत्र पोथियां खोजीं और उनका विवरण प्रस्तुत किया। उसके बाद आर्यभटीय की और भी कुछ

हस्तलिपियाँ मिलीं और उनका संपादन प्रकाशन हुआ। आर्यभट ने शायद एक-दो पुस्तकें और लिखी होंगी। परंतु वे आज नहीं मिलतीं। उनकी यह आर्यभटीय पुस्तक भी बड़ी मुश्किल से नष्ट होते-होते बच पायी है।

आर्यभट पुरण-पंथी नहीं थे, दकियानूस नहीं थे। उन्होंने अपनी बात खुलकर कही है। और उनकी कई बातें धार्मिक मतों के खिलाफ थीं। शायद इसीलिए बाद में आर्यभट के ग्रंथ को जान-बूझकर भुला दिया गया। दूसरे अनेक बढ़िया ग्रंथों की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है।

त्रिकोणमिति : स्कूलों की उच्च कक्षाओं और कॉलेजों में गणित का एक विषय पढ़ाया जाता है। त्रिकोणमिति। यह रेखागणित के आगे का विषय है। आज दुनिया भर में जिस तरीके से यह विषय पढ़ाया जाता है उसकी खोज आर्यभट ने की थी। आर्यभट के ग्रंथ में पहली बार हमें यह तरीका देखने को मिलता है।

जब कोई गणितज्ञ गणित का कोई नया हल या सूत्र खोजता है, तो उसके साथ उसका नाम भी जुड़ जाता है। जैसे पाइथागोरस का प्रमेय, भास्कराचार्य का सूत्र आदि। त्रिकोणमिति के जिस तरीके का हमने जिक्र किया है उसके साथ भी आर्यभट का नाम जुड़ना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। यूरोप के विद्वानों ने भारतीय खोज को तो अपना लिया, लेकिन उन्हें यह जानकारी नहीं थी कि आर्यभट ने इसकी खोज की है। हम ही अपने इस महान वैज्ञानिक को लगभग भूल गये थे, तो उनको क्या दोष दें!

यह तो स्पष्ट है कि आर्यभटीय पुस्तक कविता में है, इसलिए जाहिर है कि उसमें अंकों को नहीं लिखा जा सकता था। दूसरी ओर, हम यह भी जानते हैं कि अंकों और संख्याओं के बिना गणित और ज्योतिष की पुस्तक नहीं लिखी जा सकती है। गणित और ज्योतिष की पुस्तक में संख्याओं की भरमार रहती है। आर्यभट संख्याओं को शब्दों में भी लिख सकते थे, लेकिन तब उनकी पुस्तक बहुत बड़ी हो जाती। आर्यभट को एक उपाय सूझा। उन्होंने बड़ी-बड़ी संख्याओं को छोटे-छोटे शब्दों में लिखने का नया तरीका खोज निकाला। बड़ी अद्‌भुत थी यह खोज!

आर्यभट ने अक्षरों को ही अंक मान लिया। जैसे 'क' को 1, 'ख' को 2, 'ग' को 3 इत्यादि। स्वरों को उन्होंने सौ हजार, दस हजार आदि के बढ़ते मान दिए। इस प्रकार व्यंजनों और स्वरों के मेलजोल से बड़ी-से-बड़ी संख्या लिखने का एक नया तरीका खोज निकाला। इसके लिए उन्होंने एक नियम भी दिया। अपने ग्रंथ के आरंभ में सिर्फ एक श्लोक में ही उन्होंने इस पूरे नियम की जानकारी दी है।

इस तरीके के अनुसार बड़ी-बड़ी संख्याएँ छोटे शब्दों में लिखी जा सकती है। दरअसल, इन्हें शब्द कहना ठीक नहीं है। अलग से इनका कोई अर्थ भी नहीं है। उदाहरण के तौर पर , 'ख्युघृ' शब्द को लीजिए। आर्यभट के तरीके के अनुसार इस शब्द का अर्थ है 4320000 । इसी प्रकार 'बुफिनच' शब्द का मतलब है 232226 संख्या।

आर्यभट ने अपने समूचे ग्रंथ में संख्याओं को इसी प्रकार शब्दों में लिखा है। आर्यभट के ग्रंथ को समझने के लिए पहले उनके संख्याएं लिखने के तरीके को खूब अच्छी तरह समझना जरूरी है। आर्यभट ने संख्याएँ लिखने के लिए अक्षरों का सहारा लिया, तो यह नहीं समझना चाहिए कि उस समय अंकों का इस्तेमाल नहीं होता था, कि अंकों की खोज नहीं हुई थी। आर्यभट को अपने ग्रंथ की रचना कविता में करनी थी, इसीलिए लाचार होकर उन्हें यह नया तरीका खोजना पड़ा। वर्ना, आर्यभट के समय तक हमारे देश में शून्य सहित केवल दस अंकों से सारी संख्याएँ लिखने की खोज हो चुकी थी। इसमें सबसे बड़ी बात थी शून्य की खोज। शून्य की खोज, शून्य सहित केवल दस से तमाम संख्याएँ लिखने

की खोज, किसी गणितज्ञ ने ही की होगी। यह खोज हमारे देश में हुई। आज सारे संसार में शून्य पर आधारित दाशमिक स्थानमान पद्धति का ही प्रचलन है।

परिधि और व्यास का अनुपात : गणित में वृत्त की परिधि और व्यास के अनुपात का बड़ा महत्व है। आर्यभट के पहले इस अनुपात का मान 3 या 10 लिया जाता रहा। मगर आर्यभट ने इस अनुपात के लिए एक अधिक शुद्ध मान प्रस्तुत किया। उन्होंने परिधि और व्यास के अनुपात का जो मान दिया वह चार दशमलव स्थानों तक सही है। महत्त्व की बात यह है कि वे जानते थे कि यह मान परिपूर्ण नहीं है। उन्होंने इसे **आसन्न** मान कहा है। आसन्न मान क्यों कहा? इसलिए कि आर्यभट जानते थे कि इस अनुपात का यथार्थ मान जानना असंभव है। परिधि और व्यास के अनुपात को आज हम यूनानी अक्षर (पाई) से व्यक्त करते हैं और इसका कामचलाऊ मान 22/7 लेते हैं। एक विशिष्ट प्रकार की संख्या है और आज इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर की सहायता से लाखों करोड़ों दशमलव स्थानों तक इसका मान मालूम किया जा सकता है। वैसे, आज भी पाई के उसी मान (3.1416) का स्कूलों में इस्तेमाल होता है, जिसका निर्धारण आर्यभट ने किया था। आज स्कूलों में जो त्रिकोणमिति पढ़ाई जाती है वह भी आर्यभट की मूल विधि पर आधारित है। आर्यभट ने एक विशिष्ट प्रकार के समीकरणों को, जिन्हें प्राचीन भारत में **कुट्टक** कहा जाता था, हल करने का तरीका खोज निकाला।

अन्य कई ज्योतिषियों के उल्लेखों से पता चलता है कि आर्यभट ने कम से कम एक ग्रंथ और लिखा था, जिसका नाम संभवत: आर्यभट-सिद्धांत था। आर्यभटीय में एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को दिन माना गया है, मगर आर्यभट-सिद्धांत में एक मध्यरात्रि से दूसरी मध्यरात्रि तक के काल को दिन माना गया था।

आर्यभटीय पर पहली टीका आचार्य प्रभाकर ने लिखी थी, परंतु वह आज उपलब्ध नहीं है। प्रभाकर संभवत: आर्यभट के शिष्य थे। फिर भास्कर प्रथम ने सौराष्ट्र के वलभी नगर में 629 ई० में आर्यभटीय पर टीका लिखी। यह उपलब्ध है, किंतु कुछ अधूरी। इसी को आधार बनाकर शब्द में सोमेश्वर (लगभग 1040 ई०) ने टीका लिखी। इनके अलावा, आर्यभटीय पर सूर्यदेव (जन्म 191 ई०), परमेश्वर (वर्ष 1360-1455), नीलकंठ (जन्म 1443 ई०) आदि की टीकाएँ मिलती हैं। मलयालम और तेलुगू में भी आर्यभटीय की टीकाएँ मिलती हैं। पता चलता है कि 800 ई० के आसपास आर्यभटीय का **जीज अल् अर्जबहर** के नाम से अरबी में अनुवाद हुआ था।

[यह आलेख श्री गुणाकर मुले लिखित पुस्तक **'आर्यभट'** (प्रचीन भारत के महान गणितज्ञ-ज्योतिषी), ज्ञान-विज्ञान प्रकाशन, नयी दिल्ली और लक्ष्मण प्रसाद एवं विनोद कुमार मिश्र लिखित पुस्तक **'विश्व के महान आविष्कारक और उनके आविष्कार'**, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली तथा श्री भगवतीचरण वर्मा लिखित उपन्यास **'चित्रलेखा'**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, के आधार पर तैयार किया गया है।]

अन्य पठनीय ग्रंथ :

1. आर्यभटीय (मूल संस्कृत और हिंदी अनुवद) :
   रामनिवास राय
2. आर्यभटीय (मूल और अँग्रेजी अनुवाद) :
   कृपाशंकर शुक्ल तथा के.वी. शर्मा
3. आर्यभटीय (भास्कर-प्रथम और सोमेश्वर की टीका सहित) : कृपाशंकर शुक्ल

4. आर्यभटीय (सूर्यदेव यज्वन् की टीका) :
संपादक - के०वी० शर्मा (उपर्युक्त चारों ग्रंथ भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान एकादमी (नयी दिल्ली) ने प्रकाशित किये हैं।)

5. आर्यभटीयम् (व्याख्या) : बलदेव मिश्र

6. आर्यभट (अँग्रेजी) : के०एन० मेनन

वराहमिहिर

-डॉ० ठाकुर हरेन्द्र दयाल

गुप्तकाल भारत के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। इस काल में भारत का चतुर्दिक विकास हुआ। इस युग में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में, जैसे गणित, विज्ञान, क्षेत्रमिति, त्रिकोणमिति, ज्यामिति, ज्योतिष आदि का विकास हुआ। इस युग के प्रधान वैज्ञानिक आर्यभट्ट माने जाते हैं। इनके पश्चात् वराहमिहिर का नाम आता है। यहाँ इसी वैज्ञानिक के विषय में बताने का प्रयास किया जाएगा।

सर्वप्रथम यह विचार किया जाएगा कि वराहमिहिर किस प्रदेश का निवासी था? द्वंद्व संहिता के भाष्यकार युद्धोफल ने इस वैज्ञानिक को मागध ब्राह्मण कहा है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ गणक तरंगिणी में यह बताने का प्रयास किया है कि वराहमिहिर मगध का निवासी था।

सभी विद्वान यह मानते हैं कि वराहमिहिर एक ब्राह्मण था जिसका जन्म मगध में हुआ था। उसके पिता बहुत बड़े विद्वान तथा ज्योतिषाचार्य थे और उसने अपने घर में वराहमिहिर को शिक्षा प्रदान की। उसी समय उसने ज्योतिष विज्ञान तथा विभिन्न विषयों का अध्ययन किया। अपनी ख्याति को फैलाने के लिए उसने सूर्योपासना की। वह अपनी जीविकोपार्जन हेतु उज्जैन चला गया। उसने विभिन्न देशों का परिभ्रमण किया, बुद्ध विभुवा का विचार है कि वराहमिहिर ने परसीया देश का भ्रमण किया। लेकिन अनगिनत शास्त्री का विचार है कि अगर उसने किसी विदेशी राज्य का भ्रमण किया, तो वह रोम या यूनान हो सकता है, जहाँ उसने यूनानियों से ज्योतिषविज्ञान के कतिपय सिद्धांतों को सीखा होगा। इसके ग्रन्थों में अनेक यूनानी शब्दों को संस्कृतकरण कर लिखा गया है। वराहमिहिर को कुछ शक्तिशाली राजाओं ने प्रश्रय दिया। डॉ० बी० भट्टाचार्य का विचार है कि यह वैज्ञानिक गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज दरबार में था।

इतना सत्य है कि वह आर्यभट्ट का समकालीन था। आर्यभट्ट के कथनानुसार उसका जन्म शककाल 398 (398+78)=477 ई० में हुआ था और शुक्र (अर्थात 500 ई०) में उसने अपने ग्रन्थ आर्यभट्टीयम की रचना की। लेकिन पंचसिद्धांत से ज्ञात है कि वराहमिहिर ने शककाल 427 (427+76), अर्थात 505 ई० में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस प्रकार वराहमिहिर का ग्रन्थ पंचसिद्धांत तथा आर्यभट्ट के आर्यभट्टीयम की रचना में केवल 6 वर्षों का अन्तर है। उपरोक्त कथनों से यह प्रतीत होता है कि दोनों वैज्ञानिक समकालीन थे और गुप्तकाल में उत्पन्न हुए थे।

वह एक ज्योतिषाचार्य ही नहीं, अपितु उच्चकोटि का कवि भी था। उसने अपने ग्रन्थों में विभिन्न अलंकारों का व्यवहार किया है। तिमेन्द्र ने औचित्य विचारार्थ में वराहमिहिर को एक कवि बतलाया है। वह बड़ा साहित्यकार था। उसने अपने ग्रन्थों में विभिन्न छन्दों, उपमाओं का भी समावेश किया है। वह सूर्य का उपासक था। उसके परिवार के देवता सूर्य थे। उसके पिता का नाम आदित्यदास था। पुत्र का नाम पृद्रभवास था। वराहमिहिर को भूगोल, नक्षत्रविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि का भी ज्ञान प्राप्त था।

वराहमिहिर भूगोलवेत्ता था। उन्हें तत्कालीन भूगोल का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने अपने ग्रन्थ वृहत्संहिता के चौदहवें अध्याय में भारतीय भूगोल का दिग्दर्शन कराया है। इस ग्रन्थ में पंचाल मगध, कलिंग, अवन्ति, आनर्त, सिन्धु सोंकीर, मदु कुणिन्द का उल्लेख किया। तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि

वराहमिहिर को भारत के विभिन्न प्रदेशों, पर्वतों, नदियों, जातियों के विषय में ज्ञान था। उसे भारत के विभिन्न क्षेत्रों आर्यावर्त, मध्यदेश, अन्तर्वेदी, दक्षिणापथ, उत्तरायन तथा अपराप्त का भी ज्ञान था।

वह बड़ा ज्योतिषी था। उसने ज्योतिष पर अनेकों ग्रन्थों की रचना की। उसे ज्योतिष में तंत्र, होरा तथा संहिता इन तीनों शाखा पर पूर्ण अधिकार था। उसने पंचसिद्धांत, कुण्डली, यात्रा तथा प्रवृत्ति ज्योतिष (संहिता) के सिद्धांतों की चर्चा की है। उसे नक्षत्रविज्ञान पर विशेष अधिकार प्राप्त था। उसने विभिन्न नक्षत्रों की गति, ग्रहों तथा नक्षत्रों प्रभाव के विषयों में बताया। उसने सूर्य, चन्द्रग्रहणों की भी व्याख्या की है। पृथ्वी की छाया के कारण ग्रहण होने का उल्लेख है। इसने भूकम्प, तूफानों, इन्द्रधनुष के विषय में भी अपना विचार व्यक्त किया।

वह मौसम विज्ञान तथा परिवर्तन के कारणों से परिचित था। उसने प्राकृतिक आपदाओं, जैसे द्राळौक्ष, अन्तवृष्टि से उत्पन्न होनेवाले सुखाड़ आदि परिणामों भूकम्प अग्नि वज्रघात, तूफानों, रोगों आदि से उत्पन्न होने वाली विपदाओं के विषय में भविष्यवाणी की है।

वराहमिहिर को कृषिविज्ञान की भी अच्छी जानकारी थी। उसने विभिन्न कृतियों में उत्पन्न होनेवाली फसलों के विषय में अपना विचार व्यक्त किया है। उसने विभिन्न ऋतुओं में फलों तथा पौधों के बर्बाद होने के विषय में बताया है। उनका विचार है कि कीड़े-मकोड़े, जंगली पशुओं, पक्षियों, चूहों तथा अतिवृष्टि से फसलें विनष्ट होती है। वराहमिहिर ने कई स्थानों पर दुर्भिक्षों का वर्णन किया। उन्होंने अत्यधिक वृष्टि होने के कारण और नदियों में बाढ़ आदि के फलस्वरूप दुर्निष्ट का वर्णन किया है। कभी-कभी फसलों को जंगली पशु, चूहा, चीटियाँ और पक्षियाँ नष्ट कर देती थीं। वराहमिहिर ने भूकम्प, अम्लों और महामारियों तथा युद्धों के कारण कृषि के बर्बाद होने का उल्लेख किया है।

वराहमिहिर ने विभिन्न प्रकार की फसलों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में धान के खेतों तथा विभिन्न धानों के उत्पादन करने का वर्णन है। विभिन्न प्रकार के धान्य थे शूकधान्य, शालि, कलमशालि, निष्पाव आदि। उस समय गेहूँ की भी खेती होती थी। दूसरा अन्न उस समय गन्ने, कपास, सरसों, तिल, तथा केसर की खेती का उल्लेख है। उस समय कृषि-सम्बन्धी अनेक अंधविश्वास विद्यमान थे।

वृत्संहिता में उद्यान, वृक्षारोपण तथा फलों के विषय में वर्णन मिलता है। वराहमिहिर का विचार है कि मुलायम मिट्टी सभी प्रकार के वृक्षों को लगाने के लिए लाभदायक होती है। उन्होंने अच्छी तरह से जमीन को तैयार करने के विषय में बताया है। वृत्संहिता में लिखा है कि कटहल, केला, जामुन, अनार, अंगूर के पेड़ कलम काटकर दूसरे पौधों पर चढ़ाये जाने चाहिए। जिन पौधों में शाखा हो उन्हें शीतऋतु में और जिसके बड़े तने हों उन्हे वर्षा ऋतु में एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाना चाहिए। खासकर लगाने से पहले पौधों के तने पर घी तेल, मोम और दूध और गोबर लपेटने चाहिए।

इस ग्रन्थ में वर्णन है कि जामुन, अंजीर, अंगूर, अनार, कटहल आदि के पौधों के लिए आर्द्र भूमि की आवश्यकता है। पौधों के अनुसार एक पेड़ से दूसरे पेड़ के बीच दूरी होनी चाहिए।

वराहमिहिर ने वृक्षों की बीमारियों के विषय में भी अपना विचार व्यक्त किया है। उन्होंने बताया है कि किन कारणों से बीमारियाँ होती हैं। उनका कथन है कि चाकू से बीमारी से खराब शाखाओं को काटकर उनपर घी और मिट्टी लगानी चाहिए और उनपर दूध और पानी छिड़कना चाहिए।

वराहमिहिर ने यह भी लिखा है कि बीज को बोने के पूर्व दूध, पानी में कुछ चावल, मटर, तिल का आटा मिलाकर भिगोना चाहिए। उनका विचार है कि ग्रीष्मकाल में पौधों तथा वृक्षों को गोबर तथा जल

में एक दिन छोड़कर पानी पटाना चाहिए।

वराहमिहिर ने पशुधन पर भी अपना विचार व्यक्त किया है। उस समय पशुओं का वर्गीकरण किया गया है। बनैला (आरण्य) पालतू (ग्राम्य) जलचर स्थलचर, रात में विचरने वाले पशु, जंगली पशुओं में सिंह, हाथी, मृग, कपि आदि का उल्लेख मिलता है। पालतू पशुओं में गो (गाय), बकरे, घोड़ा (अश्व), कुत्ता (श्वान) आदि का उल्लेख मिलता है। वराहमिहिर ने विभिन्न प्रकार के पशुओं को खुशहाल होने के सम्बन्ध में जानकारी दी है। कुछ पशु तो शुभ तथा पवित्र माने जाते थे। उनमें रोगों तथा भोजन आदि के अभाव में पशुओं की खराब स्थिति होने का वर्णन किया गया है। वृत्संहिता में पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए सांढ़ को छोड़ने की सलाह दी गई है। पशुओं को पालने के लिए पशुपालक थे। वृत्संहिता में गाय, बैल को पालने वालों, गड़ेरियों, हाथियों को पकड़ने वालों की गणना निम्नकोटि के व्यवसाय में की गई है। राजा को सलाह दी गई है कि घर पर दुधारू गाय तथा सांढ़ को धार्मिक उद्देश्य से किसी ब्राह्मण को दान करें। पैरों में चोट लगने के कारण बैलों से समान ढोनेवालों की मनाही की गई थी। वराहमिहिर ने दुर्भिक्षों तथा महामारियों से पशुओं की मृत्यु के विषय में सम्भावना व्यक्त की है।

वराहमिहिर ने विभिन्न धंधों तथा उनसे लगे कारीगरों-शिल्पियों के विषय में अपना विचार व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि शिल्पि, धातुओं के कारीगरों तथा मदिरा निर्माण करने वाले थे। कुछ लोग हाथीदांत का व्यवसाय तथा चर्मकर्म में लगे हुए थे। सेवक, जादूगर, गायक, सैनिक, चित्रकार, मालाकार, संवादवाहक, कुम्हार, वैध, दर्जी, आदि थे। वृत्संहिता में कृषकों, नौकर, जादूगर, गायक, सैनिकों के काम को व्यवसाय माना गया और उनकी खुशहाली के विषय में कुछ विचार व्यक्त किया गया है। लेकिन गोपालक, घोड़ों को पकड़ने वाला, मदिरा-निर्माण करनेवाले, दर्जियों, जादूगरों, गायकों का व्यवसाय निम्न प्रकार का माना गया है। उस समय कुछ लोग चोरी, डकैती, वेश्यावृत्ति जैसे खराब व्यवसाय में चले गये थे।

कुछ लोग धनुर्शिल्प में लगे थे। वृत्संहिता में खानों का उल्लेख है। इसमें विभिन्न धातुओं, जैसे सोना, चांदी (रजत), तांबा, लोहा (कृष्ण लोह), शीशा (शीषक) कांसा आदि का उल्लेख है। आग में सोना को गर्म कर उस पर चोट करता था। वह सोना को कसौटी पर जाँचा करता था। वराहमिहिर ने अनेक प्रकार के हीरा, मोतियों तथा लालों का विवेचन किया है। मिट्टी के घड़ा का निर्माण करनेवाला घटकार कहलाता था। वह चाक पर (चक्रिय) पर घड़े का निर्माण करता था। वह मिट्टी की वस्तुओं, मूर्तियों तथा ईटों का निर्माण करता था। कुछ लोग आभूषणों के निर्माण में लगे थे। वृहत्संहिता में आभूषणों के गुणों तथा अवगुण तथा उनके मूल्यों का उल्लेख है।

वृहत्संहिता में वाणिज्य-व्यापार तथा व्यापारियों के विषय में वर्णन मिलता है। ग्रामों तथा नगरों में अच्छी सजावट किए गए मकानों का वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में सामुद्रिक व्यापारियों, नाविकों तथा जहाज से भ्रमण करनेवाले व्यापारियों की खुशहाली तथा खराब स्थिति के कारणों के विषय में बताया गया है। उस समय व्यापारी लोग विभिन्न वस्तुओं का विक्रय किया करते थे। वे विभिन्न प्रदेशों से वस्तुयें लाया करते थे। कश्मीर से केसर आता था। सिन्धु प्रदेश से सैंधव नामक नमक आता था।

आभूषण, फूलों, केशर, शंख, मोती आदि को दुगुने मूल्यों पर विक्रय करने की सलाह दी गई है। इत्र, फूलों, मधु, शंख, तेल, सोना, चांदी, हथियार, वृक्ष के दलाल तथा चमड़ों की वस्तुओं का विक्रय कर व्यापारी धनोपार्जन करते थे और उनकी स्थिति खुशहाल थी, लेकिन व्यापार में व्यापारिक वस्तुओं की क्षति भी होती थी। प्रमुख व्यापारियों तथा साधारण व्यापारियों को विभिन्न संकटों का सामना

करना पड़ता था। वृहत्संहिता में कुछ विशेष परिस्थितियों से मूल्य-वृद्धि का उल्लेख किया गया है। कुछ वस्तुओं के मूल्य दुगुने हो जाते थे, लेकिन विशेष परिस्थिति में मूल्यों में गिरावट होती थी।

वराहमिहिर की कृति वृहत्संहिता से तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। सामाजिक संरचना, वर्ण-व्यवस्था, मिश्रित जातियों, आश्रम-व्यवस्था, विवाह-पद्धति तथा नारियों की परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

उस समय विभिन्न प्रकार के फलों, मसालों, फल तथा सब्जियों को भोजन में व्यवहार किया जाता था। दूध की सामग्रियाँ, दूध, दही और मिष्ठान्न भी था। उस समय मांसों का भक्षण तथा मदिरा का पान भी किया जाता था।

सरहपा

-प्रो० बी० बी० शर्मा

बिहार की यशः काया में नवचिंतन और नवसृजन की उष्मा रक्त धमनियों की तरह प्रवाहित हैं। बिहार इतिहास का वह प्रतिदान है जो गिर-गिरकर उठ जाने की अप्रतिहत क्षमता रखाता है। मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के प्रथम उत्थान में जहाँ पाली ने बुद्ध-वचनों का आश्रय पाकर अपनी महत्ता अर्जित की वहां ही द्वितीय उत्थान ने मागधी-प्राकृत के द्वारा जैनधर्म का आधार पा लिया। इस पंद्रह सौ वर्षों के भाषाई इतिहास में पाँचवीं शताब्दी के बाद तृतीय उत्थान मागधी अपभ्रंश का है, जिससे आधुनिक भारतीय भाषाओं में बहुआयामी हिंदी का जन्म हुआ है। मैथिली, मगही, भोजपुरी ही नहीं हिंदीतर भाषाओं में उड़िया, बंगला, असमिया भी इसी मागधी अपभ्रंश की संतानें हैं। जायसी और तुलसी की अवधी रचनाओं को भी इसी अपभ्रंश ने रचनात्मक परम्परा दी।

जिस प्रकार संस्कृत के आदि कवि बाल्मीकि पश्चिमोत्तर बिहार की तरफ हुए उसी प्रकार हिंदी के आदि कवि सरहपा आठवीं शताब्दी (760 ई०) में नालंदा महाविहार के गौरव बने। पा० संबोधन आदरणीय महनीय के लिए है। पिता के लिए पा-पा है ही। द्रविड़ भाषाओं में पा संबोधन इसी अर्थ में आज भी प्रचलित है। सरहपा सिद्ध कवि थे। भारतीय परम्परा में प्रथम सिद्ध तो महात्मा बुद्ध ही थे। विवेकानंद के शब्दों में कहें तो "बुद्ध एक सत्य की सिद्धि है। जिन्होंने हमें अपनी मिथ्या आत्माओं के पाश से ही नहीं, वरन् ईश्वर या देवता कही जानेवाली अदृश्य सत्ता या सत्ताओं पर निर्भरता से भी मुक्त कर दिया है।" (बुद्ध-धर्य-पृष्ठ 21)

मगही में 'सरह' का अर्थ है- जो राह है, अर्थात् परम्परागत साधना (मुक्ति) मार्ग।

बौद्ध परम्परा में महायान धारा का प्रादुर्भाव पहली-दूसरी शताब्दी के आस-पास हुआ। देशकाल के अनुसार महान बौद्ध विचारक नागार्जुन और पाटलिपुत्र के यशस्वी दार्शनिक कवि अश्वघोष के नेतृत्व में सम्राट कनिष्क द्वारा प्रस्तावित तीसरी संगीति जो श्रीनगर में हुई- में महायान सम्प्रदाय का पुनर्गठन हुआ। यह संघटन कालान्तर में बज्रयान सहजयान और सिद्ध साहित्य में अन्तर्भूत हो गया। महायान धर्म सम्पूर्ण भारत, अफगानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान, मध्येशिया से होता हुआ मंगोलिया, चीन-जापान-कोरिया-कंबोडिया-इंडोनेशिया तक फैल गया। बौद्धधर्म का यह फैलाव विश्व इतिहास की अनोखी घटना है।

मनुष्य के स्वयं सिद्ध या मुक्त हो जाने का यह माध्यमिका या प्रतीत्यसमुत्याद बौद्ध धर्म का एक ऐसा दार्शनिक चिंतन था जो मनुष्य जीवन के अनेक विरोधाभासों से उबरने का चेतन प्रयास करता था। उन दिनों दो अतिवादी धाराओं का संघर्ष चला करता था। श्रमणों की धारा थी निवृत्ति, विरक्ति, व्रत-तपश्चर्या-नकारवाद-पलायनवाद। ब्राह्मणों की परम्परा थी- प्रवृत्ति, भोग, वर्चस्व, हिंसा। आदि सिद्ध भगवान बुद्ध दोनों के मध्य एक ऐसा मार्ग ढूंढ़ लाये जो सर्वप्रिय बन गया। दोनों धाराओं से ऊबे हुए लोग इस सिद्धि मार्ग की तरफ ऐसे लपके जैसे प्यासे को शीतल पेय मिल गया हो। भारत का सांसारिक जीवन श्रमणों और ब्राह्मणों की बोझिल अवधारणाओं से कुंठित और दिशाहीन हो रहा था। तात्विक बदलाव की जरूरत थी। इसे पूरा किया बौद्धधर्म की गतिशील परम्परा ने। बौद्धधर्म का मौलिक विचार स्वातंत्र्य उसे युगानुसार चलने बढ़ने और बदलने का अवसर देता है। बुद्धं-धम्मम् और संघम् का शरण इस चिंतन को चिरंतन बना देता है। वैयक्तिकता, व्यावहारिकता और सामाजिकता सिद्धिमार्ग के ये तीन

चरण। कुछ भी रूढ़ नहीं- कहीं भी यथास्थितिवाद नहीं। बदलते प्रतिमान को धारण करना ही धर्म है।

महायान, वज्रयान, सहजयान बुद्ध-चिंतन के बदलते आयाम थे, जो आधुनिक भारतीय भाषाओं वाली मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिंदी, बंगला, उड़िया, असमिया एवं पार्श्ववर्त्ती तमिल, तेलुगू, कन्नड़ जातियों के आगामी सामाजिक जीवन को चलाने में सक्षम हुए। इस वर्णन को बढ़ाते हुए समस्त एशिया और यूरोप तक ले जा सकते हैं। बुद्ध की करुणा क्राइस्ट तक जाती है। करुणा, प्रेम, समन्वय, एकता, परोपकार और सत्य के पुनर्अवतरण का जो पाठ घर-घर में पैठा वह जनता की अपनी सांस्कृतिक चेतना बन गया। यही वैष्णव भावना है। यही ईश्वर का अवतारवाद है। यही मंदिर-मठ-गिरिजाघर-गुरुद्वारा है। यही सूफियों का कलाम है। बुद्ध धर्म खत्म नहीं हुआ- रग-रग में समा गया। आज जहाँ-जहाँ जनता की आत्म चेतना है, सजग आत्मविश्वास है, स्वावलंबन है, अहिंसा, प्रेम और भक्ति है; वहाँ-वहाँ बुद्ध की अन्तः प्रेरणा कायम है। बौद्ध धर्म में- सिद्धों में कहीं कोई औपचारिकता है ही नहीं, जिसे खत्म होना है। हर चिंतक बौद्ध है। बज्रयान ने शून्यवाद को शंकराचार्य तक पहुँचा दिया। बौद्ध उपासकों के लिए चार पुरुषार्थ-अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष महायान की देन है। व्यक्ति-समूह और राष्ट्र के अहंकार को-प्रभुत्ववाद के जहर को पीने वाला जहरमोहरा बुद्ध धर्म है। करुणा, प्रेम, सत्य, अहिंसा, समता किसे अप्रिय है? वर्णवादी, नस्लवादी, साम्राज्यवादी, अश्वमेधवादी, अधिनायकवादी, प्रभुत्ववादी और वर्चस्ववादी को यह सब अप्रिय है। समता की बात से उसका अहंकार तिलमिलाता है। इसीलिए ब्राह्मणवाद बुद्धधर्म तथा इसके जुड़वां ईसाई धर्म को हिकारत की नजर से देखता है। नाजीवाद के गुरु नीत्शे ने कहा था- "ईश्वर मर गया है।" और आगे कहा था मैं क्राइस्ट और बुद्ध को स्त्रैण मानता हूँ। हर कत्लगाह का नियामक मानवीय धर्म को उखाड़ने-पछाड़नेवाला होता है। स्त्री चिंतन की करुणा का मजाक उड़ानेवाला नीत्शेवादी पुरुषसत्ता के गुरूर में आज भी आततायी तत्त्व बना हुआ है। इस दृष्टि से हमारे सिद्ध योगी तंत्र-मंत्र में गये तो हिंसाचार में नहीं गये। वैयक्तिक स्वातंत्र्य की अपनी निष्ठाएं हैं। द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणेतर धर्मावलम्बी शासकों ने कभी अश्वमेध यज्ञ जैसे अहंकारी अभिचार का सहारा नहीं लिया। मगध साम्राज्य का बहुलांश बहुजन हिताय पर अवलंबित था। वस्तुतः सकारात्मक साम्राज्य प्रजा के बल से ही चलता है। यह बल बुद्ध, धम्म और संघ से आता है, समतामूलक सामाजिक दृष्टि से आता है।

हर क्रांति के क्रोड़ में प्रतिक्रांतिकारी छिपा बैठा रहता है। क्रांति का फल फलचोर चखता है। अराजकता-व्यक्तिपूजा, दुस्साहस उसके उपकरण होते हैं। रावण की तरह ये लोग स्वर्ग तक सीढ़ी लगाने का दिवा स्वप्न पैदा करते हैं। भोली-भाली जनता इनकी जादू भरी झोली में फंस जाती है। बुद्ध धर्म के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक फलागम में ब्राह्मणवादियों की यह घुसपैठ बार-बार दिखाई पड़ती है। सरहपा जैसे ब्राह्मण सिद्धों ने इनकी खूब खोज खबर ली। हाथी से ही हाथी फँसता है।

आधुनिक भारतीय भाषा का जन्म हो रहा है। यह अंतिम तीन-चार सौ वर्ष संक्रांति काल है। सामंती समाज बन रहा है। छोटी-छोटी जातियाँ अपनी-अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक व्यवस्थाएं कायम कर रही हैं। धार्मिक क्षेत्र में भक्ति की प्रबलता है। सिद्ध और भक्त रूढ़ि, कर्मकांड, जात-पात और हर प्रकार के वर्चस्ववाद पर चोट कर रहा है। नया-नया 'देश' बन रहा है। "देशिल वयना सब जन मिट्ठा" विद्यापति कहने वाले हैं। कबीर कहने वाले हैं- 'संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर'। युग के रूपान्तर की प्रक्रिया नाथों और सिद्धों में बीज तथा अंकुर रूप में मौजूद है। और, इस प्रक्रिया के परम पिता हैं सरहपाद-सरहपा-सरह।

विकास के प्रथम ऐतिहासिक चरण का उत्पाद बुद्ध-जैन धर्म ने किया था। सम्पूर्ण भारत में इस केन्द्र

का उत्पाद बिहार को बनना था। यह प्रकृति का वरदान था। दक्षिण की पहाड़ियां- बड़ावर, राजगृह, रजौली, पारसनाथ- गुप्त संपत्तियों का भंडार- लोहा-कोयला-अबरख-अल्युमूनियम, प्रस्तरों की अनगिनत तहें और इन्हें तोड़नेवाले 'दशरथ माँझी' जैसे सूरजसह्य काले-काले लोग। मगध की काली-भूरी-गोरी मिट्टी जोतनेवाली सीताओं की भरमार। काली मिट्टी, कपास-रब्बी-पोस्तू के पौधे, वासंती रंग में पकते बीज, फाग के लहराते गीत। भूरी मिट्टी ईख भी-गेहूँ भी। गोरी मिट्टी लगातार आम्रपालियाँ। और धन्य धान- यत्र-तत्र-सर्वत्र। उत्तर बिहार- गंडकियाँ ही गंडकियाँ सदा नीरा। मछलियाँ, तालमखाने, ईखुदंडें। और सारे बिहार के सम्पन्न लोग हरे ताजे हृष्ट-पुष्ट। सोचने-समझने और लड़नेवाले लोग। लड़नेवालों को समझाने निकले गौतम सिद्धार्थ। मगध ने किस ऐतिहासिक दायित्व को पूरा किया? जरासंध से लेकर धर्मपाल ने किया- बुद्ध से लेकर सरहपा ने किया। नालंदा-उदंतपुरी से लेकर विक्रमशिला ने किया।

वह ऐतिहासिक दायित्व था- कबीलायुगीन बर्बर वैदिक युग के हिंसाचार, अपहरण, लूट, यज्ञाभिचार-व्यभिचार से मुक्तकर लोगों को नये सामाजिक विकास में रूपान्तरित करना। नये सामाजिक विकास का आधार था मानव का उर्वर मस्तिष्क, न कि अंध आस्था और पौरोहित्य-पूजन। इस उर्वर मस्तिष्क ने झूम खेती को बीज वपन खेती में बदला, हल-बैल की घंटियाँ बजायी, नदियों को नहरों में बदला, खाता-पईन खुदवा डाले। इसके टांगी, कुदाल, कटार और बाण ने सब कुछ बदल डाले। जंगल कटे, जंगली जानवर पालतू बने, कबिलाई गणों के शोहदे भागे। अतिरिक्त उत्पादन ने वस्तु-विनिमय-व्यापार बढ़ाये। सेठ बने। सैनिक बने। कारीगर, कलाकार-वास्तुकार बने। नर्त्तक-नर्त्तकी, योगी-यति बने। समय सुलभ हुआ।

इस संवर्द्धन को समेटने का इसे आगे बढ़ाने का- इसे व्यवस्था देने का यानी इतिहास के निर्माण का न भूतो न भविष्यति कार्य पूरा किया मगध साम्राज्य ने। भारत का इतिहास मगध का इतिहास बनकर रह गया। एक काला ब्राह्मण चाणक्य पैदा हो गया।

यह आठवीं शताब्दी है। आधुनिक भारतीय भाषा के हिंदी या बिहारी भाषा-समाज का निर्माण काल है। मुक्ति मार्ग के अधिष्ठाता कवि सरहपा सामने आ गये हैं। नालंदा विश्वविद्यालय में वे एक प्राध्यापक हैं। विश्वविद्यालय के द्वारपाल भी पंडित हैं। जैसे विद्योत्तमा के यहाँ मूर्ख कलिया नहीं घुस सकता वैसे ही गेटकीपर पंडित से परीक्षित हुए बिना कोई ऐरा-गैरा, नत्थु खैरा विश्वविद्यालय का अंतरंग नहीं देख सकता। यहीं हैं सरहपा। वे ब्राह्मण कुलोत्पन्न हैं, पर विद्या की दुनिया में कहाँ कोई ऊँच-नीच। भिक्षु हैं। प्रथम भिक्षु बुद्ध की स्मृति शेष है। नालंदा पंथागार है। विश्व के कोने-कोने से बटुक आये हुए हैं। तक्षशिला को नष्ट हुए कई सदियाँ बीत गई हैं। पर मगध वासियों की याद ताजा है। इस प्रांतर की विभूतियाँ जीवक महावैद्य, चाण्क्य महामात्य, चंद्रगुप्त (मौर्य) सेनानी जीवंत जन मानस हैं। तक्षशिला विद्यापीठ ने मगध के निर्माण में महती भूमिका निभाई है। वो मगध गौरव का दोपहर था। अब अपराह्न है। नालंदा उस याद को संजोना चाहता है। सिद्धि मार्ग के उद्‌गाता सरहपा का ऊर्जस्वित मन नित्य नई-नई रचनाएँ गढ़ रहा है। भाषा गढ़नी चाहती है। नये भाव को नई भाषा चाहिए। विद्यार्थी भाषा के अर्थ तक पहुँचते हैं, पर भाव तक नहीं रमते। सरह कहते हैं- भाव में तो तब डूबोगे, जब जीवन के अनुभव से गुजरोगे। भाव-सत्य ध्वन्यात्मक होता है। शब्द गेय होते हैं। मात्रिक छंद में ध्वनि मुख्य होती है। अनुभूति के साथ अनुभूति मिलती है तभी कविता हृदय के तारों को झंकृत करती है। ये अनुगूंजें सरहपा में पायी जाती हैं।

रहस्यवाद है- पवण बहन्ते ण उ सो हल्लइ

जलण जलन्ते ण उ सो डज्झइ

अनुवाद- पवन वहन्ते ना सो हिल्लइ

ज्वलन जलन्ते ना सो डहियइ

यह चैतन्य की स्थिति है- प्रज्ञा पारमिता है।

दूसरी अवस्थिति है- ण उ तं बाअहिं गुरु कहइ

ण उ तं बुच्झइ सीस

सहजामिअ रसु सहल जगु

कासु कहज्जइ कीस

अनुवाद- ना सो वाचहिं गुरु कहइ

ना सो बूझइ शिष्य

सहजामृत-रस सकल जग

कासु कही जै कष्य

यह सहजवृत्ति आगे के संत कवियों तक चली गई। कबीर-नानक-रैदास तो इस भावना के मुरीद थे ही जायसी-मीरा-सूर-प्रसाद-निराला तक यह रहस्य चेतना प्रकट होती है। भक्तिभावना के चरम उत्कर्ष में यह रहस्यभाव-अनुभूति का यह चरम रूप अगीत बन जाता है और कहना पड़ता है कि गीत सुंदर है अथवा अगीत। ज्यों गूँगे गुड़ खाय के कहै कौन मुख स्वाद। आज जो बिहारी ज्यादा बोलता है वह शायद कमतर होता है, जो कम बोलता है वह ज्यादा बढ़तर होता है। जीवन कर्म-पथ है। बड़बोलापन व्यर्थ है।

पाखंड खंडन तो बिहार की रक्तवाहिनी है। सरह कहते हैं- अक्खि निवेशी आसणवन्धी

कण्णेहिं खुसखुसाई जण धंधी

अनुवाद- आँखि निवेशी आसन बांधा कर्णे खुसखुसाई जन मंदा

कहते हैं- सब मंत्र देवता बेकार हैं। स्वयं साधे-सब सधेगा। बिहारी चेतना के पितृकवि सरहपा ही हैं।

वैयक्तिक जीवन में सरह ने जो क्रांति की वह इतिहास में कुछ ही लोग कर पाये। उन्होंने एक अंत्यजवर्ग की बंसफोड़नी श्रमनिष्ठ स्त्री से प्यार किया और प्यार की खातिर नालंदा जैसे विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद से त्याग-पत्र दे दिया। भिक्षु से उपासक बन गये। बांस की कुटिया में अपनी प्रेयसी के साथ रहते रहे और कामकोष, चित्तकोष, दोहाकोष, चर्यागीत इत्यादि लिखते रहे। प्रेम के लिए पद की गरिमा छोड़ी। भाव की गरिमा अपना ली। प्रेमोत्सर्ग की यह धारा चंडीदास, पंडितराज जगन्नाथ, अष्टम एडवर्ड तक आती है। जात-पात, कुल-वर्ण के दंभ को तोड़ने वाला ऐसा था बिहार का पहला हिंदी का आदिकवि सरहपाद।

कविता के इतिहास में उन्होंने जिस दोहा को रचनात्मक ऊर्जा दी वह भविष्य का सरह (रास्ता) बन गया। दोहा का यह अपभ्रंशाई छंद वर्षों-वर्षों तक हिंदी का सर्वप्रिय छंद बन गया। दोहे तो भावी हिंदी

के दो हाथ बन गये जो काव्य-धारा की लोकप्रिय अभिव्यक्तियों को थामते रहे। यहाँ तक कि दोहा की निंदा करनेवाले तुलसीदास भी बिना दोहे के नहीं रह सके। हिंदुओं के पुनरुत्थान के लिए दूसरे प्रसंग में उन्होंने सिद्धि और भक्ति की लोकप्रिय चेतनावाली धारा का विरोध किया-

साखी सब्दी दोहरा कह कहनि उपखान

भगति निरूपहिं अधम कवि निंदहि वेद पुराण

जो भक्ति अधमों के लिए स्वाभिमान और मुक्ति का मार्ग था उसी का साक्षी निंदा का पात्र माना जा रहा है। वेद-पुराण के पुनरुत्थानवादी चिंतन से प्रतिक्रांति पैदा हो रही है। भक्ति अशक्ति में बदली जा रही है। सरहपा का बिहार ऐसे पुनरुत्थान का समर्थक नहीं है।

धर्मपाल

-नरेन

पाल वंश की मूल राजधानी कहाँ थी, यह ठीक-ठाक नहीं कहा जा सकता, लेकिन प्राप्त ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह आभास होता है कि यह कहीं-न-कहीं बंगाल में ही थी। गोपाल ने पाल साम्राज्य की मजबूत नींव रखी थी। उन्होंने न केवल बंगाल की राजनैतिक अस्थिरता को समाप्त किया था, बल्कि पाल साम्राज्य को विस्तारित कर मगध को भी अपनी जद में ले लिया था। इसके बाद मगध पाल साम्राज्यवाद का दैदिप्यमान केंद्र बन गया। गोपाल बौद्ध थे और उन्हें ढेर सारे बौद्ध महाविहारों का निर्माण करने का श्रेय जाता है। उन्होंने ही नालंदा बौद्ध महाविहार और ओदंतपुरी बौद्ध महाविहार को बनवाया था जो आधुनिक शहर बिहारशरीफ में अवस्थित था।

गोपाल के बाद उनका पुत्र धर्मपाल राजा बना। जिस समय धर्मपाल ने गद्दी सम्हाली थी उस समय तत्कालीन भारत की राजनीति में भयानक उथल-पुथल का दौर चल रहा था। मध्य भारत में गुर्जर प्रतिहार सिर उठा चुके थे और उनकी गिद्धदृष्टि गंगा के मैदानी इलाकों पर थी। अत्यंत जद्दोजेहद के बाद धर्मपाल ने हालात को अपने पक्ष में बनाया और अंततः उनका शासन हिमालय से लेकर मध्य भारत तक तथा बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक कायम हो गया। धर्मपाल अत्यंत दूरदर्शी और व्यवहारकुशल राजा थे। महान सम्राट समुद्र गुप्त के नक्शे कदम पर चलते हुये उन्होंने जिन क्षेत्रों पर विजय हासिल की थी, उनकी देख-रेख का जिम्मा स्थानीय शासकों को ही सौंप दिया था। इस नीति को अपनाते हुये उन्होंने केंद्रीय प्रशासन पर पड़ने वाले भारी दबाव और तनाव को कम कर लिया। लेकिन वे विस्तृत भू-भाग के सम्राट बने रहे। धर्मपाल की इस उदार नीति की वजह से परास्त राजकुमार धर्मपाल के प्रति स्वामीभक्त बने रहते थे तथा उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे। धर्मपाल के राज्यकाल के 32वें वर्ष में उत्कीर्ण ताम्रपत्र, जो खलीमपुर में पाया गया है, से यह ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र को केंद्र में रखकर धर्मपाल का कितना ऐश्वर्यशाली साम्राज्य कायम था।

धर्मपाल एक महान विजेता थे। तमाम प्रतिरोधों के बावजूद उन्होंने एक सुविस्तृत साम्राज्य कायम किया था। हालांकि एकाधिक बार उन्हें पराजय का भी सामना करना पड़ा था, लेकिन वे अत्यंत चतुराई से सामंती और गणराज्यीय समीकरणों को साधते हुये अपने सुविस्तृत साम्राज्य के शासन की बागडोर सम्हाले हुये थे। धर्मपाल वास्तव में एक ऐसे दूरदर्शी साम्राज्य निर्माता थे, जो बखूबी यह समझते थे कि कब युद्ध छेड़ा जाना चाहिये और अपनी विजय को किस प्रकार सुदृढ़ बनाये रखना है। वे हमेशा यह सतर्कता बरतते थे कि किस प्रकार अपनी मर्यादा में रहा जाए। जो राजा भी उनके पास अपनी सुरक्षा की लालसा लेकर आया करते थे, उनको वह पूरी तरह से अभयदान दे दिया करते थे। इस प्रकार उनकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती थी। धर्मपाल पालवंश के पहले राजा हुये, जिन्हें 'महाराजाधिराज परमेश्वर' तथा 'परम भट्टारक' की उपाधि से विभूषित किया गया था। उनके पिता गोपाल को महज 'महाराजाधिराज' की ही उपाधि मिली थी। धर्मपाल अत्यंत सक्षम शासक साबित हुये। उन्होंने अपनी प्रजा पर इतना सोच-समझकर कर कर लगाया था कि वे उनको अत्यंत सुविधापूर्वक ढंग से अदा कर दिया करते थे।

अपने पिता के समान धर्मपाल भी बौद्धधर्म के अनुयायी थे और उनको विक्रमशिला बौद्धमहाविहार बनवाने का श्रेय जाता है। इस महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय के खण्डहर आज भी भागलपुर जिला में

कहलगाँव के समीप अंतीचक गाँव में अवस्थित है। नालंदा विश्वविद्यालय को भी उनका भरपूर संरक्षण प्राप्त था। इस आशय का एक ताम्रपत्र नालंदा में पाया गया है। हालांकि सम्राट धर्मपाल बौद्धधर्म के अनुयायी थे, लेकिन वे अपने राज्य में अन्य धर्मावलंबियों के प्रति पर्याप्त उदारता बरतते थे। उनके ही राज में बोधगया में चार चेहरों वाले शिव की मूर्ति की स्थापना की गयी थी। धर्मपाल का शासन काल लगभग 40 वर्षों का था। उन्होंने 780 ई० बी० से लेकर 820 ई० बी० तक राज किया था।

धर्मपाल के राज काल में मगध में सर्वांगीण उन्नति हुयी थी एवं राज्य की आर्थिक दशा काफी सुधरी हुयी थी। लोगों की आजीविका का मुख्य साधन कृषिकर्म था। मगध में उपजाया जाने वाला चावल इतनी महीन किस्म का होता था कि उसे अभिजात्य वर्ग बड़े शौक से खाया करता था। गेहूँ भी पर्याप्त मात्रा में उपजाया जाता था। बड़े पैमाने पर ईख की भी खेती की जाती थी। तिब्बती भिक्षु अपने साथ ढेर सारी चीनी और नील तिब्बत ले जाया करते थे। बिहार में ताम्बे और कांसे से ढलाई का काम भी अत्यंत उन्नत तरीके से होता था। नालंदा और कुर्किहार में पाई जानेवाली ताम्बे और काँसे की मूर्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं। नालंदा महाविहार में धातुओं को पिघलाने वाली भट्ठियाँ पायी गयी हैं। उन दिनों बहुत उम्दा किस्म के कपड़े भी बनाये जाते थे। कपड़ों पर छपाई का काम भी अत्यंत लाभजनक उद्योग रहा होगा। तेल पेरने का धन्धा भी उन्नत था और तेली समाज उदारतापूर्वक धार्मिक कार्यों में दान दिया करते थे। नदी मार्ग से खूब यातायात होता था। धर्मपाल का शिलालेख यह उल्लेखित करता है कि पाटलिपुत्र में गंगा में भारी संख्या में विशाल आकार की नावें हुआ करती थीं। उत्तर और दक्षिण बिहार के बीच आने-जाने वाली नावें 300 लोगों को ढो ले जाने में सक्षम थीं। चीन, तिब्बत तथा दक्षिण एशियाई देशों के साथ खूब व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। इसी काल में काँसे और पत्थरों की शिल्पकारी ने खासी उन्नति की थी। पांडुलिपि चित्रण भी खूब हुआ करता था। नालंदा धातुई ढलाई के काम का प्रमुख केंद्र हुआ करता था।

मगध प्रदेश के चतुर्दिक विकास में सम्राट धर्मपाल के अवदान के महत्त्व को बखूबी समझा जा सकता है। धर्मपाल और उनके पिता गोपाल को ही नालंदा, ओदंतपुरी और विक्रमशिला जैसे तत्कालीन जगत के श्रेष्ठतम शिक्षा केंद्रों के निर्माण का श्रेय जाता है। मगध या यूँ कहें कि भारतीय इतिहास का क्या स्वरूप होता, यह कहना मुश्किल है, अगर इन तीन समृद्ध शिक्षा-केंद्रों का निर्माण इन पाल राजाओं ने न किया होता।

मंडन मिश्र एवं भारती

-बनखण्डी मिश्र

भारत के दार्शनिक इतिहास में, छठी से चौदहवीं शताब्दी का कालखंड वैचारिक अन्तर्द्वन्द्व से भरा है। वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृति एवं गीता पर आधारित भागवत धर्म पर जैन और बौद्ध दर्शनों का निर्मम वैचारिक आघात हो चुका था। इनमें बौद्ध दर्शन को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण इसका प्रचुर प्रभाव हो रहा था। दूसरी ओर भागवत या सनातन धर्मावलम्बी दार्शनिकों के सम्मुख एक विकट स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि वे लोक-आस्था को किस तरह अपनी चिंतन धारा के पक्ष में सुरक्षित रख सकें और उनका जनमानस के साथ तादात्म्य बना रहे।

ऐसी ही संकट की घड़ी में, केरल राज्य के कालड़ी गाँव के एक नम्बूदिरी ब्राह्मण शिवगुरु के परिवार में एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति (788 ई० में) हुई। शिवगुरु और उनकी धर्मपरायणा पत्नी सुभद्रा (आर्याम्बिका) का विश्वास था कि भगवान शंकर की कृपा से एक बालक का जन्म हुआ है, इसलिए उनका नाम शंकर रखा। यही शंकर आगे चलकर महान अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य के रूप में विख्यात हुए, जिन्होंने भागवत धर्म के रक्षार्थ बाल्यकाल में ही संन्यास ग्रहण किया। उन्होंने विविध शास्त्रों का गहन अध्ययन किया, पूरे भारतवर्ष की यात्राएँ की, विभिन्न धर्मोचार्यों के दर्शन किए, उनसे विचार-विमर्श और शास्त्रार्थ करके अपना एक अलग और स्वतंत्र मत का निरूपण किया। शंकर के उक्त मत को 'शांकरमत' से अभिहित किया गया और उनको इस मत का 'आदिगुरु' घोषित किया गया। अपने मत के प्रचार-प्रसार के क्रम में, देश की चार दिशाओं में चार आश्रम स्थापित किए- उत्तर में बद्रिकाश्रम, दक्षिण में श्रृंगेरी आश्रम (कर्नाटक), पूरब में जगन्नाथपुरी या गोवर्धन आश्रम (ओड़िसा) और पश्चिम में द्वारकाश्रम। इन आश्रमों में उन्होंने अलग-अलग पीठाधीश नियुक्त किए जो संन्यासी और धर्म-दर्शन के निष्णात विद्वान हुआ करते थे। वह परम्परा आज भी कायम है।

आदि शंकराचार्य ने अपनी विचार-यात्रा में 'ब्रह्मसूत्र', 'उपनिषद् भाष्य', 'गीताभाष्य', 'विवेक चूड़ामणि', 'प्रबोध सुधाकर', 'उपदेश सास्त्री', 'अपरोक्षानुभूति', 'पंजीकरण', 'प्रपंच सारतंत्र', 'मनीषा पंचक', 'आनन्द लहरी स्तोम', जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रणयन किया। उनकी इच्छा थी कि देश के तात्कालीन गण्यमान विद्वान उनपर अपना-अपना अभिमत दें और तदुपरान्त उचित मान्यता दें।

शंकराचार्य ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना, अपने पूर्ववर्त्ती दार्शनिक बादरायण की कृति से प्रेरित होकर की थी। आदिगुरु चाहते थे कि इस पुस्तक का वार्तिक (विशद व्याख्या) कोई लब्धप्रतिष्ठित विद्वान लिखें। अपने काशीप्रवास में उन्होंने आचार्य कुमारिल भट्ट का नाम सुना, जो प्रयागराज में रहकर अध्यापन-कार्य करते थे। आचार्य कुमारिल भट्ट ने 'शाबर भाष्य' के 3099 श्लोकों की विस्तृत एवं पांडित्यपूर्ण व्याख्या करके यश-प्राप्ति कर ली थी। उनके दर्शनार्थ, शंकर जब प्रयागराज पहुँचे, तब तक काफी देर हो चुकी थी। कुमारिल भट्ट अपनी पुस्तक में अपने गुरु के विचारों का खंडन करने के कारण नैतिक अपराधबोध से ग्रस्त हो चुके थे। इस ग्लानि से उबरने के लिए उन्होंने आत्मदाह कर जीवन को विसर्जित करने का निर्णय ले लिया था और धान की भूसी के अम्बार में आग लगाकर प्रविष्ठ हो चुके थे। किन्तु अपने आश्रम में युवा संन्यासी शंकर को उपस्थित देखकर उन्होंने अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि उनका उचित स्वागत-सत्कार और सम्मान करें।

आदिगुरु ने अपने मन के विचार मरणासन्न आचार्य कुमारिल भट्ट के सामने रखे। इस पर भट्ट

महोदय ने अपनी असमर्थता व्यक्त की और प्रस्ताव दिया कि वे पूर्व दिशा में कौशिकी (आज की कोशी) नदी के किनारे स्थित महिष्मती (महिसी) नामक गाँव जायँ, जहाँ उनके पट्ट शिष्य पंडित मंडन मिश्र रहते हैं। मंडन मिश्र कोई साधारण विद्वान नहीं हैं, वरन् 'दिगन्त विश्रान्त यशा:' (सभी दिशाओं में यशस्वी घोषित-माधवाचार्य कृत 'शंकर दिग्विजय' 6/993) और वे सभी शास्त्रों में निष्णात विद्वान हैं। वे मेरे सबसे प्रिय और मुझसे भी अधिक योग्य हैं ('सर्वासु शास्त्रसरणीबुच विश्वरूपो मतौऽधिक्य प्रियतमश्य: महाश्रवेषु।' शं० दि० 7/117)

पं० मंडन मिश्र से मिलने की उत्कट अभिलाषा लेकर शंकराचार्य प्रयागराज से पूर्व दिशा की ओर तुरत प्रस्थान कर गए। उनकी गति में तीव्रता थी, फिर भी वे चाह रहे थे कि वायुवेग से वे महिष्मती पहुँचे। जनश्रुति तो यह भी है कि अपनी तपस्या के बलपर वे आकाशमार्ग से ही महिष्मती पहुँचे। गाँव के बाहर एक पनघट पर कुछ युवतियाँ जल भर रही थीं। शंकर जैसे युवा संन्यासी (उनकी आयु उस समय मात्र 16 वर्ष की थी) को देखकर वे सभी खिलखिलाकर हँस पड़ीं, ठीक उसी तरह जैसे महाभारत में किशोर शुकदेवमुनि को नग्न देखकर वस्त्रहीन हो जलविहार करती युवतियाँ हँसी थीं। संन्यासी शंकर ने जब उन बालाओं से पं० मंडन मिश्र के घर का पता पूछा तो उनमें से एक ने (जो मंडन परिवार की सेविका थी) कहा कि आगे जाकर एक गृहस्थ की कुटिया मिलेगी, जिसके बाहर टंगे एक पिंजड़े में बैठा होगा।

स्वत: प्रमाणं, परत प्रमाणं,

शुकाङ्गना यत्र गिरोगिरन्ति।

शिष्योपशिष्य रूपगीय मानं

भवेहित मंडन मिश्र धाम:।।

पं० मंडन मिश्र से शंकराचार्य की मुलाकात हुई। उन्होंने अपना अभिप्राय: बताया। शंकर द्वारा प्रस्तुत कुछेक सूत्रों के आधार पर मंडन ने अपना सैद्धान्तिक मतभेद बताया। वातावरण गंभीर हो गया। अपने विषय और सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ शंकर की मुद्रा आक्रामक हो गई। अंत में मंडन की विदुषी पत्नी भारती ने मध्यस्था की और तय हुआ कि दोनों विद्वान तर्कपूर्ण शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो जाएँ। निर्णायक साक्षी के रूप में वे स्वयं उपस्थित रहेंगी। दोनों के शास्त्रार्थ का केन्द्र था 'ब्रह्मसूत्र'।

शंकराचार्य थे अद्वैतवादी वेदान्ती और मंडन मिश्र थे गार्हस्थ धर्म का पालन करनेवाले मीमांसक। शंकर की स्थापना, उनके परमगुरु गौरपात की दार्शनिक रचना 'मांडुक्य कारिका' पर आधारित थी। शंकर के अनुसार- "ब्रह्मदेश काल में सीमित नहीं हो सकता, अनित्य और परिवर्तनशील नहीं हो सकता, वह परतंत्र और बद्ध भी नहीं हो सकता। ऐसा होने से वह 'अल्प' कहलायेगा। अत: जो ब्रह्म अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, वही वास्तविक है, वही 'भूमा' है।" शंकर का यह अद्वैत सिद्धान्त, बौद्ध चिन्तन के 'शून्यवाद' के अधिक निकट था। इसलिए बौद्ध आक्रमण से, सनातन या भागवत धर्म को स्पष्टरूपेण सुरक्षित रखने में असुविधा हो रही थी। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि शून्यवादी बौद्धों ने जनजीवन के निकट पहुँचने के प्रयोग (महायान तथा वज्रयान के मार्फत) किए वे मानव को संन्यास की ओर ही प्रेरित करते थे। बाद में चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव आंदोलन ने बौद्ध भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों पर आचरण-संबंधी प्रहार किए, जिसका प्रभाव बंगाल, ओड़िसा तथा पूर्वांचल की धार्मिक अवस्था पर पड़ा और वैष्णव धर्म की पुनर्स्थापना हुई।

पं० मंडन मिश्र ने शंकराचार्य के सम्मुख जो तर्क उपस्थित किए वे आचार्य जैमिनी (400 ई० पू०) के 'कर्ममीमांसा सूत्र' पर आधारित थे। आचार्य जैमिनी ने 'कर्मवादी सिद्धान्त' का प्रतिस्थापन किया था और बाद में आचार्य कुमारिल भट्ट ने उसपर वार्तिक लिखकर उसे और भी जनोपयोगी बनाया था। मंडन ने अपने तर्कों से यह सिद्ध किया था कि कर्मवाद, संन्यास का विरोधी और गार्हस्थधर्म का पृष्ठपोषक था। उन्होंने 'कर्म' की महत्ता को स्पष्ट किया। उनके अनुसार "कर्म के तीन रूप होते हैं- नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इनमें से प्रथम दो नित्य और नैमित्तिक अनिवार्य माने गए जिनके न करने से प्रत्यूह होता है। प्रात: तथा सायं उपासना या प्रार्थना नित्य कर्म है। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के समय गंगास्नान करना नैमित्तिक कर्म है और काम्य कर्म वह है जो किसी कामना से किए जाएँ जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ आदि। कर्म और फल के मध्य अनिवार्य संबंध हैं जिसे सामान्य जन भी समझ सकते हैं। कर्म और फल के इस सिद्धांत को कुमारिल ने इस तरह स्पष्ट किया था- बिना कर्म (क्रिया) किए फल की कामना नहीं की जा सकती है। केवल क्रिया, क्रियावान और क्रिया के अंगों का अस्तित्व है। क्रियावान सदा कर्म करता है जो मानवजीवन के लिए अनिवार्य है। जीवन से विरक्ति, वैराग्य और संन्यास लोगों को निष्क्रिय कर देता है। मंडन के सारे तर्क इसी सिद्धान्त पर आधारित थे। उन्होंने इस दार्शनिक व्यवस्था को न केवल सरलीकृत किया, बल्कि सखीकृत सर्वमान्य भी बनाया।

शंकर-मंडन शास्त्रार्थ की परिणति क्या हुई, सारा संसार जानता है। कहने को तो उस बौद्धिक विवाद का अन्त हो गया, किन्तु कुछ छद्म बुद्धिजीवियों ने मंडन के विषय में ऐसी शंकाएँ उपस्थित कर दीं कि हँसी लगती है। ऐसे लोगों ने 'इतिहास चक्र' को न केवल उल्टा घुमाने की कुचेष्टा की है, बल्कि स्थापित सत्य से विचलित करने का भी षड्यंत्र किया है। यह बौद्धिक विडम्बना न केवल मंडन के साथ हुई, बल्कि उनकी जन्मभूमि बिहार के साथ भी हुई है। ऐसे अतिवादी अध्येता तो यह कहने से भी नहीं चूकते कि ''बिहार के पास केवल 'भूत' है, वर्तमान शून्य है और भविष्य अंधकारमय।'' इन्हीं लोगों ने यह कह डाला कि आचार्य कुमारिल भट्ट दक्षिण महाराष्ट्र के थे, जब कि वे (आचार्य) मिथिला के भट्टपुरा (आज का भटौरा, मनीगाछी रेलवे स्टेशन के निकट) के निवासी थे। मंडन की पत्नी भारती, (जो विद्वता और ख्याति में विदेहपुत्री जानकी के समान पूज्या रही है) आचार्य कुमारिल भट्ट की छोटी बहन थी। मंडन का महिष्मती गाँव कौशिकी नदी (जिसका नामकरण ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने अपनी बहन कौशिकी के नाम पर किया था और आज की कोसी नदी) के किनारे बसा था। इसी प्रांत के निवासी बौद्ध दर्शन के पंडित, कवि और 'बुद्धचरित सौदरानन्द' के स्वनामधन्य अश्वघोष थे। बौद्धधर्म के महायान पंथ की प्रसिद्ध पुस्तक 'विमलकीर्त्ति निर्देश सुत्त' की रचना भी यहीं हुई थी। प्रसिद्ध बौद्धश्रवण बुद्धघोष भी मिथिलावासी ही थे।

मीमांसा सिद्धान्त के प्रकांड पंडित मंडन मिश्र ने, आचार्य शंकर के 'संन्यास सिद्धान्त' का विरोधकर, भागवतधर्म की रक्षा में योगदान ही किया। एक समय ऐसा भी आया जब आदिगुरु शंकर को अपनी माँ सुभद्रा की अस्वस्थता का समाचार मिला तो वे भागकर अपने गाँव कालड़ी पहुँचे। सेवा-सुश्रुषा के अभाव में संन्यासी शंकर की माँ काफी दुर्बल हो गई थीं और शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो गईं। उस क्षण ग्रामवासियों ने शंकर के जीवन-दर्शन का घोर विरोध किया, फलत: उनको अकेले ही माँ का दाह तथा अन्य पारम्परिक संस्कार करने पड़े।

मंडन ने कर्मवाद को गार्हस्थ जीवन एवं कर्मशील जीवन का सदा आधार माना। उन्होंने 'संन्यास' को गार्हस्थ से श्रेष्ठ और पूज्य माना, किन्तु साथ ही उसे अव्यावहारिक करार दिया। मीमांसा शास्त्र की आँच में 'ब्रह्मवाद' को पकाकर जनोपयोगी बनाकर, उन्होंने भागवत धर्म की पताका को प्रसिद्धि के

आकाश में फहराने का एक कीर्त्तिमान स्थापित किया।

रह गई बात, बिहार की प्राकृतिक सम्पदा, बौद्धिक विरासत, अस्मिता एवं अकूत संभावनाओं को नकारने वाले आलोचकों की बात। भगवान उनको सुबुद्धि दें- और हम तो अपना और अपने 'जन' का भविष्य सँवारने के लिए प्रयोग करने को कटिबद्ध हो चुके हैं।

सूपफी संत
हजरत मख़दुम याहया मनेरी

–नरेन

यह चढ़ते मार्च की एक शांत और सुहानी शाम थी। और मैं खड़ा था मनेर में विश्वविख्यात सूफी संत हजरत मखदूम याहया मनेरी के मकबरे के सामने। ढलते सूरज की सिंदूरी आभा मद्धम पड़ती जा रही थी। जीवन के रहस्य के समान दिन का उजाला शाम के अंधेरे में हौले-हौले घुलता चला जा रहा था। मकबरे के भव्य प्रवेश द्वार के पास सीढ़ियों पर हम खड़े थे। हम यानी मेरे कवि मित्र, पड़ोस में अवस्थित आनंदपुर होमगार्ड प्रशिक्षण मुख्यालय के कमांडेंट रामचंद्र ओझा, दार्शनिक-आलोचक डी०आई०जी० पी०एस० नटराजन और उनकी पत्नी रूपा। रूपा ने अपने सिर को दुपट्टे से ढाँक रखा था और दोनों हाथों की ऊँगलियाँ फँसाकर उन्हें अपने सीने के पास जोड़े भावविह्वल हो पलकें मूंदे खड़ी थी। यह रूपा की ही जिद थी कि ढलती शाम में ही हम यहाँ चले आये थे। कहा था उसने कि मन जब अशांत हो जाया करता है तो दो घड़ी हजरत मखदुम साहब के सान्निध्य में आ बैठा करती हूँ। चित्त शांत हो जाया करता है। हम सारे लोग असीम शांति में नहाये खड़े थे।

शाम गहरा रही थी। नीम रौशनी में हम मकबरे के आस-पास हौले-हौले चलते रहे। मैं चमत्कृत था। अद्‌भुद्‌ मुगलकालीन स्थापत्य कला का बेमिशाल नमूना था यह मकबरा और कई सदियों पूर्व बने होने के बावजूद यह आजतक एकदम सुरक्षित था। मिर्जापुरी गुलाबी बलुए पत्थर की बनी हुई नफीस जालियाँ विस्मित कर गयी थीं। निश्चित तौर पर यह मुगल काल में बनायी गई सर्वाधिक खूबसूरत इमारतों में से एक है। कंदील की रोशनी में हजरत साहब की कब्र के सामने घुटने के बल बैठकर हमलोगों ने मन्नतें माँगी और उन्हें पूरी करने की हसरत लिये धागा बाँधा। कहते हैं, यहाँ दुनिया-जहान से लोग मन्नतें मांगने के लिए आया करते हैं और उनकी मन्नतें जरूर पूरी हो जाया करती हैं। जुमे के रोज यहाँ भारी भीड़ जुटा करती है। क्या हिंदू, क्या मुसलमान सभी मन्नतें माँगने के लिये आया करते हैं। मकबरे से बाहर निकलकर हम उसके पश्चिमी छोर पर अंधेरे में डूब रहे विशाल तालाब के पास खड़े हो गये। काल यहां आकर ठहरा हुआ था। इतिहास बताता है कि मुगलकाल में इसी मनेर में बिहार का गवर्नर रहा करता था और यहीं से समूचे बिहार पर शासन करता था। उस काल की स्मृतियाँ आज भी हौले-हौले तालाब के पानी पर डूब उतरा रही हैं।

फिर जब-जब मेरा मन अशांत होता, मैं पटना से 30 किलोमीटर दूर पश्चिम में दानापुर सैनिक छावनी और बिहटा के बीच अवस्थित मनेरशरीफ के सकूनदेह माहौल में चला जाता। तालाब के किनारे घंटों बैठा रहता। पूरा वजूद अनिर्वचनीय शांति से सराबोर हो जाया करता। आजकल तो बिहार सरकार का पर्यटन विभाग उस बड़े तालाब के दक्षिणी छोर पर निर्माणकार्य में लगा हुआ है। इस मशहूर ऐतिहासिक स्थल को आकर्षक पर्यटन स्थल की सुविधाओं से लैस किये जाने का मुहिम जारी है। बिहार की राजधानी के वासियों को निकट भविष्य में अपने शहर की सीमा के समीप ही एक सकूनदेह पर्यटन स्थल मिलने जा रहा है। मनेर के बेहतरीन लड्डू तो जगत विख्यात हैं ही।

शताब्दियों पहले जब मनेर में बिहार का गवर्नर रहा करता था, तो इसकी कुछ खास रणनीतिगत वजहें रही होंगी। कुछ शताब्दी पूर्व आज का यह नन्हा सा ऊँघता हुआ कस्बा सोन और गंगा नदी के संगम स्थल पर अवस्थित था। उत्तर से आकर सरयु नदी इन दोनों नदियों से मिल जाती थी। सोन नदी

के चैनल के किनारे पाये गये एक पुराने दुर्ग का अवशेष इस बात का प्रमाण है कि पुराने जमाने में मनेर का रणनीतिगत महत्त्व था। ऐसा लगता है कि मौर्यकाल में यह पाटलिपुत्र का पश्चिमी दरवाजा था। उस दौर से लेकर आजतक यह अपनी बड़ी और छोटी दरगाह के लिये मशहूर है जिसे 13वीं सदी के मशहूर सूफी संत हजरत मखदुम याहया मनेरी की पावन स्मृति में बनाया गया है।

हजरत मखदुम साहब की कब्र उस विराट तालाब के पूरब में बनी भव्य मस्जिद में अवस्थित है। यह विशाल तालाब सोन नदी से 400 फीट लम्बी एक सुरंग से जुड़ी हुई है। अभी हाल के दिनों तक सोन नदी का पानी इस तालाब में आकर गिरता रहता था। इस मस्जिद को इब्राहिम खान ने बनवाया था। अपने आरंभिक दिनों से ही यह जगह अपने मजहबी महत्त्व की वजह से काफी मशहूर रही है। यहाँ सिकंदर लोदी और शहंशाह बाबर (1520-30) जैसी मशहूर हस्तियाँ आती रही हैं।

मशहूर सूफी संत हजरत मखदुम याहया मनेरी का जन्म 1263 ईस्वी में हुआ था। वे मनेर के शेख याहया के पुत्र थे और शेख शरफुद्दीन अबु तव्वामा के शार्गिद थे। सोनार गाँव की यात्रा पर निकले अबु तव्वामा मनेर में याहया मनेरी के यहाँ ठहरे थे। बालक शरफुद्दीन याहया इस संत की शिक्षा और ज्ञान से बेहद प्रभावित हुये थे। उन्होंने यह तमन्ना जाहिर की थी कि वह उनके साथ रहकर तालीम हासिल करेंगे। वे उनके साथ सोनार गाँव चले गये।

सोनार गाँव में अबु तव्वामा ने एक मदरसा और खानकाह बनाया जहाँ शर्फुद्दीन याहया मनेरी ने तालीम और आध्यात्मिक प्रशिक्षण पाया। उन्हें अपनी तालीम में बेपनाह रूचि थी और जल्द ही वे इस्लामी शिक्षा की तमाम शाखाओं के बारे में पारंगत हो गये। उन्होंने तफ्सीर, कुरान पर तकरीर करने, पैगंबर की परंपरा, न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, आध्यात्मिक ज्ञान, दर्शनशास्त्र और गणित आदि में महारथ हासिल कर ली। उन्होंने सूफी ज्ञान धारा का गहन प्रशिक्षण लिया और उनका अधिकांश समय साधना और आध्यात्मिक क्रिया-कलापों में बीतने लगा। वे अपनी तालीम हासिल करने में इस कदर डूबे हुये थे कि घर से आनेवाली चिट्ठियों में एक से उनको पता चला कि उनके वालिद की मौत हो गयी है।

अपनी जन्मभूमि मनेर लौटने के पहले उन्होंने अपने उस्ताद शेख अबु तव्वामा की बेटी से शादी की, जिससे उनके तीन बेटे हुये। अपने बाद के दिनों में उन्होंने सूफी दुनिया में बेपनाह शोहरत हासिल की। उनके मक्तबात (चिट्ठियाँ) प्रकाश में आयी हैं जो उन सुझावों से भरी हुयी हैं कि कैसे अल्लाह को हासिल किया जा सकता है। 1346-47 के दौरान शेख शर्फुद्दीन मनेरी ने एक सौ खतों की शक्ल में सूफी राह अख्तियार कर अल्लाह को हासिल करने का खाका खींचा है। ये खत उन्होंने अपने शिष्य काजी शमसुद्दीन को लिखे थे। खतों का यह संकलन जल्द ही मशहूर हो गया और कई भाषाओं में "शर्फुद्दीन मनेरी के सौ खत" के नाम से प्रकाशित हुआ। 1368 ई० में उनके एक शिष्य ने 21 वर्षों के दौरान शर्फुद्दीन मनेरी के द्वारा लोगों को दिये गये जबाव की शक्ल में लिखी हुई चिट्ठियों को जमा कर लिया जो आज "अल्लाह की तलाश में: मनेरी के 150 खतों का संकलन" नाम से उपलब्ध है। एक खत की बानगी देखिये-

''आप से जुदायी में कुछ मजा ही और है, आपकी मौजूदगी तानाशाही लगती है

मजा बेहतर है, क्योंकि आपकी तानाशाही सहने की औकात नहीं है हमारी।

\+ + +

अगर आप हमारा इस्तकबाल करते हैं, तो हम आपके जरिये अपनाये हुए हैं

अगर ऐसा नहीं है, तब भी हम आपके ठुकराये हुए खिदमतगार हैं

हम क्या करें परवाह कि आपने हमें ठुकराया या अपनाया

मेरा काम तो हरहाल में बस यही है कि मैं आपमें मशगूल रहूँ।'' 53वाँ खत (शर्फुद्दीन मनेरी: सौ खत से)

ज्योतिरीश्वर ठाकुर

—अखिलेश झा

गद्यलेखन साहित्यिक भाषा की प्रौढ़ावस्था का द्योतक होता है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का प्रथम गद्यलेखन बिहार में हुआ और वह भी प्रकीर्ण रूप में नहीं, प्रबन्धात्मक रूप में। कविशेखर ज्येतिरीश्वर ठाकुर ने मैथिली भाषा में गद्यलेखन की शुरुआत कर हिन्दीभाषामंडल की भाषाओं को नई पद्येतर विधाओं में लेखन की आदर्श व्यवस्था दे दी। दुर्भाग्यवश हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने ज्योतिरीश्वर की रचना वर्णरत्नाकर को हिन्दी का सर्वप्रथम गद्य भर मान लेने के अतिरिक्त उनके लेखन को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया है।

खैर, ज्योतिरीश्वर ठाकुर का जन्म बिहार में मिथिला में तेरहवीं शताब्दी के अंत में हुआ। संभवत: 1294 ई० में। मिथिला में तब तक मुस्लिम सुल्तानों के आक्रमण आरंभ नहीं हुए थे। तब वहाँ कर्णाट वंश का शासन था और ज्योतिरीश्वर उस वंश के अंतिम राजा हरिसिंहदेव के समकालीन थे। चौदहवीं सदी के दूसरे दशक में तुगलकों का पूर्वी भारत पर अभियान शुरू हुआ और उसी क्रम में हरिसिंहदेव को भी उनके हमलों का सामना करना पड़ा। इन हमलों में मिथिला से कर्णाटवंश का शासन समाप्त हो गया और कुछ वर्षों तक कर्णाटवंशियों ने नेपाल से अपना शासन चलाया। लगभग तीन दशक तक मिथिला में अराजकता की स्थिति बनी रही और फिर ओइनवार वंश के राजाओं ने शासन की बागडोर संभाली। इसी अराजकता के दौर में लगभग 1348 ई० में ज्योतिरीश्वर का भी देहान्त हो गया, पर तब तक विद्यापति का जन्म हो गया था जो उनकी कारयित्री प्रतिभा की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखनेवाले थे।

न सिर्फ गद्यलेखन की दृष्टि से, अपितु कई दृष्टियों से ज्योतिरीश्वर पुरोधा रचनाकार थे। विश्व सभ्यता के उपलब्ध वाङ्मय में आरंभिक एवं अधिकांश उदाहरण धार्मिक लेखन के मिलते हैं। भारत बहुत हद तक इस प्रवृत्ति का अपवाद रहा है और बिहार में भी आदिकाल से ही धर्मनिरपेक्ष लेखन की प्रवृत्ति ही प्रबल रही है। ज्येतिरीश्वर भी उसी समृद्ध प्रवृत्ति की एक सशक्त कड़ी है। विषय के साथ-साथ लेखन के माध्यम में भी बिहार का लेखन अपने समकालीन अन्य समूह से अधिक प्रगतिशील रहा है। साहित्य में संस्कृत के साथ-साथ लोकभाषाओं के प्रयोग में यहाँ के लेखन ने पथप्रदर्शक का काम किया है। साहित्यिक पालि-प्राकृत की जन्मभूमि ही बिहार है और अपभ्रंश के प्रयोग में भी यहाँ के कवियों ने प्रगतिशीलता दिखाई। सिद्धों-नाथों का बहुत बड़ा साहित्य बिहार में ही लिखा गया।

इसी क्रम में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अवहट्ठ और मैथिली का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग कर एक आदर्श उपस्थित किया। ज्योतिरीश्वर संस्कृत के भी प्रकांड विद्वान थे, पर लोक के प्रति उनके आग्रह ने लोकभाषा को शास्त्रीय भाषा पर वरीयता दे दी। ज्योतिरीश्वर की पहली रचना 'धूर्तसमागम' है जो कि एक प्रहसन (नाटक का एक प्रकार) है। आज भी यह नाटक रंगकर्मियों के बीच उतना ही लोकप्रिय है, जितना सदियों पहले था। मूलत: इस प्रहसन की रचना ज्योतिरीश्वर ने संस्कृत-प्राकृत में की थी, पर इसकी लोकप्रियता को देखते हुए उन्होंने उसे स्वयं ही मैथिली में भी अनूदित कर दिया था। इस दृष्टि से किसी लोकभाषा में लिखित नाटक का यह संभवत: पहला उदाहरण था। एक और दृष्टि से यह अनुपम प्रयोग था कि किसी नाटककार ने स्वयं अपने नाटक का अनुवाद संस्कृत से लोकभाषा में किया था। इस प्रकार ज्योतिरीश्वर आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के न सिर्फ पहले गद्यकार एवं नाटककार थे, बल्कि पहले अनुवादक भी स्थापित होते हैं। इस नाटक के मैथिली अनुवाद में

मैथिली के गीत भी थे। ये गीत मूल संस्कृत श्लोकों के पद्यानुवाद हैं। इन गीतों में विद्यापति की शैली की पूर्वपीठिका नजर आती है। ये गीत मैथिली में उपलब्ध सबसे प्राचीन गीत माने जा सकते हैं। 'धूर्तसमागम' का रंगमंचीय एवं उसका काव्यात्मक सौन्दर्य इतना प्रबल था कि उसका अनुवाद उन्नीसवीं सदी में ही लैटिन जैसी भाषाओं में होने लगा था।

ज्योतिरीश्वर की दूसरी रचना है 'वर्णरत्नाकर' जो मैथिली में लिखी गई थी। 'वर्णरत्नाकर' आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में गद्य में लिखित पहली रचना होने के कारण तो महत्त्वपूर्ण है ही, अपनी अद्भुत शैली के कारण भी विद्वज्जनों के बीच चर्चा का विषय रहा है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि ज्योतिरीश्वर के बाद लगभग एक सदी के बाद किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में गद्यलेखन हुआ। इस ग्रंथ में आठ अध्याय हैं, जिन्हें कल्लोल की संज्ञा दी गई है। प्रत्येक कल्लोल का एक मुख्य विषय है और फिर उस विषय से सम्बद्ध विवरण है। इस विवरण में कहीं आधुनिक थेसॉरस की झलक मिलती है, तो कहीं वर्णनात्मक शैली का प्रयोग मिलता है।

ग्रंथ की शैली से लगता है कि ग्रंथकार ने इसकी रचना लेखकों के मार्गदर्शन के लिए की है। किसी विषय की प्रस्तुति के लिए किस तरह के साहित्यिक शब्द का प्रयोग किए जाएँ, उन प्रयोगों के लिए बिम्ब-विधानों में किस तरह के विकल्प उपलब्ध हैं, अलंकारों के कौन से विकल्प उपलब्ध हैं, उन सबके विवरण विभिन्न कल्लोल में विषयानुरूप उपलब्ध हैं। साहित्यिक लेखन के लिए आवश्यक सामग्री का संकलन इस ग्रंथ का प्रमुख उद्देश्य माना जा सकता है। यह सोच ही अपने-आपमें साहित्यिक जगत में अनुपम है।

वर्णरत्नाकर के आठ कल्लोलों के विषय क्रमशः इस प्रकार हैं- नगरवर्णन, नायिकावर्णन, आस्थानवर्णन, ऋतुवर्णन, प्रयाणकवर्णन, भट्टादिवर्णन, श्मशानवर्णन एवं राज्यवर्णन। इस विषय-सूची से एक स्थूल अनुमान लगाया जा सकता है कि ज्योतिरीश्वर ने मैथिली भाषा में लेखन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से एक दिशानिर्देशक ग्रंथ के रूप में इस ग्रंथ की रचना की थी।

इस ग्रंथ का सांगोपांग अध्ययन करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्योतिरीश्वर एक अद्भुत मेधासम्पन्न व्यक्ति थे। छंद-रस-अलंकार आदि की उनकी गुणज्ञता तो धूर्तसमागम से प्रकट हो गई थी, परन्तु गीत-नृत्य-संगीत के शास्त्रीय ज्ञान, राजनीतिशास्त्र पर उनकी पकड़ अर्थशास्त्र का गंभीर ज्ञान एवं लोक के प्रति उनकी गंभीर संवेदना का सम्यक् ज्ञान वर्णरत्नाकार को पढ़कर ही होता है। रागों की बारीकियों पर उनकी टिप्पणियाँ निश्चित रूप से संगीत के विशेषज्ञों के लिए शोध का विषय है। इसी तरह नृत्य की मुद्राओं एवं भंगिमाओं तथा सहायक वाद्ययंत्रों पर उनकी टिप्पणियाँ भी अद्भुत हैं। इन वर्णनों से एक और बात ध्वनित होती है कि उस समय मिथिला एवं बिहार में संगीत आदि की सुरूचिपूर्ण गतिविधियाँ लोकजीवन में रची-बसी थीं।

वर्णरत्नाकर कई विषयों के लिए संदर्भ ग्रंथ के रूप में सामने आया। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह ग्रंथ समकालीन समाज, राजनीतिक व्यवस्था, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, लोकजीवन एवं साहित्यिक गतिविधियों का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देता है। मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन में टूटी एवं अबूझ कड़ियों को जोड़ने में इस ग्रंथ की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है। इस दिशा में कुछ काम हुए हैं, पर अभी और गंभीर प्रयास किए जाने की संभावना बचती है।

साहित्येतिहास लेखन में भी वर्णरत्नाकार की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के तौर पर चौरासी सिद्धों की प्रामाणिक सूची इस ग्रंथ में सातवें कल्लोल में मिलती हैं। यह सातवाँ कल्लोल या

अध्याय बहुत कारणों से बड़ा रोचक बन पड़ा है। पहली बार किसी पुस्तक में श्मशान को विषय बनाकर कुछ वर्णन एवं विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। श्मशान का दृश्य कैसे रूपायित करना चाहिए, इस वर्णन में उपयुक्त शब्दावली क्या होनी चाहिए, श्मशान से सम्बद्ध देवता कौन-कौन हैं- इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन इसमें मिलता है।

इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिरीश्वर ने तीन और ग्रंथों की रचना की- 'पंचसायक', 'रंगशेखर और 'रति रहस्य'। ये तीनों ही ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए थे। ये तीनों ही ग्रंथ कामशास्त्र पर आधारित हैं। इनमें अंतिम दो ग्रंथों का संदर्भोल्लेख भर मिलता है, पांडुलिपियाँ प्राप्त नहीं हो पाई हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ज्योतिरीश्वर ठाकुर के साहित्यिक अवदान के साथ-साथ बिहार के इतिहास लेखन में उनके वर्णरत्नाकर की भूमिका को गंभीरता से लेने की आवश्यकता है।

हरिसिंहदेव

–सुनील झा

1307 ई० में हरिसिंहदेव मिथिला की राजगद्दी पर बैठे थे। वे मिथिला में कर्णाट वंश के अंतिम महान राजा थे। हरिसिंहदेव के सामाजिक और धार्मिक सुधारों से मिथिला में सामाजिक क्रांति आ गई। इसलिए कहा जाता है कि हरिसिंहदेव कर्णाट वंश के संस्थापक नान्यदेव से भी प्रसिद्धि के मामले में आगे निकल गये।

हरिसिंहदेव का जन्म 1294 ई० में हुआ था, यानी मात्र 13 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गद्दी संभाली थी। समसामयिक अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि हरिसिंहदेव ने मिथिला की सामाजिक पद्धति को पूरी तरह पलट कर रख दिया। जिसका उल्लेख पंजीप्रबंध में देखने को मिलता है। देवादित्य, वीरेश्वर और चंडेश्वर उनके खासम-खास थे जिन्होंने हरिसिंहदेव की कार्य योजनाओं को जमीन पर उतारा और मूर्तरूप दिया।

हरिसिंहदेव के समय में मिथिला की सामाजिकता एक ऐसे मजबूत पाये पर खड़ी की गई जो उसे आज तक ढो रही है। अच्छी या बुरी, पुरातन पंथी या रूढ़िवादी या जो कुछ भी आप कह लें, पर हरिसिंहदेव की बनाई सामाजिक पद्धति आज भी कायम है, अटल है और मिथिलाचंल के लोग उसपर चले जा रहे है। सात सौ वर्ष हो गये पर 'ना चांडालगामिनी' शपथ को लेकर एक ऐसी विचित्र घटना घटी जो बाद में जाकर हरिसिंहदेव के समाज पद्धति का मूल आधार बनी साथ ही मिथिलांचल के ब्राह्मण और कायस्थ जातियों के जीवन को जीने का और उसे व्यवस्थित करने का भी आधार बना। 'ना चांडालगामिनी' अर्थात अपने संबंधों में गमन करने वाला या उससे संतान उत्पन्न करने वाला दोनों ही चंडाल हैं। इसी मर्यादा के रक्षार्थ महाराजा हरिसिंहदेव ने पंजी व्यवस्था या पंजी प्रथा की शुरुआत की। इस प्रथा ने संबंधों को ढूँढ़ने में सहायता की और मिथिला के ब्राह्मण व कायस्थ जैसे कुलीन जातियों के मूल-गोत्र को संकलित करने का कार्य किया।

''असपिण्डा च या मातु रसगोत्रा या पितु:।

सा प्रशस्ता द्विजातोना दारकर्मणि मैथुने।।''

''मातृत: पंचमं व्यक्तवा पितृत: सप्तमं भजेत्।''

यानी मातृपक्ष का असपिण्ड सात पीढ़ियों से ऊपर और पितृपक्ष में अपने गोत्र से भिन्न असपिंड कहलाते है। उन्हीं में विवाह हो सकता है। अपने इसी विचार को मूर्त रूप देने के लिए राजा हरिसिंहदेव ने सोच-विचारकर एक यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में आए अनेकानेक लोगों में से 26 को उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मण का दर्जा दिया। इन 26 को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया जो - श्रोत्रिय, योग्य, पंजीबद्ध और जयबार (गृहस्थ) कहलाये। इस समाजिक पद्धति का प्रचार विशेषत: मैथिल ब्राह्मणों और कायस्थों में हुआ। हरिसिंहदेव की इच्छा थी की श्रोत्रिय और योग्य श्रेणी के ब्राह्मण यदि कर्मच्युत होंगे तो निम्न श्रेणी में आ जायेंगे और निम्न श्रेणी वाले भी अपने कर्म से उच्च श्रेणी को प्राप्त करेंगे। इससे देश में विद्या, बुद्धि और कर्म को बढ़ावा मिलेगा, पर ऐसा हुआ नहीं। हरिसिंहदेव की व्यवस्था अब अपने मूल रूप में नहीं है, तथापि वह किसी न किसी रूप में मिथिलांचल के समाज में विद्यमान है।

अपने समान की श्रेणी के वंश में संबंध करने से संतान समश्रेणी की और छोटे कुल में संबंध होने से वंशज निम्न श्रेणी का हो जाता है। पर उच्च श्रेणी में पँहुचने के लिए कई पीढ़ियों तक उच्च कुल का संबंध आवश्यक हो जाता है। यह नियम सदियों से चला आ रहा है। बहुत से लोगों द्वारा प्राचीन कुलीनों के यहाँ कुछ पीढ़ियों तक संबंध करने से नये कुलीन बने और उसके प्रवर्तक प्रधान व्यक्ति के नाम से या उस ग्राम के नाम से नई पंजी कायम हुई। प्राचीन कुलीनों की संतानें तो अपने पूर्वजों के नाम से ही प्रसिद्ध थीं और वही उनकी पंजी कायम हुई। उन्होंने अपनी कुलीनता का मूल्य लेना शुरू किया जो मिथिला के समाज पर एक अभिशाप के रूप में कायम हुआ। इससे बुरे परिणाम निकले।

विद्यापति

–अखिलेश झा

पूर्वी भारत की साहित्यिक अस्मिता में विद्यापति के महत्त्व को उसी तरह समझा जा सकता है, जैसे बाँग्ला साहित्य की अस्मिता में कविगुरु गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का महत्त्व है। विद्यापति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मध्यकाल में होकर भी मध्यकालीन प्रवृत्तियों से वे असंपृक्त रहे और मिथिला के बौद्धिक पुनर्जागरण के पुरोधा बने। विद्यापति के समय में मिथिला एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में था। मिथिला में अभी-अभी एक दक्षिण भारतीय कर्णाट राजवंश का शासनकाल लगभग सवा दो सौ साल के शासन के बाद समाप्त हो रहा था, इस्लाम और मुस्लिम शासकों से मिथिला का पहला साक्षात्कार हो रहा था और मिथिला के बौद्ध केन्द्र भी क्षरित हो रहे थे।

अभी-अभी हिन्दी-भाषा-मंडल का पहला गद्य वर्णरत्नाकर के रूप में बिहार में ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा लिखा गया था। साहित्य-सर्जना की भाषा संस्कृत के समक्ष विद्यापति का निवेदन भी हो चला था– ''देसिल बयना सब जन मिट्ठा''- पूर्वी भारत के लोक को नए गीत मिलनेवाले थे, बिहार सांस्कृतिक आंदोलन में आलोड़न हो रहा था।

विद्यापति भारत के एक-चौथाई हिस्से के सबसे लोकप्रिय कवि हैं और सदियों से हैं। थे तो वे मिथिला के, पर उनकी लोकप्रियता क्या बंगाल, क्या उड़ीसा और क्या असम सबमें उतनी ही थी। सबका इतना अनुराग कि सब उन्हें अपने-अपने राज्य का कवि सिद्ध करने के साक्ष्य तक ढूँढ़ते रहते हैं। यह विवाद रुका तब, जब प्रसिद्ध विद्वान सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने 1881 में मैथिल पंजी प्रबंध का अनुसंधान कर मैथिल क्रिस्टोमेथी ग्रंथ लिखा और उसमें विद्यापति की वंशावली दी, जिसमें उनसे पीछे की सात पीढ़ी और आगे की बारह पीढ़ी का विवरण प्रस्तुत किया गया।

बंगाल के प्रसिद्ध कवि चंडीदास विद्यापति के समकालीन थे और उन्होंने विद्यापति के पदों की पंक्तियों को अपने कई पदों का आधार बनाया था। अनुश्रुति है कि इन दोनों कवियों की मुलाकात भी हुई थी। चैतन्य महाप्रभु की भावनाओं के स्फुरण को शब्दों का आश्रय भी सर्वप्रथम विद्यापति के पदों से ही मिला। उन्होंने विद्यापति-रचित राधा- कृष्णविषयक शृंगारप्रधान पदों को भक्ति के पदों के रूप में ग्रहण किया। इन भक्त कवियों के माध्यम के अलावा मिथिला आकर शास्त्रों का अध्ययन करने वाले बंगाल, उड़ीसा के छात्र और विद्वान भी विद्यापति के पदों को लेकर अपने-अपने लोकजीवन में उनके प्रचारक बने। तभी तो वहाँ के राधामोहन ठाकुर के पदामृतसमुद्र में, दीनबंधुदास के संकीर्तनामृत में, वैष्णवदास के पदकल्पतरू में और विश्वनाथ चक्रवर्ती के क्षणदागीतचिन्तामणि जैसी पदावलियों में विद्यापति के सैकड़ों पद संकलित हैं।

विद्यापति के कितने ही पद कालक्रम में बाँग्ला में अनूदित होकर वहाँ के लोककंठ में वैसे ही बस गए हैं, जैसे वे बिहार के लोकजीवन में बसे हुए हैं। कालान्तर में मिथिला के विद्वान भी राज्याश्रय पाकर अथवा वहाँ के विद्यापीठों से आग्रह होने पर बंगाल के विभिन्न भागों में बँटने लगे। इससे भी विद्यापति के पद बंगाल और पूर्वी भारत के अलग-अलग कोने में प्रचलित हो गए। असम के प्रसिद्ध कवि शंकरदेव और उड़ीसा के कवि राय समानंद पर भी विद्यापति के पदों का व्यापक प्रभाव पड़ा। इन प्रदेशों की लोकसंस्कृति पर विद्यापति की ऐसी अमिट छाप पड़ी कि आज भी इन प्रदेशों में विद्यापतिपर्व समारोह बड़े उत्साह से मनाए जाते हैं। नेपाल में भी विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय हैं।

सच तो यह है कि नेपाल का भारत से सटा बहुत बड़ा हिस्सा मिथिला की सांस्कृतिक पहचान से अभिन्न है और उसकी भाषा भी मैथिली ही है।

विद्यापति के लोककंठ पर व्यापक प्रभाव को अबुल फजल ने भी अनुभूत किया और शिववंदना के नचारी पदों की प्रसिद्धि की बात अपने आइने-अकबरी में लिखी है। उसने नचारी के स्थान पर भ्रमवश लचारी शब्द का प्रयोग किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि कविता के सुकोमल भाव का संज्ञान उन्हें पहली बार विद्यापति के पदों से ही हुआ। अरविन्द घोष को विद्यापति के पदों को बाँग्ला से अँग्रेजी में अनूदित कर तोष होता रहा।

विद्यापति का जन्म वैदिक-औपनिषदिक चिंतन की भूमि मिथिला में 1360 ई० में हुआ। यह समय मिथिला के इतिहास में यूरोपीय मानदंडों के अनुसार पुनर्जागरण के दौर-सा था। कला, भाषा, साहित्य, न्याय, संगीत, नाट्य आदि सब क्षेत्रों में पुराने मानदंड टूट रहे थे और नए संस्कार स्वरूप ग्रहण कर रहे थे। विद्यापति इन सभी क्षेत्रों में अपनी पकड़ रखते थे और इनके मानदंडों के प्रवर्तकों में विद्यापति पुरोधा थे। विद्यापति ने पुनर्जागरण के इस दौर में जो सबसे बड़ा काम किया, वह किया कि भक्ति को कर्मकांड के गढ़ में बिना शोर-शराबे के प्रतिष्ठित कर दिया। वाजसनेय की भूमि में भक्ति की बयार कब बहने लगी, यह मिथिलावासियों को पता भी नहीं चला। यह अलग बात है कि यह भक्ति की बयार मिथिला से निकलकर बंगाल, उड़ीसा और असम में ही अधिक बही।

विद्यापति ने वर्षकृत्य जैसे ग्रंथ का संपादन किया और गयापत्तलक भी लिखा, पर उनकी प्रवृत्ति तो भक्ति में ही थी। इसकी पुष्टि उनके लोकप्रसिद्ध मृत्यु-प्रसंग से भी होती है, जिसके अनुसार उनके अशक्त हो जाने पर और गंगातट पर पहुँचने में असमर्थ हो जाने पर गंगा उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर उनके पास आ गई थीं। विद्यापति की मृत्यु 1448 ई० में हुई थी। शिव का भृत्य रूप लेकर उगना के रूप में विद्यापति के पास आने की अनुश्रुति भी उनके भक्त-चरित्र का ही प्रमाण है। विद्यापति के प्रगतिशील होने का कारण उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि में भी था। वे बस एक दरबारी कवि नहीं थे। साहित्यिक परिवेश और राजकीय दायित्व उन्हें परंपरा से मिले थे। राजकीय जिम्मेदारियाँ होते हुए और संस्कृत के पंडित होते हुए भी उनमें लोक के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बहुत संभव है कि पुरुष-परीक्षा की कुछ कहानियाँ तंत्रस्थ लोक परंपरा से पोषित कहानियाँ हों। इस पूरे परिवेश एवं परंपरा से परिपुष्ट हैं पुरूष-परीक्षा की कहानियाँ। मध्यकाल में जबसे मिथिला कर्णाटों के नेतृत्व में पुनः एक संगठित राजनीतिक इकाई के रूप में उभरी, तभी से उस राज्य का राजनय का सारा दारोमदार विद्यापति के परिवार पर ही रहा। लगभग चार सदी तक इनके परिवार के लोग ही मिथिला के राजनय की धूरी बने रहे। वंश बदले, राजा बदले, पर राजनयिक की वंश-परंपरा नहीं बदली। हरादित्य-कर्मादित्य से लेकर चंडेश्वर तक विद्यापति के पूर्वज तिरहुत राज्य के महासान्धिविग्रहिक, पर्णागारिक, महावार्तिक नैबन्धिक, महामत्तक, भाण्डागारिक, स्थानान्तरिक, मुद्राहस्तक, राजवल्लभ आदि सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन रहे थे।

इनके पूर्वज प्रभावशाली राजनयिक तो थे ही, वे शास्त्र में भी पारंगत थे। उनके पूर्वजों ने भी साहित्यिक लेखन के साथ-साथ दर्शन, कर्मकांड, राजनय आदि पर प्रामाणिक ग्रंथ लिखकर विद्धत् समाज में भी अपनी अच्छी प्रतिष्ठा बनाई हुई थी।

इस पृष्ठभूमि के कारण ही विद्यापति के लेखन का कैनवास अभिजात है और गोपन-दमन की वर्जनाओं से भी मुक्त है। इस पृष्ठभूमि ने विद्यापति में वह इतिहास-दृष्टि भी पैदा की, जिसके कारण उनकी रचनाएँ विशुद्ध साहित्यिक होते हुए भी यथाप्रसंग इतिहास के प्रामाणिक स्रोत के रूप में काम आती है। चूँकि विद्यापति के परिवार का ओइनवार राजवंश के साथ अनौपचारिक संबंध होता गया,

इसलिए विद्यापति का समय आते-आते वे अपने राजा के मित्रवत अधिक हो गए थे और सभासद् कम। वे राजा शिवसिंह के बालसखा थे और उनके युद्धक्षेत्र से लापता हो जाने के बाद उनकी पत्नी लखिमा देवी उनके संरक्षण में ही नेपाल में बारह वर्षों तक रहीं। इसी दौरान उन्होंने बनौली के राजा के आग्रह पर लिखनावली लिखी और श्रीमद्भागवत का अपनी हस्तलिपि में लिप्यंतरण किया। वे दरबार में रहनेवाले कवि नहीं थे, उन्हें राजकीय संरक्षण प्राप्त था, उन पर राजा को सलाह देने का दायित्व था, पर उनका अधिकांश समय अपने गाँव बिस्फी में ही बीतता था। विद्यापति ने ओइनवार वंश के मिथिला के राजाओं की चार पीढ़ियों के राजा-रानी के शासन में अपना योगदान किया।

संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ और मैथिली- सब पर विद्यापति का समान अधिकार था और सबके समुचित प्रयोग का भी अद्भुत विवेक था उनमें। और, यदि यह न होता, तो वे भी मध्यकाल के कई गुमनाम कवियों में सूचीबद्ध हो गए होते। उस समय तक अवहट्ठ ही लोक सम्पर्क की भाषा थी और साहित्यिक भाषा के रूप में भी स्वीकृत हो चुकी थी। इसीलिए विद्यापति ने अपनी रचना कीर्त्तिलता में लिखा कि संस्कृत विद्वज्जन की भाषा है और प्राकृत का मर्म सामान्य जन को नहीं पता चलता, इसलिए जो अवहट्ठ भाषा आम लोगों को मधुर लगती है, उसी अवहट्ठ का मैं आश्रय कर रहा हूँ-

सक्कअ वाणी बहुअण भावइ।

पाउअ रस को मम्म न पावइ।।

देसिल बयना सब जन मिट्ठा।

तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा।।

-कीर्त्तिलता, प्रथम पल्लव, चौपाई, पद-संख्या

अपभ्रंश में ही उन्होंने **कीर्त्तिपताका** की। **कीर्त्तिपताका** अपने युद्धवर्णन के लिए भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वर्तमान में जिसे हम **कीर्त्तिपताका** के नाम से एक पुरुष-परीक्षा ग्रंथ मानते हैं, वह वस्तुतः दो ग्रंथ हैं। उसका पहला भाग शृंगारप्रधान है और वह राजा शिवसिंह के प्रतिद्वंद्वी राय अर्जुन को समर्पित है। इस खंड का एक बड़ा हिस्सा अभी तक लुप्त है। उन्होंने इसे रसवाणी नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ माना है। वैसे अभी यह मंतव्य प्रमाणपुष्ट नहीं है। उत्तरांश में वीररस प्रधान है और वह उनके प्रिय आश्रयदाता शिवसिंह को समर्पित है। यह ग्रंथ **कीर्त्तिपताका** है। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत मिश्रित एक नाटक गोरक्षविजय की भी रचना की, जिसमें मैथिली गीतों का भी समावेश है। पर, अवहट्ठ एवं मैथिली में रागात्मक अभिव्यक्ति करने के बावजूद विद्यापति की रचनात्मकता सबसे अधिक मुखर हुई संस्कृत में।

संस्कृत में विविध विषयों पर उन्होंने ग्यारह ग्रंथों की रचना की- **भूपरिक्रमा, मणिमंजरी, पुरुष परीक्षा, विभासागर, वर्षकृत्य, शैवसर्वस्वसार, लिखानावली, गंगावाक्यावली, गयापत्तलक, दानवाक्यावली और दुर्गाभक्तितरंगिणी।** विद्यापति का लेखन के प्रति जो आग्रह दिखाई पड़ता है, उसकी पृष्ठभूमि में जो मनोभावना काम कर रही थी, उसका प्रकटीकरण **कीर्त्तिलता** में हुआ है। विद्यापति कहते हैं कि कीर्त्ति की लता तीनों लोकों में कैसे फैलेगी, यदि अक्षर-रूपी स्तम्भ से उसका मंडप नहीं सजाया जाएगा, अर्थात् लेखन से ही कीर्त्ति फैलती है।

तिहुअण खेत्तहिं कञि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ।

अक्खर खम्भारम्भ जइ मञ्चा बन्धि न देइ।।

-कीर्त्तिलता, प्रथम प्रल्लव, दोहा, पद-संख्या

इसलिए, विद्यापति ने लिखा और तमाम तरह के विषयों पर लिखा। गाथाकाव्यों, नाटकों आदि के अलावा उन्होंने यात्रा-वृत्तांत, दंडनीति, दायभाग, धर्मशास्त्र, कर्मकांड आदि सब विषयों पर लिखा। इसके अलावा, उन्होंने राजकार्य में अपनी विशेषज्ञता एवं राजनय से सम्बद्ध विषयों पर राजकीय प्रारूप-लेखन की सिद्धहस्तता को भी लिपिबद्ध किया लिखनावली के रूप में। यह अपने-आपमें एक अनूठा प्रयास था।

लगभग विद्यापति के समय ही मैथिली अवहट्ठ से अपना अलग स्वरूप बना रही थी। ये विद्यापति के हजारों श्रृंगार भक्ति एवं संस्कारों के गीत ही थे, जिन्होंने न तो सिर्फ मैथिली को लोकप्रिय बनाया, बल्कि मैथिली का आरंभिक स्वरूप भी निर्धारित किया। उनके पिता गणपति ठाकुर ने भी कुछ मैथिली में लिखे थे। विद्यापति के बाद उनके बड़े बेटे हरपति ठाकुर और उनकी विदुषी पत्नी चन्द्रकला ने भी मैथिली में पदों की रचना की। विद्यापति के सभी पद समबद्ध हैं। उनकी पदावली के नेपाल- संस्करण में तो हर पद के पहले सम्बद्ध राग का भी उल्लेख है। पदों का लालित्य और उनकी गेयता ने विद्यापति को राजा-महाराजा से लेकर संस्कारों के अवसर पर गीत गानेवाली बहुओं और मंदिर में अपनी भावना व्यक्त करनेवाले भक्तों का कंठहार बना दिया। यही नहीं, एक बार तो उन्होंने राजा शिवसिंह को तुगलक सल्तान नासिरूद्दिन महमूद की कैद से मुक्त करने के लिए उस सुल्तान को अपने पद गाकर प्रसन्न किया। उसी सुल्तान ने विद्यापति के पदों से प्रभावित होकर उन्हें कविशेखर की पदवी भी दी थी। विद्यापति रससिद्ध कवि थे और उनकी रससिद्धता सिर्फ श्रृंगार या भक्ति तक सीमित नहीं थी, जैसी कि आम धारणा है। उन्होंने सभी रसों में अपनी प्रवीणता प्रदर्शित की है।

विद्यापति के पदों के बिना मिथिला का लोकजीवन निष्प्राण है।

जय-जय भैरवि असुर भयाउनि, पशुपति भामिनि माया पद तो मिथिला के लोगों के लिए गायत्री मंत्र से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। **कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ, उगना रे मोर कतय गेलाह, माधव हम परिनाम निरासा** आदि पद मैथिली के मुख से अनायास निकलते देखे जा सकते हैं।

विद्यापति बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, उनकी दृष्टि व्यापक थी और देशहित एवं लोककल्याण का स्वर उनकी साहित्य-सर्जना में सबसे मुखर रहता था। वे निश्चय ही भारत के सार्वकालिक श्रेष्ठ साहित्यकारों की श्रेणी में अग्रपांक्तेय हैं।

शेरशाह सूरी

-प्रणव शाही

बिहार के महान हस्तियों की यह श्रृंखला सूरवंश के महान शासक शेरशाह सूरी को याद किये बगैर पूरी नहीं हो सकती। शेरशाह सूरी का जन्म बिहार में 1472 ई० में हुआ था। 1539 ई० में मुगल सम्राट हुमायूँ को हराकर दिल्ली दरबार पर उन्होंने फिर से एक बार अफगानों के शासन का परचम लहरा दिया था। शेरशाह सूरी ने भारत में मुस्लिम पुनर्जागरण में भी अपनी अहम् भूमिका निभाई थी। और उनकी प्रजा उन्हें एक महान शासक मानती थी। जन्म के समय शेरशाह का नाम फरीद खान रखा गया था। फरीद के पिता हसन खान बिहार में अवस्थित सासाराम के जागीरदार थे। हसन खान की कई पत्नियाँ थीं और उनकी दूसरी पत्नी का उनपर सबसे ज्यादा दबदबा था। सौतेली माँ के बुरे व्यवहार से क्षुब्ध होकर फरीद 22 वर्ष की उम्र में ही अपना घर छोड़ जौनपुर चले गए थे। फरीद अत्यन्त ही प्रखर बुद्धि वाले समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी पढ़ाई तन्मयता से पूरी की और कुछ ही दिनों में अरबी और फारसी साहित्य के अच्छे जानकार हो गए। अत्यन्त प्रखर बुद्धि का होने के कारण उनके शिक्षक उनका सम्मान किया करते थे। उसी दौरान उनकी मुलाकात जौनपुर के गवर्नर जमाल खान से हुई। जमाल खान के हस्तक्षेप से फरीद और उनके पिता के संबधों में थोड़ा सुधार हुआ और वे सासाराम जाने को राज़ी हो गए।

सासाराम आने के बाद उन्होंने 21 वर्षों तक अपने पिता के जागीरदारी की सफलतापूर्वक देखभाल की। इस दौरान उनकी शोहरत एक सच्चे और काबिल शासक के रूप में स्थापित हुई। बाद के दिनों में शेरशाह शासकीय प्रणाली के बढ़िया जानकार के रूप में स्थापित हुए। उनकी बनायी गयी प्रणाली को आज भी इस्तेमाल किया जाता है। इसी बीच अपनी सौतेली माँ के कटु व्यवहार से दु:खी और परेशान होकर फिर से सासाराम छोड़कर फरीद आगरा चले गए। पिता की मृत्यु के बाद फरीद ने अपनी पैतृक जागीरदारी का भार फिर से सम्भाला। 1522 ई० में बिहार के गर्वनर बहार खान के यहाँ फरीद खान ने नौकरी की। बहार खान फरीद खान की सच्चाई, कर्त्तव्यपरायणता और बहादुरी से अति प्रसन्न हुए। इसी बीच शिकार के दौरान फरीद ने अपने बहादुरी का परिचय देते हुए अकेले ही एक शेर को मार डाला। बहार खान ने फरीद की बहादुरी का सम्मान करते हुये उन्हें शेरखान की उपाधि से नवाजा और उन्हें बिहार का डिप्टी गर्वनर नियुक्त किया। साथ ही वे बहार खान के लड़के के अभिभावक और शिक्षक भी बन गए।

शेरखान की तरक्की से ईर्ष्या करने वाले उनके दुश्मनों ने उनके मालिक के कान भरे और उनके पिता की जागीर से उन्हें बेदखल करवा दिया। शेरखान ने तब बाबर के खेमे से अपने आप को जोड़ लिया और अप्रैल 1527 से जून 1528 तक उनके साथ रहे। थोड़े दिन बाद ही वे मुगलों को छोड़ कर वापस अपने पुराने काम पर लौट आये। वे एक बार फिर जलाल खान के अभिभावक बने और जलाल खान के नबालिग होने के कारण शेरखान ने ही पूरे बिहार का राजपाट सम्भाल लिया।

1531 ई० में जब हिन्दुस्तान के बादशाह हुमायूँ थे तब शेरखान ने अपनी आजादी की घोषणा कर दी। लोहानी अफगान और जलाल खान शेरखान के बढ़ते प्रभाव से घबरा गए। बंगाल के राजा मुहम्मद शाह के साथ मिलकर एक साजिश रची गई, लेकिन 1534 ई० में कियूल नदी के पास शेरखान ने बंगाल के राजा को हराया। कुछ ही समय बाद बंगाल के ऊपर उन्होंने हमला किया तब मुहम्मद शाह ने

काफी सारा पैसा और कियूल से सकरी गली तक का राज्य शेर खान को दे दिया। उसके बाद वे बिहार और बंगाल के स्वतंत्र शासक बने। अक्टूबर 1539 ई० में शेर खान ने बंगाल के ऊपर फिर से हमला किया और गौर शहर को चारों ओर से घेर लिया। हुमायूँ ने अफगानों की ताकत को महसूस किया और चल पड़े शेरखान को ललकारने। हुमायूँ ने दिसम्बर 1537 ई० में चुनार को घेर लिया। छ: महीने तक लगातार शेरशाह के बहादुर सैनिक हुमायूँ की सेना को चुनौती देते रहे। इस बीच वक्त मिलने के कारण अप्रैल 1538 ई० तक गौर पर पूरी तरह उनका कब्जा हो गया।

1539 ई० में जब हुमायूँ बंगाल की ओर बढ़े तो शेर खान ने चतुराई से मुगलों के बिहार और जौनपुर पर कब्जा कर लिया। अंतत: शेरखान 1539 ई० में हुमायूँ को चौसा में हराने में सफल हुए। एक बार फिर 1540 ई० में उन्होंने हुमायूँ को कन्नौज में हराया और चल पड़े दिल्ली और आगरा की ओर कब्जा करने। शेरशाह ने दिल्ली पर एक बार फिर अफगानों का झंडा लहराया।

हुमायूँ की हार के बाद 1541 में शेरशाह ने दिल्ली में किला का निर्माण पूरा करवाया और बाद में उसका नाम शेरगढ़ रखा। शेरशाह ने सुदूर झेलम के पास एक विशाल किला बनवाया जिसका नाम रोहतास गढ़ रखा जिसमें पचास हजार सैनिक रखे जा सकते थे। पश्चिमोत्तर भारत में रोहतासगढ़ बिहार का प्रतीक बन गया। शेरशाह सूरी एक ऐसे महान बिहारी शासक थे जिन्हें याद कर हम बिहारियों का सीना गर्व से फूल जाता है। उन्होंने अपने शासन के दौरान पहली बार उत्तर और दक्षिण बिहार को मिलाकर आज के बिहार की परिकल्पना पूरी की थी। शेरशाह ने अपने शासन काल के दौरान पेशावर से कलकत्ता तक सड़क-ए-आजम का निर्माण किया जिसे बाद में ग्रैंड-ट्रंक रोड के नाम से जाना गया। इसे आज भी शेरशाह सूरी मार्ग कहा जाता है। पेशावर और कलकत्ता के बीच 1700 विश्राम-गृहों का निर्माण किया गया जिसमें यात्रियों के लिए खाने-पीने और रहने का उत्तम प्रबंध हुआ करता था।

शेरशाह के ही कार्यकाल में सबसे पहले भूमि विवरणी की प्रणाली की शुरुआत की गई। भूमि-सर्वेक्षण के पश्चात जमीन को बीघा में नापा गया एवं किसान और जागीरदार के बीच जमीन के उपज की क्षमता के अनुसार कर देने की व्यवस्था की गई। अफगानी शिल्प और कला का एक बेहतरीन और खूबसूरत नमूना है बिहार के सासाराम में बना शेरशाह का खुद का मकबरा। कनिंघम ने इस खूबसूरत इमारत को ताजमहल से भी बेहतर बताया है। आज भी इसे हजारों की संख्या में देखकर लोग बिहार के महान सपूत को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

पटनासिटी में स्थित शेरशाह के किले का अवशेष आज के जालान संग्रहालय के नीचे अवस्थित है जिसे गंगा की ओर से देखा जा सकता है। पटनासिटी में ही दक्षिण-पश्चिमी कोने में स्थित है शेरशाह की मस्जिद, जो पटना की सबसे बड़ी मस्जिद है। इसे शेरशाह के शासन काल की याद में वर्ष 1540-1545 में बनवाया गया था और यह मुगल-अफगानी भवन-निर्माण शैली का एक अद्‌भुत नमूना है।

गुरुगोविंद सिंह

–प्रोú बीú बीú शर्मा

गोविंदराय उस पटनिया बालक का नाम है जो आगे चलकर सिक्खों का दसवाँ और अंतिम गुरु बनेगा। माँ गूजरी के गर्भ से सन् 1666 में एक तेजस्वी नवजात हुआ। पटना में ही सूफी संत भीखन रहा करते थे। भीखनापहाड़ी मुहल्ला आज भी है। गुरु तेगबहादुर अपनी भार्या गूजरी को पटना में छोड़कर आसाम की तरफ चले गये थे।

सिक्ख संतों की भावधारा बिहार, उत्कल, बंगाल, आसाम तक फैली थी। गुरुनानक गया, राजगीर, पटना इत्यादि स्थानों पर सत्संग और उपदेश करते भ्रमणशील रहे थे। जाहिर है डेढ़ सौ वर्षों बाद पटना में शिष्यों (सिक्खों) की भी भरमार रही होगी तभी तो मुस्लिम आतताइयों के युग में भी माँ गूजरी पटना में पाँच वर्षों तक गोविंदराय का पालन-पोषण और शिक्षण करती रही। यह इतिहास का विचित्र संयोग है कि एकतरफ सुदूर महाराष्ट्र में ठीक उनचालिस वर्ष पहले माता जीजाबाई शिवाजी को ऐतिहासिक कार्रवाई के लिए तैयार कर रही थी तो दूसरी तरफ पटना में गूजरी बाई गोविंदराय को वैसी ही कार्रवाई के लिए संकल्पमान कर रही थी।

गुरु तेगबहादुर की संतान, सिक्ख परंपरा का तेजस्वी बालक है- यह बात सूफी संत भीखन तक पहुँची। सिक्खधारा हिंदू-मुस्लिम एकता की मिसाल थी। सूफी और संतों की वाणी में फर्क करना मुश्किल था। माँ गूजरी ने जब गोविंदराय को सूफीसंत भीखन के आशीर्वाद का प्रार्थी बताया तो सूफी संत ने भविष्यवाणी की यह सूर्य जैसा तेजस्वी, वायु जैसा गतिमान और गंगा जैसा पवित्र होगा। गोविंदराय का भावी जीवन इस आशीर्वाद का प्रमाण बन गया। गोविंदराय ने पाँच वर्षों में ही मगध के इतिहास का सम्पूर्ण व्यक्तित्व धारण कर लिया। ज्ञान, कर्म और भाव का सम्पूर्ण समन्वय, आत्मबलिदान का अतुलनीय उदाहरण, साहस, वीरता, और स्वाभिमान का अप्रतिम स्वरूप। गोविंदराय कवि, भाषाविद् और रचनाकार भी बने। जो मगही सीखी वह कभी भूली नहीं, बंगला भी जानते रहे, गुरुमुखी भी पटना में ही सीखी।

बचपन में ही उनमें अलौकिकता दिखायी देती थी। बालसखाओं की सेना बनाकर तथा स्वयं सेनापति बनकर उन्हें युद्ध करना सिखाते थे। एकदिन वे कुछ बालकों के साथ खेल रहे थे, उसी समय पटने के नवाब की सवारी निकली। चोबदार ने कहा- "बच्चों नवाब साहब आ रहे हैं। खड़े हो जाओ, सलाम करो और सिर झुकाओ।" बालकों के सरदार गोविंदराय ने कहा- "खड़े मत हो, सलाम मत करो, सिर मत झुकाओ।"

कश्मीरी पंडितों को औरंगजेब ने जब मुसलमान बनाना चाहा, तो सब मिलकर गुरु तेगबहादुर के पास आनन्दपुर गये और उन्हें अपनी करूण कहानी सुनायी। उनकी बातों से गुरु तेगबहादुर मौन, उदास और दुखी हो गये। उसी समय नौवर्षीय गोविंदराय उनके पास आये। उन्होंने पिता से उनकी उदासी का कारण पूछा। पिता ने बताया, "कश्मीरी पंडितों पर घोर संकट है। औरंगजेब उन्हें मुसलमान बनाना चाहता है।" गोविंदराय ने पूछा- "इससे बचने का उपाय क्या है?" गुरु तेगबहादुर ने उत्तर दिया- औरंगजेब की प्रचंड द्वेषाग्नि में किसी महान धर्मात्मा की आहुति ही इससे बचने का उपाय है। गोविंदराय तुरंत बोल उठे- "आपसे बढ़कर कौन धर्मात्मा भारतवर्ष में होगा? आप ही उस अग्नि की आहुति बनिये।'' हर्षातिरेक के कारण तेगबहादुर ने उनका मुख चूम लिया और मन ही मन समझ लिया कि मेरा पुत्र मेरे नहीं रहने पर भी गुरु की गद्दी का भार सुंदर रीति से संभाल लेगा।

1675 ई० में गुरु तेगबहादुर हँसते-हँसते दिल्ली में शहीद हुए। उनकी शहादत से सारा देश थर्रा उठा। गुरु की गद्दी सम्हालने का उत्तरदायित्व अल्पायु में ही गोविंदराय पर आ गया। उन्होंने शक्ति संघटन के लिए 20 वर्ष तक एकान्तिक साधना की जिसके निम्नलिखित युग परिणाम निकले- (1) उन्होंने फारसी और संस्कृत के ऐतिहासिक-पौराणिक ग्रंथों का विशद् अध्ययन कर लिया। (2) हिंदी कवियों द्वारा उन्होंने पंजाब में पहली बार वीर-रस के काव्य का प्रणयन करवाया। (3) घुड़सवारी और तीरन्दाजी में असाधारण निपुणता प्राप्त कर ली। (4) आखेट विद्या में दक्षता प्राप्त की और कठोर जीवन जीने का अभ्यास किया। (5) देश, जाति और धर्म के उत्थान का व्रत ले लिया।

आगे उन्होंने 'खालसा' पंथ का निर्माण किया। उन्होंने अपने प्रथम पाँच शिष्यों को सवा लाख सैनिक के बराबर माना। नमस्कार के लिए 'सत् श्री अकाल' का उच्चारण जारी किया। सिंह शब्द सिरोधार्य करवाया। वे स्वयं भी गुरु गोविंद सिंह हो गये। वे 32 वर्ष की उम्र में एकतरह से शहीद हो गये। उन्होंने धर्म के लिए अपने चारों बेटों का बलिदान कर दिया। भारतीय इतिहास में ऐसा बलिदान, दादा और पोतों का, कहीं नहीं मिलता।

उन्होंने गुरु परम्परा का अंत कर 'गुरु ग्रंथ साहब' को सिक्ख एकता का प्रतीक बना दिया। दशम ग्रंथ गुरुजी का लिखा हुआ माना जाता है। विचित्र नाटक में उनके जीवन का प्रतिबिंब है। इस महान गुरु की कृपा से पटना- आज भी हरिमंदिर साहब को लेकर गौरव और आत्मविश्वास में जी रहा है।

बाबू कुँवर सिंह

–डॉú ब्रजकुमार पाण्डेय

1857 की क्रांति और उसमें कुँवर सिंह की भूमिका भारतीय जनमानस एवं उसकी स्मृतियों का अभिन्न हिस्सा है। इतिहास अपनी भूमिकाएँ अपने हिसाब से चुनने की आजादी किसी को नहीं बख्शता। प्रदत्त भूमिकाएँ कौन कितनी प्रामाणिकता से निभा ले जाता है, इतिहास अपनी परिधि में उतना 'स्पेस' उसके लिए सुरक्षित कर देता है। कुँवर सिंह इतिहास की पुस्तकों में जितने नहीं हैं, उससे अधिक आमजन की स्मृतियों में दर्ज हैं। कुँवर सिंह को जानते-पढ़ते यह बात शिद्दत से महसूस होती है कि आखिरकार 'लोक' इतिहास की एक बड़ी प्रयोगशाला में कैसे तब्दील हो जाता है।

टेलर ने लिखा है कि "जिला शाहाबाद में बाबू कुँवर सिंह की बहुत बड़ी और कीमती जायदाद है। बाबू कुँवर सिंह एक उच्चकुल और पुराने घराने में हैं। वह एक उदार और लोकप्रिय जमींदार हैं और उनकी रियाया उन्हें बहुत स्नेह करती हैं।" 'टू मन्थ्स इन आरा' के लेखक हाल्स ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कुँवर सिंह का बड़ा-से-बड़ा दुश्मन भी उस पर यह दोषारोपण नहीं कर सकता था कि उसने निरपराध व्यक्तियों का खून बहाया था।

दरअसल कुँवर सिंह का पालन-पोषण बड़े ही उदारतापूर्ण माहौल में हुआ था। उनके पिता साहबजादा सिंह भी शाहाबाद के सर्वविदित दयालु एवं अत्यंत लोकप्रिय व्यक्ति थे। साहबजादा सिंह के बारे में फ्रांसिस बुकानन लिखता है, "रैयतों से लगान नहीं वसूल हो रही है और सरकार की मालगुजारी चुकाने के लिए जमींदार के सिर पर कर्ज बढ़ता जा रहा है....... बाबू साहबजादा सिंह की जमींदारी शाहाबाद में सबबे बड़ी और जिले भर में फैली हुई थी, जिसमें रैयतों की संख्या एक लाख से ऊपर की होगी और उस शोषण और उत्पीड़न के युग में भी यह जमींदार अपने रैयतों की लाचारी वगैरह का विचार करके बराबर लगान छोड़ देता है और सामंतशाही के युग में भी अपने वर्ग के लोगों की आलोचनाओं की परवाह किए बिना छोटी जाति और नीचे तबके के लोगों को पास बैठाता है। उनकी बातें सुनता है, मुसीबतों में उनका साथ देता है और राज्यकाज में भी उनकी सहायता लेता है........... बाबू साहबजादा सिंह के अतिशय शिकारप्रेमी होने के कारण और पिछड़ी जातियों का साथ देने के कारण शाहाबाद और निकटवर्ती जिले की अछूत जातियाँ यानी पासी, बहेलिया और मिस्कार जिनका पेशा ही शिकार करना और चिड़िया पकड़ना और बेचना था, स्पृश्य बन गईं और उनके छुए जल आदि का पान सभी उच्चवर्ण के लोग करने लगे।"

साहबजादा सिंह का यह चरित्र राजपूती आन-बान-शान के विरुद्ध था। यह जमीन्दारी और सामंतशाही के प्रतिकूल पड़ता था। हम इसे वर्गविरोधी चरित्र भी कह सकते हैं और यही चरित्र अपने पिता से कुँवर सिंह में भी प्रतिरोपित हुआ था। कुँवर सिंह अत्याचार नहीं कर सकते थे; अपनी रियाया का खून चूस कर मालगुजारी नहीं दे सकते थे, इसलिए अंग्रेजों ने कभी-कभी कुँवर सिंह को अक्षम शासक भी बताया है।

राजस्व बोर्ड के मंत्री को लिखे टेलर के पत्र की कुछ पंक्तियाँ, "अधिकांश राजपूतों की तरह बाबू कुँवर सिंह भी बिल्कुल अशिक्षित हैं, बड़ी आसानी से वे स्वार्थी लोगों के शिकार रहे हैं......... उदार प्रकृति और फिजूलखर्ची की खानदानी आदतों के कारण उनका खर्च बहुत बढ़ा हुआ है और उसकी पूर्ति कर्ज लेकर ही की जाती है।"

वैसे तो कुँवर सिंह की बहुत बड़ी जमीन-जायदाद थी जिससे उसे कम-से-कम तीन लाख सालाना की आय तो होती थी, परंतु एक लाख अड़तालीस हजार तो उनको सरकार को मालगुजारी ही दे देनी होती थी। टेलर और डेम्पियर दोनों मानते हैं कि कुँवर सिंह पढ़े-लिखे नहीं थे, जायदाद की देखभाल नहीं कर सकते थे, भारी कर्ज हो गया था और यह भी कि उनके बेईमान एजेंटों ने ही उन्हें धोखा दिया था। वे सूद की अच्छी-अच्छी दरों पर बड़ी-बड़ी रकमों के पट्टे लिख देते थे। जिसका नतीजा यह हुआ कि "उसे केवल कुछ हजार रुपए ही मिले जबकि वह लाखों रुपए की देनदारी से बंध गया" कुँवर सिंह पर तेरह लाख रुपए का कर्ज हो गया था। उनके ऋणदाताओं ने सरकार से प्रार्थना भी की कि वह उनके जायदाद का प्रबंध अपने हाथ में ले ले और धीरे-धीरे उनका ऋण भी चुका दिया जाय।

कुँवर सिंह पर बढ़ते हुए कर्ज और उनके द्वारा मालगुजारी की अदायगी की सम्भावना नहीं देखकर वर्ष 1855-56 में बंगाल की सरकार और उसके स्थानीय अधिकारियों ने कुँवर सिंह की सम्पति और मान-मर्यादा की रक्षा के लिहाज से, भारत में अँग्रेजी सल्तनत की प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल, उनके राज्य को सरकारी प्रबन्ध में ले लिया। इसे समझने की जरूरत है। यह एक कूटनीतिक चाल भी थी-जिसके सूत्र समझे जाने चाहिए।

इस रियासत की भौगोलिक स्थिति बंगाल और उत्तर पश्चिम भारत के बीच सम्पर्क मार्ग के रूप में काफी महत्त्वपूर्ण थी। यहीं से होकर गंगा नदी और ग्रैंड ट्रंक रोड का गुजरना होता था। अत: किसी-न-किसी बहाने इस पर अधिकार रखना उनके फायदे की चीज थी।

स्वभाव से अक्खड़ और जन्मभूमि से गहरा अनुराग रखने वाली जनता, जो रुपयों की खातिर अपनी आस्था नहीं बदल सकती, शाहाबाद की ऐसी जनता के बीच बाबू कुँवर सिंह अत्यंत लोकप्रिय थे। फिर ऐसे जनप्रिय शासक को किसी प्रकार अपनी ओर मिलाए रखना दूरदर्शिता ही थी।

शाहाबाद की जनता अँग्रेजी सत्ता की सार्वभौमिकता को जब तक हृदय से स्वीकार नहीं कर लेती तब तक उसकी आस्था में बसे उनके प्रिय प्रतीक को तो किसी भी कीमत पर अँग्रेजी सरकार अपनी ओर रखाती ही। उस जनप्रिय नरेश को सम्मान देकर अँग्रेजी सत्ता खुद वैधता की तलाश में थी। शाहाबाद की विद्रोही जनता के दिल में वह अपने लिए जगह बनाना चाहती थी।

वैसे भी अँग्रेजी सरकार जमीन-जब्ती तथा राज्यापहरण की कुख्यात नीति के चलते काफी बदनाम हो चुकी थी। अत:, संकट के समय अँग्रेजी सरकार इस वीरभूमि के राजा को सम्बल देकर अपनी छवि को कुछ बेहतर भी करना चाहती रही होगी, ताकि अन्य राजवंशों पर भी कुछ अच्छा प्रभाव पड़े। वैसे एक हकीकत सरकार यह भी जानती थी कि कुँवर सिंह को कोई संतान नहीं थी और कुँवर सिंह काफी वृद्ध भी हो चले थे। इसलिए कुँवर सिंह के प्रति सदाशयता दर्शाते हुए सरकार उनकी रियासत की 'केयरटेकर' की भूमिका में आ गई थी।

लेकिन सवाल यह भी है कि उपनिवेशवादी भूख 'छवि' की चिंता कब तक करती। 1857 में एकाएक अँग्रेजी सरकार ने कुँवर सिंह की रियासत को छोड़ दिया और यह भी आदेश निर्गत किया कि वे कर्ज के सारे रुपये एक महीने के भीतर अदा करें। अदायगी न होने पर रियासत नीलाम हो सकती है। यही नहीं सरकार ने कर्ज देने वालों से भी सख्ती करने को कहा।

ऐसा क्यों हुआ। सम्भवत: यह बात पता लग गई थी कि कुँवर सिंह क्रांतिकारियों से मिलकर अँग्रेजी सरकार के खिलाफ षडयंत्र करने लगे थे। इसीलिए, रियासत का प्रबन्धन छोड़ दिया गया कि कुँवर सिंह क्रांति की अपेक्षा कर्ज अदायगी और अन्यान्य प्रबन्धनों में प्रवृत्त होकर उलझ जाएँगे। क्रांति के दो

महीने पहले रियासत वापस भी की गई तो, कर्ज एक पैसा भी नहीं दिया गया था। यह भी सही है कि भारी ऋण के बावजूद कुँवर सिंह ने क्रांतिकारी गतिविधियों में चन्दा दिया था। वर्ष 1845-46 के हरिहर क्षेत्र में मेले में ख्वाजा हुसैन अली खाँ के साथ प्रांत भर के हिंदू-मुसलमान रईस जुटे थे जिसमें बाबू कुँवर सिंह भी थे और इनको नेपाल के राजा को पक्ष में लाने का दायित्व सौंपा गया था। 1857 में नानासाहब से पत्राचार भी नाना से घनिष्ठता संस्तुत करता है। कर्नल भैलेसन ने कहा कि विद्रोही सिपाहियों से उसकी गुप्त सांठ-गांठ थी, उनके ही आदमियों के द्वारा नावें उपलब्ध कराई गई थीं, जिसपर चढ़कर सिपाहियों ने सोन नदी पार किया था। आरा के तत्कालीन मजिस्ट्रेट एच. सी. बेक ने भी माना है कि कुँवर सिंह का विद्रोह पूर्वनियोजित था। एक तथ्य से तो यह पता चलता है कि अँग्रेजों के विरुद्ध कुँवर सिंह वर्ष 1845-46 से ही क्रांति एवं विद्रोह की भूमिका तैयार कर रहे थे और यह भी कि जगदीशपुर रियासत की जब्ती की नीयत अँग्रेज भी बहुत पहले से पाले हुए थे।

सैम्युअल्स ने बड़े करीने से एक भ्रांति प्रचारित की कि कुँवर सिंह का विद्रोह आर्थिक कठिनाइयों के चलते हुआ था, कि इसके पीछे सिर्फ 'स्वार्थ' काम कर रहा था। बाद में भी इसको लेकर बहसें चलती रहीं कि क्या रियासतों को बचा लेना ही तत्कालीन सरदारों का मूल मकसद था?

लेकिन कुँवर सिंह तो 1845 से ही लगे हुए थे। संताल विद्रोह से भी इनकी सहानुभूति के तार जुड़े हुए थे। आर्थिक कारण ही रहे होते तो कर्ज में डूबा कोई राजा उनको चन्दा क्यों देता जो उसके प्रभुओं के विरुद्ध बगावत को अंजाम देने जा रहे थे। वे जानबूझ कर अँग्रेजों के खिलाफ क्रांति की मशाल और क्यों धधकाते और क्यों अपनी रियासत भी खतरे में डाल लेते? यदि अर्थ की लालसा इतनी ही प्रबल थी तो अपनी रियाया का कर्ज लगान, मालगुजारी क्यों माफ करते रहे और क्यों अपनी रियासत को कर्ज में डुबोते रहे। वे हृदयहीन हो सकते थे, सख्ती से कर वसूल सकते थे और अँग्रेजों को उनका 'दाय' देकर खुश रख सकते थे। लेकिन रियासत के इस सरदार ने 'लोक' के प्रति निष्ठा बहाल रखी।

कुँवर सिंह की रियासत पर तो बहुत दिनों से संकट आसन्न था। वैसे भी कोई विरोध कहाँ से और कब शुरू करेगा यह युगबोध भी तय करता है। उसके वाजिब तर्क और जायज तेवर क्या होंगे यह समय की मान्यताएँ तय करती हैं। रावण का कोई भी अत्याचार कम नहीं था। 'सीदहिं विप्र धेनुसुर धरनी' विप्र, धेनु, सुर, धरनी, चारों पर अत्याचार कर रहा था। इनमें से किसी एक के लिए भी प्रभु अवतार ले सकते हैं और रामजी भी रावण का वध कभी भी कर सकते थे। उनका तो जन्म या कहें 'अवतार' ही इसी शुभ कार्य के लिए हुआ था फिर वे अपनी पत्नी के अपहरण का अपराध होने तक क्यों रुके रहे। रामचन्द्र जैसा अवतारी पुरुष भी 'चुनौती' को व्यक्तिगत दायरे में क्यों ले आता है। यह उन्नीसवीं शदी की 'जनवादी' आख्याओं से पहले संभव नहीं था कि 'चुनौती' की वैधता व्यक्तिगत दायरों से बाहर भी पुष्ट की जा सके। सही कारण की तलाश शायद व्यक्तिगत दायरों में ही सम्पन्न होती रही हो। और यदि व्यक्तिगत आधारों पर भी व्यापक हितों की लड़ाई लड़ी जाती है तो इसका स्वागत ही होना चाहिए। और तात्कालिक उभारों एवं कारणों की व्याख्या ऐतिहासिक संदर्भों में ही होनी चाहिए।

बहरहाल, कुँवर सिंह के प्रमुख सहायकों में उनके भाई अमर सिंह, भतीजा रितभंजन सिंह, उनका तहसीलदार हरिकिशन सिंह और उनके साठ वर्षीय मित्र निशान सिंह थे। दिलावर खाँ और सरनाम सिंह का भी जिक्र आता ही है। सुरेन्द्र नाथ सेन तो कहते हैं कि शाहाबाद के राजपूत इस बात पर तुले हुए थे कि वे यह सिद्ध कर दें कि राजपूतों की वीरता कोई गुजरे जमाने की चीज नहीं।

25 जुलाई 1857 को दानापुर की सात और आठ नम्बर की पलटन ने बगावत कर दी। आरा पहुँचकर

सिपाहियों ने खजाना लूट लिया और जेलों से कैदियों को मुक्त कराने के बाद घेरा शुरू हुआ। कुँवर सिंह के पास दो पुरानी तोपें थीं। लेकिन समुचित गोला-बारूद के अभाव में वे उतनी कारगर नहीं रहीं। घेरे में घिरे हुए डॉक्टर हॉल का कथन है कि ''सिख जो हमारे साथ थे, यदि वे भी धोखा दे देते तो उन्होंने हमारा नाश्ता बनाकर खा लिया होता।'' खैर विंसेट आयर के आने के बाद घेरा उठा लेना पड़ा। हालांकि दानापुर से कप्तान डनवर के नेतृत्व में 300 गोरे और 100 सिखों की एक सेना आरा मदद के लिए आ रही थी लेकिन रास्ते में ही कुँवर सिंह के सैनिकों ने एक आम के बाग में रात के समय घात लगाकर उनपर आक्रमण किया। नतीजा यह रहा कि लगभग 415 आदमियों में से सिर्फ 50 बचकर दानापुर पहुँच सके। कप्तान डनवर भी मारा गया।

बीबीगंज में विंसेंट आयर के तोपखाने और एनफील्ड राइफलों के समक्ष कुँवर सिंह और उनके बागी साथियों की बन्दूकें नहीं टिक सकीं। यह लड़ाई 2 अगस्त की रात में लड़ी गई और दूसरे दिन आरा को मुक्त कराने में अँग्रेज सेना सफल रही। हाल्स को फिर उद्घृत किया जाना जरूरी है, "इस सारे समय में आरा के अँग्रेज बंदी थे। कई ईसाई और युरोपीय परिवार कुँवर सिंह के कब्जे में रहे। वास्तव में हम यह नहीं जानते कि दूसरे बागियों ने जो अत्याचार किए उनमें कुँवर सिंह भी कभी शामिल हुआ।" शाहाबाद की धरती के लिए गौरव की बात है कि तमाम विपरीतताओं एवं पराजयों के बीच हमारे सरदार ने धैर्य नहीं खोया। जीवन और मृत्यु के संघर्षों के बीच भी हम क्रूर नहीं हुए। एक सच्चा क्रांतिकारी और जनता के प्रति जवाबदेह शासक ही ऐसा संतुलन साध सकता है।

बीबीगंज की लड़ाई में हारकर कुँवर सिंह ने दूने उत्साह से जगदीशपुर में मोर्चाबंदी की। 11 अगस्त 1857 को धोखे से कुँवर सिंह को यहाँ भी पीछे हटना पड़ा। आपसी मनमुटाव और अस्त्र-शस्त्रों की कमी वीर कुँवर सिंह की जीत के आड़े गई। डुमराँव महाराज वख्श सिंह भी इसी युद्ध में अँग्रेजों की ओर से लड़ रहे थे। दुलौर नामक स्थान पर इस युद्ध के बाद जगदीशपुर गढ़ के साथ-साथ कुँवर सिंह के द्वारा बनवाए गए एक विशाल मंदिर को भी ध्वस्त कर दिया गया था।

दुलौर की लड़ाई के बाद कुँवर सिंह और अमर सिंह सासाराम पहुंचे। 11 अगस्त 1857 से 17 मार्च 1858 तक कुँवर सिंह एक उद्देश्य लिए पूर्वी एवं मध्यभारत के विभिन्न जगहों पर घूमते रहे। इस बीच अमर सिंह से उनका साथ भी छूटा। सासाराम में रामगढ़ से आनेवाले विप्लवी सिपाहियों का एवं भागलपुर की 5 नं० की रेगुलर सेना की अन्तहीन प्रतीक्षा के बाद कुँवर सिंह पश्चिम रीवा की तरफ अकेले ही प्रस्थान कर गए, जहाँ सरदार हुम्मत अली और हरचन्द राय पहले से ही विद्रोह का बिगुल बजाए हुए थे। वहाँ के राजा से 100000 का खिराज वसूलने के बाद कुँवर सिंह बांदा गए। नान्य साहब के ऐजेन्ट शान्ति सूपे की सेना से गठजोड़ की इच्छा रखते हुए भी वहाँ के जमीन्दारों के प्रबल विरोध के चलते कुँवर सिंह को बांदा छोड़ना पड़ा। बांदा से ग्वालियर, ग्वालियर से 2000 सैनिकों के साथ अयोध्या फिर वहाँ से लखनऊ होते हुए आजमगढ़ जाना भी सिद्ध हो जाता है। एतद्सम्बन्धी प्रचुर साक्ष्य दिल्ली के नेशनल आर्काइव्स में प्राप्त हैं। कालपी से ग्वालियर आते समय कुँवर सिंह के पौत्र वीरभंजन की मृत्यु हुई कहा यह भी जाता है कि वह धर्मन बीबी नामक एक नर्तकी के प्रति अनुरक्त थे, उसकी भी मृत्यु वहीं हुई।

इन यात्राओं ने कुँवर सिंह को एक प्रेरणापुरुष के रूप में स्थापित किया, जिन रास्तों से कुँवर सिंह गुजरते उन रास्तों की बागी चिनगारियाँ शोलों में तब्दील हो जाती थी। जबलपुर की 52 नं० की सेना जोश एवं उत्तेजना में भर विद्रोह कर चुकी थी। 50 नं० की सेना भी उनसे आ मिली। कई बागी कुँवर से मिलते रहे। बिना वेतन के, न जाने कितने स्वयंसेवक क्रांतिकारी भावना से ओत-प्रोत हो कुँवर सिंह

के साथ हो लिए।

आजमगढ़ में अतरौलिया नामक जगह पर कर्नल मिलमैन के विरुद्ध उन्होंने मोर्चा लिया। आजमगढ़ पर कब्जा तक किया। गाजीपुर और इलाहाबाद से लार्ड मार्क के नेतृत्व में अँग्रेजी सेना पहुँची। कुछ दिनों बाद एडवर्ड लुगार्ड भी पहुँच गया। फलत: कुँवर सिंह बिहार प्रान्त लौट गए। लेकिन इसके पहले 81 साल के इस वृद्ध ने अपनी शौर्यगाथा इतिहास के पन्नों पर लिख दी थी। कहा जाता है कि सफेद घोड़े पर सवार यह सरदार अँग्रेजी सेना के बीच तलवार लिए बिजली की तरह कौंध रहा था। तानू नदी पार करने की कूटनीति और उस समय के युद्ध कौशल की तारीफ इतिहासकार मैलेसन ने खूब की है। अलग-अलग सैन्य टुकड़ियाँ बनाकर डगलस को भी झांसा दिया और वापसी में गंगा पार करते समय एक झूठी सूचना फैलाई कि कुँवर सिंह की सेना बलिया के निकट गंगा पार करेगी। जबकि हकीकत में सात मील नीचे शिवपुर घाट में कुँवर की सेना गंगा पार कर रही थी। पता चलते ही अँग्रेजी सेना ने पीछा किया तब तक लगभग पूरी सेना पार उतर चुकी थी, अंतिम कश्ती बची थी और इसी में कुँवर सिंह थे। कहते हैं नदी पार करने के दौरान ही किसी अँग्रेज सैनिक की गोली कुँवर सिंह की बाँह में लगी। सुनने में आता है कि उस वृद्ध सरदार ने तत्क्षण अपनी ही तलवार से उस बांह को काटकर अंतिम भेंट के रूप में गंगा में प्रवाहित कर दिया। उस पार कुछ ही दूरी पर कुँवर सिंह की राजधानी जगदीशपुर थी जो आठ महीनों तक अँग्रेजों के कब्जे में रही। 22 अप्रैल को कुँवर सिंह ने फिर राजधानी में प्रवेश किया। अमर सिंह ने पहले से ही कुछ स्वयंसेवक तैयार कर रखे थे। उनकी सहायता से जगदीशपुर पर पुन: कब्जा किया गया। ली ग्राण्ड के नेतृत्व में एक सेना आरा से चली। परन्तु वृद्ध सरदार के रणकौशल के आगे उसकी एक न चली। 150 में से 100 सैनिक मारे गए और यही नहीं ली ग्राण्ड भी अन्य अफसरों के साथ मारा गया। 'इण्डियन म्यूटिनी' नामक पुस्तक में चार्ल्स बाल उस दिन अँग्रेजों की पराजय याद करते हुए लिखता है, "जो कुछ हुआ, उसे लिखते हुए लज्जा आती है। लड़ाई का मैदान छोड़ हमने जंगल में भागना शुरू किया। शत्रु हमें बराबर पीछे से पीटता रहा। हमारे सिपाही प्यास से मर रहे थे। वे एक गन्दे छोटे से पोखर की ओर लपके। कुँवर सिंह के सिपाहियों ने वहाँ भी दबोचा। जिल्लत की कोई हद न रही......... चारों ओर आहों, कराहों और रूदन के सिवा कुछ भी नहीं था। दवा मिल सकना असम्भव था। अस्पतालों पर कुँवर सिंह का कब्जा था......... हम वहाँ केवल बध के लिए गए थे।" इतिहास लेखक ह्वाइट ने लिखा है कि "अँग्रेजों ने पूरी तरह और बहुत बुरी तरह हार खाई।"

23 अप्रैल को 1858 ई० में विजयी कुंवर सिंह पुन: अपनी रियासत के मालिक बन बैठे। हालांकि 24 अप्रैल को या सम्भवत: 26 अप्रैल को उनकी मृत्यु भी हुई। मृत्यु के समय स्वाधीनता का हरा झंडा उनकी राजधानी के ऊपर लहरा रहा था।

कुँवर सिंह का व्यक्तिगत चरित्र अत्यंत पवित्र था। उनकी रियासत में कोई व्यक्ति खुलेआम तम्बाकू नहीं पीता था कि कुँवर सिंह कहीं देख न ले। जनता उन्हें प्रेम करती थी और उन्हें सम्मान देती थी। युद्धकौशल में वह अद्वितीय थे। आज भी शाहाबाद की जनता की स्मृतियों में अपनी धरती के उस वीर सपूत को लेकर इतने लोकगीत एवं लोककथाएँ प्रचलित हैं कि हैरत होती है। जीते जी उनके बारे में तमाम किंवदन्तियां एवं दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं। यह इतिहास में लोक का हस्तक्षेप है, और इसे जगह मिलनी ही चाहिए।

नारायण: अंडमान का पहला शहीद क्रांतिकारी

–रश्मिता झा, अखिलेश झा

अंडमान की यात्रा का सौभाग्य जिन्हें मिला है, वे उसके नैसर्गिक सौन्दर्य के आह्लाद को आजीवन अनुभूत करते हैं। अंडमान के टापू आकाश में ऊँची उड़ान भरनेवाले पक्षियों को सतरंगी तालाब में तैरते हुए चमकीले दिए जैसे दिखते हैं। नारियल के पेड़ एक कतार में टापू पर उतरनेवालों का स्वागत करने के लिए खड़े रहते हैं। सारी क्लान्ति हर लेनेवाले मीठे पानी एवं स्वादिष्ट फल लेकर। प्रकृति की समृद्धि एवं उदारता के इस साम्राज्य में मनुष्य को अपनी भौतिक उपलब्धियों की क्षुद्रता एवं शुष्कता का अनुभव सहज ही हो जाता है। जीवन के समस्त कोमल राग यहाँ स्वत: झंकृत होने लगते हैं। ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा, अपकार आदि के उद्दीपक व्यभिचारी भाव यहाँ कहीं दिखते नहीं। परन्तु विडम्बना देखिए कि सभ्यता सिखाने के लिए निकले अंगरेजों ने प्रकृति के इस निष्कलंक कैनवास पर खून से वीभत्स आकृतियाँ उकेर दीं। प्रकृति की इस वात्सल्यपूर्ण गोद को कालापानी बनाने की योजना जिस व्यवस्था ने की थी, उसकी अमानुषिक प्रवृत्तियों के विषय में कुछ विश्लेषित करने के लिए शेष नहीं रहता।

पहली बार 1789 ई० में अंडमान में कैदियों की बस्ती बसाई गई थी। तब शासन को संगठित राजनीतिक विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था, इसलिए तबकी बस्ती में जो कैदी लाए गए थे, उनपर हत्या, डकैती, ठगी आदि जैसे अपराध के आरोप थे। उन कैदियों के श्रम से अंडमान के टापू पर जीवन के अनुकूल सुविधाएँ विकसित करने का काम लिया गया। परन्तु, दो-तीन साल बाद हीं वहाँ महामारी जैसी स्थिति पैदा हो गई। सैकड़ों कैदी मारे गए और तब 1791 ई० में अंडमान से दंडियों की बस्ती हटा लेने का फैसला कर लिया गया। 1796 तक यह बस्ती खाली कर दी गई।

जैसे-जैसे भारत में अँगरेजों का शोषण बढ़ा, भारत की पारंपरिक स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था चरमराने लगी। असंतोष भी बढ़ने लगा और असंतोष विद्रोह के रूप में मुखर भी होने लगा। इसका पहला व्यापक संगठित रूप 1857 ई० में दिखा। सैनिक विद्रोह के रूप में शुरू हुए प्रतिरोध ने शीघ्र ही जन-आंदोलन का रूप ले लिया। आजादी के दीवाने ये क्रांतिकारी एवं सत्याग्रही और भी खातरनाक किस्म के 'अपराधी' थे। इन्हें देश में रखाने का खातरा मोल नहीं ले सकते थे अँगरेज। अत: जनवरी 1858 में दुबारा अंडमान को कालापानी में तब्दील कर दिया गया। परिवर्तन के तौर पर इस बार कैदियों में एक विशेष वर्ग किया गया 'बागियों' का। इस विशेष वर्ग के लिए विशेष व्यवस्था थी कि अच्छे व्यवहार आदि से इनके भविष्य पर कोई असर नहीं हो सकता था। जब हत्यारे, डकैत, चोर, ठग आदि को अच्छे आचरण के बदले स्वतंत्र किया जा सकता था, उन्हें सरकारी नौकरी भी दी जा सकती थी।

खैर, 1857 में अँगरेजों के शोषण के खिलाफ देश भर में आंदोलन हुए और बिहार उस आंदोलन का एक प्रमुख केन्द्र बना। पटना की भौगोलिक स्थिति सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थी अँगरेजों के लिए। पूर्वी एवं उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के बीच जल एवं स्थल के मार्गों का नियंत्रण पटना से ही होता था। इसीलिए, पटना में दानापुर में अँगरेजों ने एक विशाल सैनिक छावनी स्थापित की थी। जब सैनिकों की बगावत की खबरें देश के हर कोने से आने लगीं, तब देशी सैनिकों को नि:शस्त्र करने का अभियान चलाया जाने लगा। जून, 1857 में देश भर से सैनिकों की बगावत की खबरें आ रही थीं। दानापुर की छावनी के सैनिकों से शस्त्रास्त्र वापस लेने के सवाल पर अँगरेज अधिकारी कोई निर्णय लेने में द्विविधा महसूस कर रहे थे। अंत में, 20 जुलाई, 1858 को यहाँ के सैनिकों से भी शस्त्रास्त्र वापस लेने का फरमान जारी हो गया। परिणाम विद्रोह के अलावा और हो भी क्या सकता था। विद्रोह हुआ,

बड़े पैमाने पर खून-खराबा हुआ, अँगरेजों को नाकों चने चबाने पड़े। परन्तु, तबतक भारतीय अपनी अलग-अलग पहचान एवं निहित स्वार्थों में बंटे हुए थे इसलिए अपने ही लोगों द्वारा कुचल दिए गए।

दानापुर में आंदोलन के संगठन में एक क्रांतिकारी की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही। वह वहीं की छावनी के बाजार का एक गैर-सैनिक कर्मचारी था, नाम था- नारायण। 20 जुलाई को शुरू हुए इस आंदोलन ने आरा-शाहाबाद का रूख कर लिया। उल्लेखनीय है कि दानापुर में सैनिक छावनी के अधिकांश सैनिक इन्हीं जिलों के थे। वहाँ कुंवर सिंह ने इन विद्रोही सैनिकों को नेतृत्व प्रदान किया और अँगरेजों को जान-माल की भारी क्षति उठानी पड़ी।

उधर दानापुर में नारायण को बगावत की आग भड़काने के जुर्म में गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर बगावत का मुकदमा चला और जैसा कि तब के शासन का चलन था, अपनी अदालत में, अपने जज से, अपने मनमाने कानून के अंदर, नारायण को आजीवन कारावास की सजा सुना दी गई 31 जुलाई 1857 को। देश के हर कोने में ऐसे ही कई मुकदमे चले और लोगों को सजाएँ सुनाई गई। नारायण अंगरेजों के लिए उन 'खतरनाक' लोगों में से थे, जिन्हें देश के अंदर किसी जेल में रखना आत्मघाती हो सकता था। इसलिए, जब जनवरी, 1858 में अंडमान में कालापानी बहाल करने का निर्णय लिया गया, तब वहाँ सबसे पहले भेजे जाने वाले जत्थे में नारायण का भी नाम डाल दिया गया था।

4 मार्च, 1858 को कलकत्ते से कंपनी का जहाज सेमिरामिस दो सौ कैदियों को लेकर अंडमान के कालापानी के लिए चला। पहली बार क्रांतिकारियों का जत्था कालापानी के लिए भेजा जा रहा था। इस जहाज पर अंडमान की बंदियों की बस्ती के लिए नामित पहला सुपरिटेंडेंट जेम्स पैटिसन वाकर भी आ रहा था। वाकर की सूची में 61वें नंबर पर नारायण का नाम था। पहले तो नारायण को लगा कि उस जहाज पर सभी क्रांतिकारी ही थे, पर एकाध-दिन में जहाज पर ही पता चल गया कि उनमें अधिकांश हत्या, डकैती, ठगी आदि के जुर्म में कालापानी सजा पाकर उस जहाज पर सवार किए गए थे। जहाज जैसे ही तट से दूर हुआ, बस जल और जल का ही साम्राज्य था। शाम ढलते ही वह जल का साम्राज्य तमस के साम्राज्य में परिवर्तित हो जाता था। नारायण मन ही मन सोचता जा रहा था, प्रकृति की इस असीम शक्ति में भी कितनी सहजता है और मनुष्य, जिसकी सीमा सर्वत्र दिखाई देती है, में कितना दंभ है! जल एवं तम के साम्राज्य एक के बाद एक बदलते रहे, नारायण के मन की उथलपुथल भी बढ़ती रही और एक के बाद एक छह दिन बीत गए।

10 मार्च, 1858 को सेमिरामिस अंडमान के चाथम टापू पर जा लगा। कैदियों को जहाज से उतारते ही उन्हें चाथम टापू की साफ-सफाई में लगा दिया गया। नारायण भी अपने कार्य में लग गया। उसने उतरते ही सभी कैदियों को अँगरेजों के विरुद्ध संगठित करने का उद्यम शुरू कर दिया। परन्तु, कालापानी में अपने भविष्य को सोचकर और वहाँ के कठिन जीवन को देखकर बाकी कैदियों की जैसे चेतना ही जाती रही थी। 1857 के क्रांतिकारी भी उन कैदियों में तीस के लगभग ही थे। वे भी मिल चुकी यातना से टूट चुके थे और आगे किसी और प्रकार की यातना सहने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पाए थे। नारायण तब भी अपने प्रयास में लगा रहा। चौथे दिन उसका भी हौसला जवाब दे गया और उसने समझ लिया कि वह पत्थरों से टकरा रहा है। परन्तु, उसका भरोसा उन कैदियों से हटा था, अपने आप से नहीं। अत: उसने वहाँ से भागकर पुन: देश की मुख्य भूमि पर आंदोलन संगठिन करने का हौसला किया और उस टापू से तैरकर भाग निकला। नारायण द्वारा दिखाई गई हिम्मत पर सोचिए! जिसने चार दिन पहले ही देखा था कि बड़े जहाज से इस कालापानी में पहुँचने में छह दिन लगे थे, वह तैरकर मातृभूमि को जंजीरों से मुक्त करने के लिए दु:साध्यता की मिसाल बनने में लग गया था। वह लगभग

चाथम से पोर्टब्लेयेर के मुख्य टापू पर पहुँच ही गया था कि अँगरेजों को नारायण के चाथम से भाग जाने की सूचना मिल गई।

अँगरेज सैनिक नावों में सवार होकर नारायण का पीछा करने निकल पड़े। चारों तरफ से नारायण पर गोलियाँ बरसाई जाने लगीं। नारायण को हर तरफ से घेरकर गिरफ्तार कर लिया गया और चाथम टापू पर वापस ले आया गया। आनन-फानन में उसपर उसी दिन बगावत करने और कैद से भागने का मुकदमा चलाया गया और फांसी की सजा सुना दी गई। उसी दिन 14 मार्च, 1858 को नारायण को सभी कैदियों के सामने फांसी की सजा दे दी गई। अंडमान में स्वतंत्रता की देवी की बलिदेवी पर पहला पुष्प नारायण के रूप में समर्पित हो गया था। उस बलिदेवी पर समर्पित होने अभी और बलिदानी आनेवाले थे, कतार बहुत लंबी थी, पर नारायण उस कतार में सबसे आगे जाकर एक मिसाल कायम कर गया था। शेर अली एवं सावरकर के समुद्र को लांघ जाने की दु:साध्यता के अनगिनत किस्से सुनाए जाते हैं, पर नारायण जो ऐसा करनेवालों में पहला था, को श्रद्धांजलि देनेवाला कोई नहीं।

आज अंडमान एक तीर्थ है और वहाँ शहीद हुए क्रांतिकारी भारतीयों के आराध्य है। कहना न होगा कि उन आराध्यों में नारायण की गणना गणेश के रूप में प्रकृत्या हो गई है।

पीर मुहम्मद मूनिस

-रंजन

मूनिस एक अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है- मददगार, साथी, कॉमरेड। 'मूनिस' पीर मुहम्मद अंसारी का तखल्लुस (उपनाम) था। अपने नाम की सार्थकता उन्होंने जीवन-पर्यन्त सिद्ध की। जैसा नाम वैसा काम।

मूनिस का जन्म 1882 ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु 24 दिसंबर 1949 ई० को हुई। 67 वर्षों तक वह निरंतर संघर्षरत रहे। हिंदी, आजादी, सामाजिक सरोकार और साहित्य के लिए जीवन-पर्यन्त लड़नेवाले इस शख्स का नाम आज न साहित्य, न पत्रकारिता और न गांधी के चंपारण संघर्ष के साथी के रूप में दर्ज होता है। बिहार की आधुनिक पत्रकारिता में तो हिंदी एवं आजादी के लिए खासतौर से अभियानी पत्रकारिता के लिए मर मिटने वाला यह आदमी बिहारी हिंदी पत्रकारिता और इतिहास का छूटा हुआ नाम है। शोध अध्ययन और किताबों के फुटनोटों का अधिक-से-अधिक एक लाइन लिख कर 'मूनिस' को दफना दिया जाता है। 'अब तो लोग स्वराज मिल जाने के उल्लास में स्वराज की नींव के रोड़ों को ही भूल गये हैं। आज 'मूनिस' जी आँखों से ओझल हो गये, पर हिंदी माता की आँखों में चिरकाल तक बसे रहेंगे' (आचार्य शिवपूजन सहाय-पीर मूनिस व्यक्तित्व व कृतित्व) । आजादी के बरसों-बरस बाद और जब इक्कीसवीं सदी दस्तक दे रहा है; दुर्भाग्यवश बिहार के इस बड़े, किंतु इतिहास के हाशिये पर धकेल दिये गये इस पत्रकार-लेखक की रचनाएँ किताब के रूप में उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य शिवपूजन सहाय लिखते हैं, 'जब मैं लहेरियासराय (दरभंगा) के पुस्तक भंडार' में था तब उन्होंने अपने लेखों का संग्रह एक प्रकाशक के पास भेजा था। किंतु 1934 ई० से वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों को काटकर कई नत्थियाँ बनाई थी। उसकी सूची मेरे पास भेजी थी। किंतु बिहार के साहित्यक इतिहास की संग्रहित सामग्री उसी भूकंप में नष्ट हो गई थी।

पीर मुहम्मद मूनिस बिहार में अभियानी हिन्दी पत्रकारिता के जन्मदाता थे। वह मूनिस ही थे, जिन्हें बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पंद्रहवाँ अध्यक्ष बनाया गया था। इस फैसले पर इंडियन नेशन ने लिखा, 'मुस्लिम स्कॉलर टू प्रेजाईड : बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन।' वे मूनिस ही थे, जो मुसलमान थे और जिनमें यह माद्दा था कि हिन्दी-उर्दू को मिलाकर 'हिन्दुस्तानी' नाम देने की वकालत कर सकें, वे हिन्दू-उर्दू विभाजन के खिलाफ थे। वह बिहार हिन्दी साहित्य के संस्थापकों में एक थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर मूनिस के विचार-उनके लेख-हिन्दू-मुस्लिम एकता में दिखलाई पड़ते हैं। लेखन, साहित्य और पत्रकारिता के मोर्चे पर सक्रिय मूनिस जनता की आवाज और उनके दमन-उत्पीड़न को कलम से आवाज देते नजर आते ही हैं। इसके साथ वह सशरीर उत्पीड़ितों के पक्ष में खड़े नजर आते हैं।

चंपारण से गाँधीजी के जाने के बाद तीनकठिया तो खत्म हो गया, लेकिन अत्याचार रूका नहीं, तो मजहरूल हक की अध्यक्षता और पंडित राजकुमार शुक्ल के साथ 'रैयती सभा' की स्थापना की और चंपारण में नादिरशाही के खिलाफ की लड़ाई में अगुआ भूमिका में खड़े रहे। निलहों के अत्याचार के खिलाफ लड़ने-लिखने वाले योद्धा-1937 ई० में गन्ना-उत्पादक किसानों के साथ नजर आते हैं और गन्ना किसानों के आंदोलन में बह बिचौलियों की प्रथा को खत्म करने का पक्ष पोषण करते हैं। वे चंपारण में काँग्रेस की स्थापना के साथ ही 1921 ई० से जुड़े रहे। 1937 ई० में कांग्रेस के टिकट पर

चंपारण जिला परिषद के सदस्य चुने गये और बेतिया लोकल बोर्ड के अध्यक्ष बनाये गये। 1937 ई० में उन्होंने अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र दे दिया और व्यक्तिगत सत्याग्रह में जेल गये। नमक आंदोलन के दौरान 1930 ई० में पटना कैंप जेल में तीन महीने की सजा काटी।

अक्सर ऐसा होता है कि जो इतिहास रचता है, उसका इतिहास में नाम नहीं होता। लेकिन जो इतिहास रचता है और इतिहास लिखता भी है, उसका नाम इतिहास में छूट जाये, ऐसा शायद ही होता है। किसी देश की आजादी के पचास साल के बाद भी ऐसा होना महज संयोग नहीं। यह विडम्बना है, जो बताती है कि समाज में इतिहास और वर्तमान के बीच सरोकार का पुल आज भी कितना टूटा हुआ है।

चंपारण-सत्याग्रह के विश्वविश्रुत इतिहास में पीर मुहम्मद मूनिस ऐसा ही 'छूटा' हुआ नाम है। आजाद भारत की नयी पीढ़ी के लिए चंपारण सत्याग्रह का इतिहास पंडित राजकुमार शुक्ल के आमंत्रण से शुरू होता है और महात्मा गाँधी के 'आगमन' पर खत्म होता है। गुलाम भारत में पैदा हुई पीढ़ी की भूली-बिसरी यादों में भी सिर्फ इतना दर्ज है कि, 'बिहार में 1917 ई० में चंपारण सत्याग्रह शुरू हुआ।' भारत में महात्मा गाँधी का यह पहला अहिंसक सत्याग्रह का प्रयोग था। उस प्रयोग की प्रेरणा था चंपारण में निलहों के अत्याचारों से पीड़ित निरीह किसान पंडित राजकुमार शुक्ल की ओर से गाँधीजी को भेजा गया पत्र। वह चर्चित पत्र पीर मोहम्मद ने लिखा था। उस पत्र में दक्षिण अफ्रीका में हो रहे अत्याचारों की चर्चा करते हुए लिखा गया- ''हमारी दुख भरी गाथा उस दक्षिण अफ्रीका के अत्याचार से, जो आप और आपके अनुयायी वीर सत्याग्रही भइयों और बहनों के साथ हुआ- कहीं अधिक है।''

अँग्रेज शासकों के दस्तावेज कहते हैं कि पीर मोहम्मद अपने 'संदेहास्पद साहित्य' के जरिये चंपारण जैसे बिहार के पीड़ित क्षेत्र से देश-दुनिया को अवगत कराने वाला और 'मि० गाँधी' को चंपारण आने के लिए प्रेरित करने वाला पहला 'खतरनाक' और 'बदमाश' पत्रकार था।

वह बदमाश था, क्योंकि उसने अपनी निर्भीक लेखनी से चंपारण में हो रहे निलहों के अमानुषिक अत्याचारों की खबरें हिंदी में सबसे पहले 'ब्रेक' की थी। उसने सबसे पहले 'प्रताप' के जरिये देश दुनिया को उन अत्याचारों का आँखों देखा हाल सुनाया था। वह भी महात्मा गाँधी के चंपारण आगमन के तीन-चार साल पहले था। वह खतरनाक था, क्योंकि उसने निलहों के अत्चायारों के खिलाफ चंपारण की पीड़ित जनता में प्रचंड विद्रोह की ज्वाला धधकायी, और जब महात्मा गाँधी आये तो उनका आगमन उस ज्वाला की वृद्धि में घृताहुति साबित हुआ। इसके गवाह हैं प्रतापी पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी के संपादकत्व में कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' में छपे वे दर्जनों लेख, जिनके माध्यम से पीर मुहम्मद ने आततायी गोरों के भीषण कुकृत्यों का भंडाफोड़ किया था।

पीर मुहम्मद सिर्फ कलम का सिपाही नहीं, बल्कि कलम का सत्याग्रही था। क्योंकि उसने चंपारण की पीड़ा और संघर्ष के बारे में सिर्फ लिखा ही नहीं, बल्कि वह उस लड़ाई में शामिल था। चंपारण सत्याग्रह के इतिहास के उपलब्ध, लेकिन अनछुये पन्ने इसके साक्षी हैं। वस्तुत: सत्याग्रही पीर मुहम्मद मूनिस बिहार में चंपारण की धरती से शुरू होनेवाली अभियानी पत्रकारिता के जन्मदाता थे।

चंपारण के किसान नेता शेख गुलाब आदि के सुझाव पर राजकुमार शुक्ल, पीर मुहम्मद मूनिस लखनऊ गये और गाँधीजी से चंपारण चलने का आग्रह किया। लखनऊ पहुँचने के बाद राजकुमार शुक्ल ने पीर मुहम्मद मूनिस से गाँधीजी के नाम पत्र लिखवाया।

पंडित राजकुमार शुक्ल द्वारा पीर मोहम्मद मूनिस से लिखवाये गये इस पत्र के उत्तर में महात्मा गाँधी

ने लिखा, ''7 मार्च 1917 ई० को कलकत्ता जायेंगे'' और पूछा कि कहाँ मिल सकेंगे। पोस्ट ऑफिस की गलती से यह चिठ्ठी शुक्लजी को सात मार्च के बाद मिली। पर उन्हें पता चल गया था कि महात्माजी दिल्ली वापस चले गये। वह चंपारण लौट आये और यहाँ से उन्होंने पुनः पत्र लिखा। महात्माजी ने 16/3/1917 को पत्र 'जितना शीघ्र हो सकेगा, मैं चंपारण आने की चेष्टा करुँगा,' एक दूसरा पत्र श्रीयुत् पीर मोहम्मद मूनिस, बेतिया के एक उत्साही नवयुवक ने महात्माजी के पास 23 मार्च 1917 को भेजा, जिसमें चंपारण के संबंध में बहुत सारी बातों और घटनाओं का उल्लेख किया। महात्मा गाँधीजी ने पूछा कि किस रास्ते से पहुँच सकते हैं और यह भी जानना चाहा कि यदि वह तीन दिनों तक चंपारण में ठहरेंगे, तो जो कुछ देखाने की आवश्यकता थी, वह सब देख सकेंगे अथवा नहीं। साथ ही महात्माजी ने अप्रैल में वहाँ पहुँच जाने को लिखा। यह पत्र अभी पहुँचा भी नहीं था कि 30 अप्रैल 1917 को उन्होंने शुक्लजी को तार दिया ' मैं कलकत्ता जा रहा हूँ और वहाँ श्रीयुत् भूपेन्द्र नाथ बसु के मकान पर ठहरुँगा। वहाँ आकर मिलें।' इस तार को पाते ही शुक्ल जी कलकत्ता चले गये और वहाँ महात्माजी से मिले और गाँधीजी के साथ पटना लौटे। महात्मा गाँधी पटना से मुजफ्फरपुर होते हुए बेतिया पहुँचे। उन्होंने चंपारण के किसानों की करूण कहानी सुनी। 23 अप्रैल 1917 ई० को पाँच बजे शाम में महात्माजी पीर मुहम्मद मूनिस के घर पर उनकी माताजी से मिलने के लिए पैदल गये।

श्री मूनिस 'प्रताप' के संवाददाता थे और चंपारण में निलहों के अत्याचार को लेकर उन्होंने अनेक लेख लिखे थे, चिट्ठियाँ छपवायी थी। कानपुर के हिंदी साप्ताहिक 'प्रताप' में उसके प्रकाशन के आरंभ काल से ही वे पीड़ित प्रजा की दुःख गाथा नियमित रूप से देशवासियों को सुनाने लगे। प्रताप के प्रतापी संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी के उत्तेजक प्रोत्साहन से वे बड़ी निर्भीकता के साथ आततायी गोरों के भीषण कुकृत्यों का भंडाफोड़ करते रहे। जब बीसवीं सदी की दूसरी शताब्दी के अंतिम चरण में प्रपीड़ित प्रजा की पुकार से आकृष्ट होकर महात्मा गाँधी चंपारण में पधारे तब मूनिस जी विशेष उग्रता के साथ गोरी नौकरशाही के काले कारनामों का रहस्योदघाटन करने लगे। उस युग के 'प्रताप' के पाठकों को स्मरण होगा कि मूनिस जी की ओजस्वी लेखनी से निकली असहाय प्रजा की करूण कहानी कैसी मर्मभेदी होती थी। उन्होंने पद-दलित जनता के हृदय में प्रचंड विद्रोह की ज्वाला धधकाई। महात्मा गाँधी का आगमन उस ज्वाला की वृद्धि में घृताहुति साबित हुआ।

चंपारण में गाँधी के आगमन के पहले पीर मुहम्मद मूनिस 'प्रताप' में चंपारण के अत्याचार को लेकर अनेकों लेख लिख चुके थे- कुछ अपने नाम से कुछ छद्म नाम से। रामवृक्ष बेनीपुरी जी के संपादकत्व वाले 'बालक' में कहानियाँ भी लिखी और 'ज्ञानशक्ति' जैसे पत्रों में देश प्रेम से ओत-प्रोत कविताएँ भी लिखीं। प्रताप के तो वे संवाददाता थे ही !

सत्याग्रही पत्रकार मूनिस चंपारण में गाँधीजी के आने के पहले और जाने के बाद निलहों के अत्याचार और चंपारण की प्रजा की कथा 'प्रताप' के माध्यम से सुनाते रहे। आजादी की लड़ाई में सक्रिय अभियान पत्रकार मूनिस सामाजिक सरोकार और दायित्व से सीधे जुड़े थे। इसकी उन्हें भारी कीमत भी चुकानी पड़ी। उनकी सारी संपत्ति जब्त कर ली गयी। वह मास्टरी से बर्खास्त किये गये। 1918 ई० में झूठे मुकदमें में उन्हें जेल तक जाना पड़ा।

बकौल पीर मुहम्मद मूनिस, 'मैं राज में इतना बदनाम हूँ कि यदि कोई किसी के ऊपर यह दरखवास्त दे दे कि अमुक आदमी मूनिस का दोस्त और मददगार है, तो वह बेचारा नौकरी से बरखास्त कर दिया जाये। अभी हाल ही की बात है, अबुस्मद नाम का एक आदमी राज में नौकर था, अफसरों से किसी ने यह कह दिया कि वह मूनिस जी का हामी और मददगार है। बस, इसी पर बेचारा बेकसूर नौकरी से हटा

दिया गया।'

30 अगस्त 1920 ई० का प्रताप का अंक गवाह है- चंपारण में फिर नादिरशाही छाया। यह लेख दु:खी आत्मा के नाम से लिखा गया। गाँधीजी के जाने के बाद चंपारण में फिर अत्याचार शुरू हो गया। उन्होंने लिखा, ''मिस्टर कुक के यहाँ लड़का पैदा हुआ है। हजारों रैयतों से लड़के की मुँह दिखाई एक-एक रुपया वसूल किया गया। कोठी के साहब बहादुर ने मोटरकार खरीदने के लिए 'हुबली टैक्स' लगाया और रैयतों से पैसे वसूल किये। बेतिया कोर्ट में एक रैयत ने नालिस की थी कि मेरे गांव के ठेकेदार ने मुझसे सौ रुपये जबरन हाथी पाँव में बाँधकर वसूल किये हैं, जब मैंने रूपये देने से इंकार किया तो मुझे जमीन में हाथी द्वारा घसिटवाया गया। रिश्तेदारों द्वारा सौ रुपये दिये जाने पर मेरी जान बची।''

मूनिस जी की स्मृति रक्षा का उपाय होना आवश्यक है। केवल चंपारण को ही नहीं बिहार राज्य के हिंदी प्रेमियों को इसके लिए उद्योग करना चाहिए। अब उनके साहित्य का प्रकाशन ही उनका सच्चा स्मारक हो सकता है।

बत्तख मियाँ

—अली अनवर

राष्ट्रपति बनने के बाद राजेन्द्र बाबू पहली दफा 1950 ई० में मोतिहारी पधारे थे। मोतिहारी स्टेशन पर ही राष्ट्रपति की सभा का इंतजाम था। देश के प्रथम राष्ट्रपति और पूर्व परिचित नेता को देखने और सुनने के लिए पूरा मोतिहारी शहर उमड़ गया था। सभा जब शुरू हुई तो रेल की पटरियों की तरफ से एक नाटे कद का आदमी, सांवला रंग और गोल चेहरा वाला, शरीर मोटा, घुटने तक मोटिया की धोती और गंजी पहने हुए धीरे-धीरे सरकते हुए मंच के पास चला आया। राजेन्द्र बाबू ने उस आदमी को देखते ही अपने पास बुलाया। भरी सभा में उसे गले से लगा लिया और हाल-चाल पूछा। लोग हैरत में थे कि आखिर इस आदमी में क्या खूबी है कि राजेन्द्र बाबू इसे इतना सम्मान दे रहे हैं। राजेन्द्र बाबू जब भाषण करने के लिए उठे तो उन्होंने उस आदमी के बारे में जो कुछ बताया उसका लब्बोलुबाब यह था कि यह वही बत्तख मियाँ हैं, जिनसे निलहे अँग्रेजों ने भोजन में जहर देकर गाँधीजी को मरवा डालने की साजिश की थी, मगर उनकी (बत्तख मियाँ की) सूझ बूझ से एक बड़ा हादसा टल गया।

बेतिया के जनाब अशरफ कादरी ने मुझे यह आँखों-देखा किस्सा अक्तूबर, 1997 में पटना में सुनाया। कादरी साहब पेशे से वकील थे तथा उन्होंने 'राष्ट्रीय आन्दोलन और चम्पारण के स्वतन्त्रता सेनानी' शीर्षक से किताब भी लिखी है। श्री कादरी ने बताया कि राजेन्द्र बाबू जब सभा में लोगों को बत्तख मियाँ के बारे में बता रहे थे तो कई बार पूरा माहौल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। राष्ट्रपति ने अपने भाषण में ही वहाँ के कलक्टर को निर्देश दिया कि बत्तख मियाँ को 50 बीघा सरकारी जमीन दी जाए।

बत्तख मियाँ का जन्म 1867 मौजा सिसवाँ अजगरी, मोतिहारी में हुआ था। राजेन्द्र बाबू के रहस्योद्घाटन से पहले उन्हें बहुत कम लोग जानते थे। बत्तख मियाँ के पिता का नाम मुहम्मद अली था।

गाँधीजी 1917 ई० में चम्पारण की यात्रा पर पहली बार आये थे। उन्होंने निलहे अँग्रेज जमीन्दारों के अत्याचार का जायजा लेने के लिए चम्पारण का सघन दौरा किया। इस दौरे में राजेन्द्र बाबू भी गाँधीजी के साथ थे। उधर बत्तख मियाँ मोतिहारी कोठी के अँग्रेज मैनेजर इरविन के खानसामा थे। गाँधीजी अपने चम्पारण दौरा के सिलसिले में एक दिन मोतिहारी कोठी पहुँचे थे। मिस्टर इरविन ने गाँधीजी को बातचीत के बाद भोजन की दावत दी थी। मेवाराम गुप्त लिखते हैं-''चम्पारण के निलहे अँग्रेजों ने जनाब बत्तख मियाँ अंसारी को बड़ी जागीर का लालच दिया कि महात्मा गाँधी को जहर का प्याला पिलाकर मार डालें। उन्होंने जहर का प्याला लेकर गाँधीजी को बताया कि आपके जानी दुश्मन अँग्रेजों ने आपकी जान लेने के लिए ये जहर का प्याला भेजा है, तो गाँधीजी ने उसे लेकर फेंक दिया। इस तरह बत्तख मियाँ अंसारी ने अपनी इन्सान दोस्ती का सबूत दिया और बाद को वो बराबर काँग्रेस का काम करते रहे।''

अशरफ कादरी लिखते हैं-''चम्पारण में गाँधीजी जब अँग्रेजों के अत्याचारों की छानबीन करने आये और जाँच-पड़ताल शुरू कर दी तो चम्पारण के हर कोने से बेतिया और मोतिहारी में जनता की भीड़ आने लगी। वहाँ अँग्रेजों की ओर से कोई गवाही देने को तैयार नहीं था, बल्कि सभी व्यक्ति अँग्रेजों के विरुद्ध थे। इस कारण अँग्रेजों ने एक योजना के अनुसार गाँधीजी को भोजन में विष देने की चाल चली। बत्तख मियाँ को बुलाकर अफसर ने कहा कि तुम खानसामा हो और भारतीय हो, इसलिए तुम पर कोई

शक नहीं करेगा। अगर तुम गाँधीजी को सूप में विष मिलाकर पिलाने में सफल हो गये तो तुम्हें धन-दौलत और जमीन से मालामाल कर दिया जायेगा। अगर तुम ऐसा नहीं करोगे तो नौकरी से निकाल दिये जाओगे। जायदाद जब्त कर ली जायगी और तुम्हारी जिन्दगी हर तरह से नष्ट कर दी जायगी। इन धमकियों के बावजूद बत्तख मियाँ के कारण गाँधीजी की जान बच गयी। गाँधी जी के जाने के बाद अँग्रेजों ने बत्तख मियाँ की सारी जायदाद जब्त कर ली। उन्हें नौकरी से निकाल दिया और लगातार उन्हें कष्ट देते रहे।

दुनियाँ में कई तरह के लोग होते हैं। एक वो होते हैं जो किसी पर किये एहसान का ढिंढोरा पीटते चलते हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो भलाई को अपना कर्त्तव्य मानते हैं तथा जिनका उसूल होता है, नेकी कर दरिया में डाल। बत्तख मियाँ दूसरी कोटि के इन्सान थे जो नेकी कर भूल जाते हैं। बत्तख मियाँ चाहते तो इस घटना को बहुत भंजाते। मगर कभी उन्होंने ऐसा नहीं किया। नौकरी से निकाल दिये गये। अपनी तमाम जमीन जायदाद से हाथ धो बैठे, अँग्रेजों की यातना सही, लेकिन कभी इसका प्रचार नहीं किया। गाँधीजी की जान बचाने का 'राज' तो शायद बत्तख मियाँ के मरने के बाद उनके साथ ही कब्र में दफन हो गया होता, यदि इसका रहस्योद्‍घाटन राजेन्द्र बाबू ने उस दिन मोतिहारी की खुली सभा में नहीं किया होता।

बत्तख मियाँ का निधन 1957 ई० में हो गया। उनके निधन की सूचना जब डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को मिली तो उन्होंने उनके बच्चों को 3 दिसम्बर, 1958 को दिल्ली बुलाया। उन्हें अपने घर में ठहराया, उनके साथ फोटो खिंचवाया तथा उन्हें सम्मान-पत्र दिया। स्व० बत्तख मियाँ के पुत्र जान अंसारी अब बूढ़े हो चले हैं। उनको जो 50 बीघा सरकारी जमीन राष्ट्रपति के निदेश पर मिली उसमें से अधिकांश बंजर और जंगली भूमि है। चम्पारण के डाकुओं के डर से उस जमीन पर कोई जाता नहीं। बिहार के राज्यपाल डॉ० ए०आर० किदवई ने स्व० बत्तख अंसारी के पौत्र को राजभवन में नौकरी देने का आश्वासन दिया दिया था, लेकिन आज तक उसे नौकरी नहीं मिली। बिहार विधान परिषद् के सभापति प्रो० जाबिर हुसेन ने भी इस लड़के को अपने यहाँ नौकरी देने का आश्वासन दे रखा था। लेकिन उसे नौकरी नहीं मिली है। हालांकि इस बीच परिषद् में बहालियाँ बहुत हुई हैं।

सन्दर्भ

1. 'हिन्दुस्तान की जंगे आजादी के मुसलमान मोजाहिरीन', मेवाराम गुप्त, पृष्ठ 229

2. 'राष्ट्रीय आन्दोलन और चम्पारण के स्वतन्त्रता सेनानी', अशरफ कादरी, पृष्ठ 60-61

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

–प्रोú बीú बीú शर्मा

हिंदी नवजागरण के मुख्य केंद्र पूर्वांचल में ही रहे। इलाहाबाद, बनारस, पटना। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामचंद्र शुक्ल, महादेवी वर्मा, प्रसाद, प्रेमचंद, रेणु, दिनकर, शिवपूजन सहाय, नागार्जुन और कड़ियों की कड़ी महापंडित राहुल सांकृत्यायन। बिहार तो सदियों से वैचारिक मंथन का केंद्र रहा है। मनुष्य की मानस-गंगा यहाँ गहरी हो जाती है। हिंदी की पुस्तकें-पत्रिकाएं सर्वाधिक यहीं पढ़ी जाती हैं। इस जंबू द्वीपे-भारत खंडे में जड़ता और कूढ़मगजी के खिलाफ कुछ भी सोचना करना है तो इस भागीरथी विस्तार में आना ही पड़ता है।

ज्ञान और कर्म की प्रयोग भूमि है बिहार। हिंदी में पूर्वांचल के लेखन का कोई शानी नहीं है। बिहार के लिए राहुल सांकृत्यायन की देन इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे लेकर कोई भी बिहारी अपनी उद्‌बुद्ध चेतना से गतिशील हुए बिना नहीं रह सकता। बिहार की अस्मिता राहुल जी के सृजनात्मक विवरण में प्रतिबिंबित है। केदार नाम का जो लड़का ननिहाल से भागा था वह भी ईसा और सिद्धार्थ गौतम की तरह स्वयं भी अपनी अस्मिता पाने के लिए बेचैन था। वह स्वयं में दुनिया को और दुनिया में स्वयं को खोज रहा था। आत्मसाक्षात्कार का यह प्रबल प्रयत्न था। इस प्रक्रिया के लिए बिहार से अच्छी प्रमाणित भूमि भला और क्या हो सकती थी। 'मणिना वलयं वलयेन मणि' की तरह राहुलजी बिहार से जुड़े रहे। छपरा, बक्सर, पटना, हजारीबाग से उनकी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। इतिहास, दर्शन, धर्म, साहित्य और ज्ञान के अकूत भंडार के रूप में जो पांडुलिपियाँ राहुलजी तिब्बत, चीन, मध्येशिया, लंका इत्यादि जगहों से लेते आये वे सभी पटना पुरातत्वागार की थाती हैं। बिहार सौभाग्यवान है उनके इस आशीर्वाद से।

जिस काशी ने तुलसी और कबीर को रगेद रखा था उसी काशी ने राहुलजी को महापंडित की उपाधि दी। वस्तुत: ज्ञान के क्षेत्र में राहुलजी का जो गुणात्मक और परिमाणात्मक अवदान है वह किसी भी मुक्त मस्तिष्क व्यक्ति के लिए दाँतों तले ऊँगली दबाने लायक है। अविश्वसनीय है उनका कार्य-संसार! लगता ही नहीं है कि यह सारा कार्य एक व्यक्ति का है। अकेले उन्होंने जो किया वह एक काफिले के भी बूते की बात न थी।

राहुलजी तो बिहार के भगवान बुद्ध जैसे अवतारी पुरुष थे। उनके माध्यम से बिहार को एक नई प्राण-प्रतिष्ठा मिलती है। लोग उन्हें पढ़कर नई जिजीविषा हासिल करने लगते हैं। हर जागरूक बिहारी ने उनकी कृति बोल्गा से गंगा पढ़ी है। इस किताब में जो ऐतिहासिक सच्चाई सामने आयी उससे बिहार फिर से उठ खड़ा होने में बल महसूस करेगा।

राहुलजी के रोम-रोम में सुगत (बुद्ध) गिरा का दिव्य दाय बसा हुआ है। सम्यक संबोध को-प्राप्त ज्ञान को- आचार (धम्म) और कर्म (संघ) में बदलने की प्रक्रिया जैसे सिद्धार्थ ने पूरी की वैसे ही महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन अपने पांडित्य से संतुष्ट नहीं हुए; पांडित्य को जीये बिना और बाँटे बिना वे रह ही नहीं सकते थे। उन्होंने सनातन संस्कार को केंचुल की तरह उखाड़ फेंका। अपनी राह स्वयं बनायी। विद्या और अविद्या के आरण्यक अंधकार को सिंह की तरह दहाड़ते हुए पार किया। वे अमिताभ बन गये। पूर्वांचल के बौद्धिक मनीषा को झकझोड़ दिया। असहयोग आंदोलन में भाग लेना, स्वामी सहजानंद के अनुरूप किसान आंदोलन में कूद पड़ना, साम्यवादी बनना, जेल जाना- उनकी असीम ऊर्जा

के कितने-कितने आयाम हैं! बिहार के साहित्यकारों में यह धारा आगे भी बढ़ी। रेणु, नागार्जुन, बेनीपुरी और अन्य अनेक रचनाकार बिहार में एक्टीविस्ट भी हैं और रचनाकार भी; बल्कि एक्टीविस्ट रचनाकार की गरिमा यहाँ ज्यादा ही है।

ऐतिहासिक लेखन इतिहास में खो जाने के लिए नहीं होता है, अपितु वर्तमान की समस्याओं के हल के लिए होता है। राहुल जी ने वर्तमान और भविष्य के लिए भूत को खंगाला। आगे की छलांग के लिए पीछे हटे। इतिहास दुधारी तलवार है। अतीतजीवी लोग प्रतिक्रियावादी पतन में जा सकते हैं। इतिहास तभी तक हथियार है जब तक उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। विकास ह्रास को देखना पड़ता है।

साम्राज्यवाद विरोधी लेखकों में सबसे प्रखर लेखन राहुल सांस्कृत्यायन का था। इस चेतना की अभिव्यक्ति में उनकी स्पष्टता, बेबाकीपन, एक रेखीयता और त्वरा बार-बार सामने आ जाते हैं। वे आजादी को वर्गीय दृष्टि से देखते थे। किसान और मजदूर के पक्ष में भारतीय गणतंत्र का निर्माण हो यह उनकी दृष्टि थी। उनकी सांस्कृतिक दृष्टि भी इसी भावना के अनुरूप थी। केवल बुद्ध धर्म ही उन्हें प्रिय लगे जहाँ हिंदू वर्णवाद का विरोध था। ब्राह्मणवाद के विरुद्ध राहुल सांकृत्यायन का हमला किसी ईर्ष्या-द्वेष की ग्रंथि से न था, वे उसे आजाद भारत के लिए अभिशाप मानते थे। अंधविश्वास, वर्णव्यवस्था, जातिवाद, सम्प्रदायवाद एवं अन्य सामंती सोच के खिलाफ बिहार में जो चेतना है उसके पीछे राहुलजी जैसे मनीषी का योगदान निर्विवाद है।

राहुल सांकृत्यायन अर्थात घुमक्कड़ जिज्ञासा थे। परिब्राजक थे। चरैवेति-चरैवेति- चलते रहो, चलते रहो, थे। विश्व ही उनका विद्यालय था। बिहार में आते ही मानो पूरी ज्ञान परम्परा राहुल के विराट व्यक्तित्व में समा गई। विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, गार्गी, जनक, बुद्ध, आनंद, चाणक्य, महेंद्र-संघमित्रा, नागार्जुन, अश्वघोष, धर्मकीर्त्ति, धर्मरक्षित, सरहपाद, पद्मसंभव, दीपंकर, वाणभट्ट और न जाने कितने विहारों-चैत्यों में दफन आत्माएँ राहुल में हिल्लोरें मारने लगीं। बनारस से कलकत्ता, कलकत्ता से लंका, दक्षिण प्रायद्वीप, कुर्ग, हिमालय, नेपाल, लद्दाख, तिब्बत, भूटान, चीन, इंगलैण्ड, यूरोप, कोरिया, मंचूरिया, मध्येशिया, रूस, इरान- अनेक देश- अनेक बार। तीसरी कक्षा में पढ़ा नवाजिन्दा-बाजिन्दा का शेर, उनके जीवन का रक्त-संचार बना हुआ था-

सैर कर दुनिया की गाफिल

जिंदगानी फिर कहाँ

जिंदगी गरचे रही तो

नौजवानी फिर कहाँ।

इस पर्यटनवादी मानववादी ने बिहार के बौद्धिक संस्कार को शाश्वत क्रांतिकारी बना दिया है। उनके लेखन में एक विस्फोट है- भीतर भरा हुआ लावा- निकलने को आतुर- भाषा बेचारी बोझतले दबी-दबी सी- फिर भी भार-वहन को लाचार। गद्य साहित्य का ऐसा तुमुल सागर अन्यत्र कहाँ!

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में एक ऐसे भारतीय गोत्र का निर्माण किया था जो छद्म चेतना, झूठे आत्मगौरव और कूपमंडूकी ज्ञान का दंभी था। यह पुरातनपंथी गोत्र वैज्ञानिक सत्यों, आधुनिक राजनैतिक विचारों, भ्रातृत्व, स्वतंत्रता और समता के सिद्धांतों को अभारतीय और अनावश्यक मानकर उनका तिरस्कार करता था। वेद, वेदांत, ब्रह्मविद्या, ज्योतिषीय फलाफल, वर्णाश्रम व्यवस्था,

पुनर्जन्म, भाग्यभरोसेपन इत्यादि नाना प्रकार के जंजीरों से जनगण को बांधना ही इस गोत्र का धर्म है। भारत में यह शाश्वत क्रांतिविरोधी धारा है। इस धारा से साम्राज्यवादियों, फासीवादियों और वर्चस्ववादियों को फायदा-ही-फायदा है। हिंदी क्षेत्र के पूर्वांचल में जिस एक लेखक ने इस गोत्र के जाल-जंजाल को काटने का काम किया, वो थे राहुल सांकृत्यायन। राहुल के तीखे बाणों से इस गोत्र का घोंसला तार-तार हो गया। आध्यात्मिकता के ऊहापोह में फँसा भारतीय, अँग्रेज और उसके देशी गुर्गों के अनैतिक कार्य-व्यपार को सह लेता था। जनगण की मुक्ति का मार्ग केवल भाववाद से प्रशस्त नहीं हो सकता। राहुलजी ने इस गोत्र के सामंतवादी चिंतन और उसके सांस्कृतिक हथियारों पर जोरदार हथौड़ा चलाये। महाराष्ट्र में अंबेडकर और बिहार में राहुल-ज्ञान-क्षेत्र के वृहदाकार योद्धा थे।

राहुलजी ने बुद्ध के मंत्र निकाय को जीवन-यात्रा का मूल माना। उपदेश, सिद्धांत, गुरुवाणी, महाजनः येन गतः सपंथा- ऐसा कुछ भी स्वीकार्य नहीं। ये सब नाव की तरह हैं। हम अपने गंतव्य की तरफ बढ़ें, हम अपने जीवन की सार्थकता की पहल करें- यह जरूरी है। साधन साध्य न बन जाय- यह जरूरी है। बिहारी अपना चेहरा राहुल सांकृत्यायन द्वारा निरूपित दर्पण में क्या, क्यों और कैसे देखे?

अकारण ही आज बिहार की पहचान खो गई है। विकास के पायदान पर हम नीचे लुढ़क रहे हैं। तथाकथित विकसित राष्ट्रीयताओं बंगाली-पंजाबी के लिए हम हँसी के पात्र हैं। पहचान पाये बिना विकास का स्वरूप तय नहीं होगा। हमें अपना आदर्श स्वयं ही बनना है। राहुल की रचनाओं में स्वयं को देखें-

335 ई० पू० है। तक्षशीला में विष्णुगुप्त का सहपाठी नागदत्त है। अरस्तू से मिला; अरस्तू में क्या देखता है- "अरस्तू की सबसे बड़ी बात जो उसे पसंद आयी वह थी, सत्य की कसौटी दिमाग नहीं, जगत के पदार्थ प्रकृति है। अरस्तू प्रयोग-तजुर्बे को बहुत ऊँचा स्थान देता था। नागदत्त को अफसोस होता था कि भारतीय दार्शनिक सत्य को मन से उत्पन्न करना चाहते हैं।"

ऐतिहासिक विकास चक्रवर्ती राजा की माँग कर रहा है- "अरस्तू ने आदर्श गण की जगह 'आदर्श' राजा चक्रवर्ती की कल्पना की। मेरा सहपाठी विष्णुगुप्त चाणक्य भी मगध में चक्रवर्ती खोजने गया था।"

50 ई० पू०- कनिष्क का समकालीन साकेत (अयोध्या) और पाटलिपुत्र का निवासी- महान कवि-दार्शनिक कविता की परिभाषा बता रहे हैं- "कविता भीतर की अभिव्यक्ति बाहर नहीं हैं, बल्कि वह बाहर की अभिव्यक्ति भीतर है।" बौद्धधर्म की भिक्षु परम्परा- जात-पात विहीन विश्व नागरिक जैसे- धर्मरक्षित इस देश में आकर भिक्षु नहीं बने। वह मिस्र में अलसंद (सिकंदरिया) के विहार में भिक्षु बने।"

-"यवन सारे बौद्ध धर्म को क्यों मानते हैं?"

-"क्योंकि वह उनकी मनोवृत्ति और स्वतंत्र प्रकृत्ति के अनुकूल मालूम होता है। यहाँ बौद्ध ही सबसे उदार धर्म है।"

अश्वघोष को धर्मरक्षित ने कहा- "ब्राह्मण कुमार! दर्शन को भी बुद्धों-ज्ञानियों के धर्म में बंधन और भारी बंधन (दृष्टि-संयोजन) कहा गया है।" बौद्धधर्म पर आगे धर्मरक्षित ने कहा- "आत्मवाद है, कुमार। ब्राह्मण आत्मा को नित्य, ध्रुव, शाश्वत, तत्व मानते हैं, बुद्ध जगत के भीतर-बाहर किसी ऐसे नित्य, ध्रुव, शाश्वत तत्त्व को नहीं मानते, इसी लिए उनके दर्शन को अनात्मवाद, अनित्यता, क्षण-क्षण उत्पत्ति-विनाश का दर्शन कहते हैं। बुद्ध परिवर्तन चाहते थे। भिक्षु संघ कुल नहीं गुण देखता है।" चांडाल कुल के भी काले-काले भिक्षुक हैं।

परिवर्तन के चक्र में घूमता बिहार- 420 ई०।

"पश्चिमी उत्तरापथ गंधार में अब भी मधुपर्क में वत्स मांस दिया जाता है, किंतु मध्यदेश (युक्तप्रांत-बिहार) में गोमांस का नाम लेना भी पाप है।" अनेक जन निम्नस्तर के ब्राह्मण बन गये हैं। उन्हें नागर ब्राह्मण कहा जाता है। सुपर्ण यौधेय उन्हीं में से एक है। अश्वघोष का अनुयायी हैं। कालिदास राजकवि हैं, कहते हैं- "मैं सिर्फ कवि हूँ। अवश्घोष कवि और महापुरुष दोनों थे। उनके लिए संसार के भोग कोई मूल्य नहीं रखते थे, मेरे लिए सुंदरियाँ चाहिए, सुरा चाहिए, प्रसाद और परिचारक चाहिए।" यह है फर्क बिहार (अश्वघोष और उज्जयनी (कालिदास) की संस्कृति का।

630 ई०- हर्षवर्द्धन का राजकवि वाण ठेठ बिहारी है। सोननदी के दाहिने किनारे पर अवस्थित प्रीतिकूट का निवासी है। अमीर बाप का बेटा है। हर्ष चरित् और कादम्बरी में उनका व्यक्तित्व खूब उभरा है। मस्तमौला फक्कड़ कवि है। नाटकमंडली लेकर घूमता रहता है। आखिर तो अश्वघोष की परम्परा का है जो पाटलिपुत्र से सुदूर उत्तरापथ चले गये थे। आगे सरहपा- भिखारी ठाकुर इसी परम्परा से पैदा होंगे। राहुलजी ने दुर्मुख नाम से इनकी व्याजस्तुति की है। दुर्मुख कहता है- "नालंदा में देश-देशान्तरों की विचित्र खबरें बहुत मिला करती थीं इसीलिए मैं एक-दो वर्ष पर्यटन कर फिर छह महीने के लिए नालंदा चला आता हूँ।"

630 ई० के बाद 1300 ई० आया और राहुल जी के मस्तिष्क में पुनः बिहार का बाबा नूरदीन आ गया। अब मुस्लिम बादशाहों ने भारत को ही अपना घर बना लिया है। हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई का जमाना आ गया है। हिलसा (नालंदा) के लूटे गये ढ़हे बौद्ध मठ में एक सूफी संत जम गया है। प्रेम का पाठ पढ़ाता है। बाबा नूरदीन से एक मुल्ला बहस करने लगा- "यह हिंदू काफिर नहीं तो और कौन है?" बाबा नूरदीन ने कहा- "सभी में वही नूर समाया है।"

मुल्ला चिढ़ा- "तुम्हारा यह सारा तसव्वुफ (वेदांत) इस्लाम नहीं, गुमराहियत है।"

नूरदीन स्थितप्रज्ञ रहे- "हम नदिया एक घाट बहुतेरे के माननेवाले हैं।"

इस प्रकार गंगा-सोन-गंडक-कोशी सब जगह हिंदू-मुस्लिम एकता की धारा बहने लगी है। एकता का पाठ पढ़ रहा है बिहार।

1800 ई० आते-आते राहुलजी का इतिहास-बोध पुनः बिहार आ जाता है। सोनपुर मेले में रेखा भगत के साथ राहुल जी बैठे हैं। जमींदारी प्रथा में अँग्रेजों ने कतरा-कतरा खून चूसना शूरू कर दिया है। पटवारी, पंडित, ग्वाला-सोनपुर मेला। यहाँ कहाँ जात-पात-भीड़ ही भीड़ है। सोनपुर मेला सम्पूर्ण बिहार है। एशिया का सबसे बड़ा मेला है। गरीब-अमीर, छूत-अछूत सब एक घाट पर हैं। यह दुःख के भी घाट हैं। अँग्रेजी राज है- धन विदेश जा रहा है- अतः ख्व्वारी है।- "सैकड़ों बड़ी-बड़ी नावें वहाँ से पार होती देखी जायेंगी। इनमें से अधिकांश पर कम्पनी का माल है, जिनमें से कितना ही विलायत से आकर ऊपर की ओर जा रहा है। पटना से बजरा नीचे की ओर जा रहा था, जो शोरा, कालीन आदि कितनी ही चीजें विलायत ले जा रहा था। 1857 के गदर की पृष्ठभूमि बिहार में बन रही है। लोगबाग अँग्रेजी राज की सच्चाई समझ रहे हैं।

1942 ई० आते-आते पुनः महापंडित बिहार पर टिकते हैं। मानो सम्पूर्ण भारत के भावी इतिहास के निर्माण का भार बिहारियों पर डाल रहे हैं। नायक है अछूत जात का रविदास सुमेर। पटना विश्वविद्यालय में एम० ए० का छात्र है। (बाबू जगजीवन राम बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में थे।) गंगा के बाढ़ से

पटना को बचाने के लिए युवकों के साथ है। दीघा घाट पर डटा है। ओझाजी गाँधीवादी हैं और सुमेर साम्यवादी। उसे गाँधी के हरिजन शब्द से सख्त चिढ़ है। वह अंबेडकर की सीमा भी पहचानता है। सुमेर विज्ञान और नई टेक्नोलॉजी का समर्थक है- मानों डेंग सियाओ पिंग की आत्मा उसमें बसी है। सुमेर और भगत सिंह में फर्क करना मुश्किल है- कहता है- "सभी शोषक जबरदस्त धर्मप्राण होते हैं ओझाजी!" मजदूरीन का बेटा सुमेर- बिहार का भविष्य सुमेर। सुमेर दो सौ दिन जिन्दा रहा। उसने दो सौ जापानी (फासीस्ट) जहाजों को नष्ट किया। वह बमवर्षक जहाज का कप्तान था। शहीद हुआ। तो यह है राहुल सांकृत्यायन की नजर में बिहार। राहुल सांकृत्यायन बिहार-गौरव हैं और रहेंगे।

पुनश्च:

1. बिहार के छठ पर्व के प्रसंग में- राहुल जी जब शकों के आदिवास की जगह घूम रहे थे तो ठीक उसी दिन उसी तरह गाँव-गाँव में छठ-पूजा होते देखी जैसी बिहार में होती है- वही ठेकुआ, वही धूपबाती, वही सूप-मौनी।

2. भिखारी ठाकुर को उन्होंने भोजपुरी का शेक्सपीयर कहा। उन्होंने बाइसवीं शदी के भारत की कल्पना की।

मानवीय समानता और मानवीय गरिमा के इतने बड़े पोषक को बार-बार नमस्कार।

आचार्य शिवपूजन सहाय

–डॉú सत्येन्द्र कुमार पाठक 'प्रियेश'

आधुनिक हिन्दी-गद्य-साहित्य के पुरोधा पुरुषों में एक अत्यंत समादृत नाम आचार्य शिवपूजन सहाय बिहार की एक ऐसी विभूति थे, जिन्हें किसी प्रांत की सीमा में रखकर देखना अपनी ही संकीर्णता और अज्ञानता का परिचायक होगा। उन्हें 'हिन्दी-भूषण' उपाधि के साथ याद किया जाता है। गद्य के क्षेत्र में विषय-वस्तु की असीमता के साथ ही भाषा और शैली पर जैसी असाधारण पकड़ का परिचय शिवजी ने दिया था, उसने हिन्दी गद्य को बहुत गहरे और दूर तक प्रभावित किया था। ऋषितुल्य व्यक्तित्व वाले उन महान साहित्यकार का व्यक्तित्व अपने हर पहलू पर आदर्श का एक प्रतिमान दिखाई पड़ता है।

आचार्य शिवपूजन सहाय के विशाल साहित्यिक भण्डार में उनके निबंधों का विशेष महत्त्व है। उनके निबंधों में ग्राम, नारी, राष्ट्र, राष्ट्रभाषा, भाव-मनोविकार, पौराणिक चरित्र, ऐतिहासिक कथाएँ, पुस्तकालय, सौंदर्य, साहित्य आदि विविध विषयों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-निबंध उतना विपन्न नहीं है, जितना प्रचलित साहित्यिक इतिहासों को पढ़ने से और स्कूल-कॉलेजों के लिए संपादित पाठ्य-पुस्तकों से लगता है।

सहाय जी की विशाल युग-चेतना में अपने प्रांत बिहार के गौरवपूर्ण इतिहास का उद्घाटन और बहुविध विकास की चिन्ता उल्लेखनीय महत्त्व रखती थी। उन्होंने प्राय: संपादकीय मंच से ही अपना लेखन-व्यापार चलाया, परन्तु बिहार के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक और भौगोलिक स्थितियों पर इतना महत्त्वपूर्ण लिखा कि उसका अन्य उदाहरण आज तक संभव नहीं हो सका। अपने समय में एशिया के एक महत्त्वपूर्ण शोध संस्थान बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की स्थापना में उनकी परिकल्पना और उनके योगदान का इतिहास दुहराने की यहाँ कोई प्रासंगिकता नहीं है, परन्तु परिषद् को पुस्तक संग्रह और प्रकाशन के क्षेत्र में जो राष्ट्रीय गौरव प्राप्त हुआ था, उससे परिचित होना भी आज एक ज्ञानात्मक उपलब्धि कहा जायेगा। यही नहीं उन्होंने बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की संवृद्धि और प्रतिष्ठा में भी ऐतिहासिक महत्त्व का योगदान किया था। सम्मेलन से प्रकाशित त्रैमासिक साहित्य को लगातार बारह वर्षों तक उनका प्रधान संपादकत्व मिला था।

सर्वज्ञात तथ्य है कि आचार्य शिवपूजन सहाय का पूरा जीवन किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका के संपादन से जुड़ा रहा। 'मतवाला', 'माधुरी', 'हिमालय', 'साहित्य', 'समन्वय', 'मौजी', 'गोलमाल', 'बालक', 'आदर्श' आदि कुल चौदह पत्र-पत्रिकाओं से उनका संपादकीय संबंध रहा। इसके अलावा अन्य पचासी पत्रिकाओं से उनके लेखकीय संबंध के प्रमाण मिलते हैं। बावजूद इसके उन्होंने बिहार के भौगोलिक और सांस्कृतिक परिचय से संबंधित एक पुस्तक की रचना की थी (बिहार का विहार)। उन्होंने अनेक संस्थाओं की स्थापना में महती भूमिका निभायी थी और बिहार के साहित्यिक इतिहास के संपादन-प्रकाशन का प्रारम्भ किया था। ऐसे बहुआयमी, फिर भी ऋषितुल्य मृदुल, सहज तथा सादगीपूर्ण व्यक्तित्व का अन्य उदाहरण हिन्दी-जगत में शायद ही कहीं मिले। गाँवों के समुचित चहुँमुखी विकास और नारियों के उत्कर्ष से संबंधित प्रश्न को सहाय जी ने संवेदना और ज्ञान के साथ ही परम्परा तथा आधुनिकता के सामंजस्यपूर्ण धरातल पर खड़े होकर अपने विचार का विषय बनाया था। उनकी मान्यता थी कि भारतीय साहित्य विश्व साहित्य का मेरुदण्ड है और यह भी कि साहित्य केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है।

आचार्य शिवपूजन सहाय के समग्र रचना-संसार का समुचित अध्ययन-विश्लेषण और मूल्यांकन इसलिए भी आवश्यक है कि उनका विषय-वैविध्य एक तरफ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्मरण कराता है तो दूसरी तरफ संपादकीय व्यक्तित्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के विकसित रूप का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उनकी लोक-चेतना तथा वैयक्तिक सरलता एक तरफ प्रेमचंद की स्मृति ताजा करती है तो दूसरी तरफ 'देहाती दुनिया' जैसी औपन्यासिक कृति भी दे जाती है, जो बाद में आँचलिक उपन्यासों की प्राथमिक आधारभूमि के रूप में चिह्नित की जाती है। ध्यान देने की बात है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सर्वथा भिन्न स्वरूप में 'संतोष', 'धैर्य', 'औदार्य', 'प्रेम और सेवा', 'माधुरी', 'परोपकार' आदि भावों पर सहायजी अनेक निबंध और अग्रलेख लिखाते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि शुक्लजी के निबंधों के प्रेरणास्रोत में मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र की प्रमुखता है, जबकि शिवजी के इन निबंधों में व्यक्ति और सामाजिक चेतना की।

आचार्य शिवपूजन सहाय की अधिकांश रचनाएँ शिवपूजन रचनावली के चार खण्डों में संगृहीत और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से ही प्रकाशित हैं। बावजूद इसके अभी तक पता नहीं क्यों, किस कारण से उनके कृतित्व का समग्रता में मूल्यांकन करने का कष्ट हिन्दी आलोचकों ने नहीं उठाया, जबकि उनके स्तर की सामाजिक प्रतिबद्धता किसी अन्य एक साहित्यकार में प्राय: दुर्लभ ही कही जायेगी। शिवपूजन सहाय के व्यक्तित्व और कृतित्व में जो स्वाभाविक सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वह रचनात्मक ईमानदारी का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। सहाय जी के व्यक्तित्व का एक अत्यन्त प्रमुख आयाम शोधार्थी का था, जिसके उपेक्षित रह जाने के दूरगामी दुष्परिणाम हिन्दी जगत को भुगतने पड़े हैं। लोक-साहित्य से लेकर पुराणों तक और इतना ही नहीं इतिहास और भूगोल के क्षेत्र में भी एक शोधपरक क्रियात्मकता को उन्होंने गति दी थी। आज कहा जा सकता है कि यदि सहाय जी नहीं होते तो 'मतवाला', 'माधुरी', 'हिमालय', 'गंगा', 'समन्वय', 'साहित्य', परिषद-पत्रिका आदि से सम्बद्ध हिन्दी-साहित्य पंगु रह गया होता। यदि सहाय जी नहीं होते और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् अस्तित्व में नहीं होता तो हिन्दी-साहित्य का आदिकाल जैसी कालजयी कृति क्या पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी दे पाते?

आचार्य शिवपूजन सहाय का जन्म 9 अगस्त 1893 ई० को वर्तमान बक्सर जिले के उनवाँस नामक गाँव में हुआ था और उनका परलोकवास मधुमेह से 21 जनवरी 1963 ई० के ब्राह्ममुहूर्त्त में हुआ। इस बीच लगभग आधी सदी तक उनकी रचनात्मक सक्रियता रही। उनकी रचनात्मकता के विविध आयामों से परिचित होने के लिए एक संक्षिप्त विवरिणी यहाँ प्रस्तुत है-

1. बिहार का विहार (भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परिचय): इसमें बिहार के पहाड़, जलवायु, वर्षा, नद, नदी, चिल्का, झील, खनिज, जंगल, वृक्ष, लता, जीव-जन्तु आदि का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

2. विभूति (कहानी संग्रह) 3. देहाती दुनिया (उपन्यास) 4. दो घड़ी (ललित निबंध-संग्रह) 5. ग्राम सुधार 6. अन्नपूर्णा के मंदिर में 7. मेरा बचपन 8. वे दिन: वे लोग 9. बिम्ब-प्रतिबिम्ब 10. मेरा जीवन 11. स्मृति शेष 12. राष्ट्रभाषा और हिन्दी 13. भीष्म 14. अर्जुन 15. माँ के सपूत 16. संसाद के पहलवान 17. अमर सेनानी वीर कुँवर सिंह 18. अपना देश महान 19. खूँटा पंडित।

सहायजी ने संस्मरण, जीवनी और यात्रा-वृत्तांत के क्षेत्र में भी दर्जनों रचनाएँ की थीं। उनकी कुछ प्रमुख जीवनीमूलक रचनाओं की एक संक्षिप्त सूची भी यहाँ देख लेने योग्य है-

परमहंस श्रीरामकृष्ण, दीनबन्धु स्वामी विवेकानन्द, युग प्रवर्त्तक स्वामी विवेकानन्द, हजरत इमाम हुसैन

साहब, बाबू कुँवर सिंह, महाकवि अकबर, पंडित नित्यानंद मीमांसक, मृदंगाचार्य पंडित भोलानाथ पाइक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंडित किशोरी लाल गोस्वामी, रायबहादुर हीरालाल जी, कर्मवीर श्री मूलचन्द्र जी।

पीर अली

—हेमंत

1857 ई० के स्वातंत्र्य समर के श्रीगणेश से भी पाँच वर्ष पूर्व पटना में अँग्रेजी राज्यसत्ता से लोहा लेने के लिए संकल्पबद्ध आजादी के परवानों का एक प्रबल संगठन सक्रिय था। अनेक मौलवी इस क्रांतिकारी मंडल का नेतृत्व कर रहे थे। इस मंडल के सदस्यों में विदेशी राज्यसत्ता के प्रति आक्रोश का प्रचार और प्रसार कर रहे थे। इस क्रांतिकारी मंडल की पैठ पुलिस से लेकर पुस्तक-विक्रेताओं तक में थी। धनी व्यापारी, कर्मचारी और दानापुर छावनी के सिपाही तक इसकी गुप्त बैठकों में भाग लेकर आजादी पाने के लिए अपने प्राणों की शमा जलाने का संकल्प ग्रहण किया करते थे। क्रांतिकारी मंडल के प्रमुख सदस्यों में से एक थे पीर अली।

उनका मूल निवास स्थान लखनऊ था, किंतु वह अनेक वर्षों से पटना में रहकर पुस्तक-विक्रय का व्यवसाय कर रहे थे। विक्रय के लिए जो पुस्तकें वह लाते थे, उनका स्वयं भी अध्ययन किया करते थे। उनमें इतिहास की अनेक पुस्तकें भी होती थीं। उन ग्रंथों के पारायण से उनमें देश की स्वतंत्रता हेतु कुछ कर गुजरने का विचार गहराई तक पैठ गया था। परावलम्बन और पराधीनता से ऊब गया था उनका मन।

स्वातंत्र्य भावना से प्रेरित पीर अली ने दिल्ली और लखनऊ के क्रांतिकारियों से पत्र-व्यवहार कर संपर्क स्थापित किया। पुस्तक-विक्रेता पीर अली को पटना के क्रांतिकारी मंडल में अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। अपने गुप्त संगठन के संपन्न सदस्यों से धन-संग्रह कर उन्होंने पर्याप्त संख्या में लोगों को सशस्त्र किया। साथ ही उन्हें ब्रिटिश राज्य सत्ता के विरुद्ध उचित समय पर क्रांति करने के लिए भी संकल्पबद्ध किया। जब पटना के अँग्रेज कमिश्नर टेलर ने नगर में अत्याचारों और दमन का चक्र शुरू किया, तब पीर अली का खून खौल उठा।

मेरठ में 10 मई, 1857 को हुए क्रांति विस्फोटों की सूचना पाते ही टेलर ने पटना की रक्षार्थ रेट्रे के नेतृत्च में पंजाब से आये दो सौ विश्वासपात्र सैनिक भेज दिया। इनके पटना पहुँचते ही टेलर ने क्रांतिकारी संगठन को समूल उखाड़ फेंकने पर कमर कस ली। तिरहुत के एक पुलिस जमादार वारिस अली की गतिविधियों को संदिग्ध मानते हुए अँग्रेज अधिकारियों ने उसे बंदी बना लिया था। अंततः उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया गया।

इसी तरह गया तथा बिहार के अन्य नगरों में भी क्रांतिकारियों की धरपकड़ शुरू हुई। पटना नगर के अनेक प्रमुख क्रांतिकारियों के नामों की भी टेलर ने टोह ले ली थी। उसने उन सभी नेताओं को एक साथ बंदी बनाने की योजना बनायी। उसे तीन मौलवियों के संबंध में यह ठोस सूचना मिली कि वे क्रांतिकारी मंडल के सदस्य हैं। अतएव उसने इन तीनों को बंदी बनाने के लिए कुटिलता का सहारा लिया।

उसने एक दिन राज्य व्यवस्था संबंधित कतिपय प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने के नाम पर अनेक प्रमुख व्यक्तियों को आमंत्रित किया, जिनमें वे तीनों मौलवी भी शामिल थे। इन सभी को उसने बड़ा आदर भाव दर्शाते हुए अपने घर पर बुलाया। उसने अपने यहा पंजाब से बुलाये गये विश्वस्त सैनिकों को तैनात कर दिया था। बैठक की समाप्ति पर जब निमंत्रित व्यक्ति अपने-अपने घरों को जाने लगे तो टेलर ने उक्त तीनों मौलवियों को रोक लिया और हँसते हुए बोला– ''ऐसी प्रक्षुब्ध स्थिति में आपको

स्वतंत्र रहने देना राज्य की दृष्टि से खतरनाक है। अतएव आप लोगों को बंदी बनाया जाता है।''

टेलर ने ये गिरफ्तारियाँ इस ढंग से की कि पटना में कोई प्रतिक्रिया अथवा अशांति पैदा होने से पूर्व ही सारा कार्य पूर्ण हो जाये। इसी लक्ष्य को समक्ष रखकर इस अंग्रेज अधिकारी ने दस आज्ञाएँ प्रसारित की थीं। प्रथम यह कि पटना के सभी नागरिकों से हथियार ले लिये जाये और दूसरी यह कि रात्रि 9 बजे के बाद किसी भी नागरिक को घर से बाहर नहीं निकलने दिया जाय। उसके दूसरे आदेश के कारण क्रांतिकारियों की गुप्त बैठकों में व्यवधान पड़ने लगा। उनके लिए हथियारों का इकट्ठा करना भी कठिन हो गया।

टेलर के इन आदेशों और दमन-चक्र से पीर अली सरीखे क्रांतिकारी विक्षुब्ध हो उठे। ये दानापुर से निर्देश मिलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि अँग्रेज क्रांति के पौध को समूल उखाड़ फेंकने के लिए जुट गये हैं तो उन्होंने विचार-विमर्श के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि दमन-चक्र में पिसते रहने की अपेक्षा सशस्त्र विद्रोह करना ही श्रेयस्कर है।

3 जुलाई, 1857 को पीर अली के निवास-स्थान पर ही बैठक आयोजित की गयी। उसी में विद्रोह का समग्र कार्यक्रम निर्धारित कर लिया गया।

तदनुसार आजादी का जयघोष करते हुए ये क्रांतिदूत पटना की सड़कों पर निकल पड़े। लगभग दो सौ क्रांतिकारियों का दल नगर के अनेक मार्गों से गुजरता हुआ गिरजाघर के निकट पहुँचा। जब लायल नामक एक गोरा कुछ सैनिकों को साथ लिये इन क्रांतिकारियों को रोकने के लिए आया तो पीर अली की बंदूक से चली एक गोली ने उसे यमलोक पहँचा दिया। तब रेट्रे के नेतृत्व में राजनिष्ठ पंजाबी सैनिक वहाँ आ पहुँचे।

इन राजनिष्ठ सैनिकों के सम्मुख, जो शस्त्रास्त्र संचालन और अनुशासन में भी श्रेष्ठ थे, ये मुट्ठी भर क्रांतिकारी कितनी देर तक टिक सकते थे! अँग्रेजों ने अनेक क्रांतिकारियों को बंदी बना लिया। इनमें लायल को अपनी गोली का निशाना बनानेवाले पीर अली भी शामिल थे।

पीर अली स्वभाव से कठोर, साहसी थे तो वीर शूरवीर भी। उनसे अपने बंधुओं की यंत्रणा देखी नहीं गयी थी। जैसा कि उन्होंने स्वयं भी कहा- ''हम समय से पहले ही उठ खड़े हुए।'' पीर अली को बंदी बना लेने के बाद उनके हाथों और पैरों में हथकड़ियाँ डाल दी गयीं। उनके पैरों में पड़ी बेड़ियों को इतने जारों से दबाया जाता था कि वे उनके मांस में घुस जाती थीं और हथकड़ियों के कारण उनकी कलाइयों से भी रक्त बहने लगता था। अँग्रेजों ने उन्हें प्राणदंड देने का फैसला घोषित कर दिया।

फाँसी देने के लिए जब उन्हें वध-स्तम्भ पर पहुँचाया गया तो उनके मुखमंडल पर वीरोचित मुस्कान खेल रही थी। जब उन्होंने अपने लाड़ले बेटे का नाम लिया तो उनका कंठ कुछ रूंध गया। भावावेश के इस उबाल को उपयुक्त मानकर एक अंग्रेज अधिकारी ने उनसे कहा था, ''पीर अली, अभी भी वक्त है, तुम अपने और साथियों के नाम बता दो और अपनी जान बचा लो।'' तभी निर्भीक पीर अली ने धीरोदात्त स्वर में उस गोरे को जवाब दिया - ''इंसान की जिंदगी में कुछ ऐसे भी मरहले आते हैं, जब जान बचाना जरूरी होता है। मगर अनेक ऐसे भी मौके आते हैं जब अपनी जान बचाने के बजाय अपनी जान कुर्बान करना ही वक्त की माँग होती है। अब तो दूसरे ढंग का मौका ही मौजूद है। इस वक्त तो मौत के बगलगीर होना ही मेरे लिए अमर हो जाने की राह साबित होगी।''

और फिर अँग्रेजों के अत्याचारों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हुए यह शेर दिल इंसान गरज उठा

था- ''तुम मुझे कत्ल कर सकते हो, मेरे जैसे और कई लोगों भी फाँसी के फंदे पर लटका दिये जायेंगे। मगर इस तरह तुम हमारी जंगे-आजादी की परतरिश(पूजन) का सिलसिला कभी भी खत्म नहीं कर पाओगे। मेरी मौत के बाद मेरे लहू के हर कतरे से हजारों बहादुर उठकर खड़े होंगे और तुम्हारी हुकूमत को धूल में मिलाकर ही वे अमन-चैन पा सकेंगे।''

यह भविष्यवाणी करते हुए उस देशभक्त ने मादरे वतन की आन-बान और शान पर तनिक-सा भी धब्बा नहीं पड़ने दिया और मौत का दामन चूमकर इस दुनिया से कूच कर गया। यह महान देशभक्त मृत्यु के द्वार से होता हुआ महान देशभक्तों के प्रभामंडल में सम्मिलित हो गया।

कमिश्नर टेलर ने स्वयं कहा कि ''पीर अली स्वयं एक साहसी और दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति था। यद्यपि उसका रूप बेढंगा था और उसके चेहरे से क्रूरता और कठोरता झलकती थी, किन्तु इस पर भी शांत और संयमी था। उसकी बोलचाल और व्यवहार में शालीनता थी। इस प्रकार के अनेक लोग अपनी अजेय निष्ठा के कारण खतरनाक शत्रु सिद्ध होते हैं। किंतु अपनी कठोर आन के कारण वे किसी सीमा तक प्रशंसा के पात्र भी होते हैं।''[1]

उस वीर को प्राणदंड दिये जाने का समाचार ज्यों ही दानापुर की छावनी में पहुँचा वहाँ के नितांत राजनिष्ठ समझे जाने वाले सैनिकों ने भी 25 जुलाई को क्रांति का जयघोष गुंजा दिया। अँग्रेजों के तोपखाने की भी परवाह नहीं करते हुए तीन भारतीय पलटनों ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। कंपनी द्वारा दी गयी वर्दियाँ भी फाड़कर नदी में बहा दीं और आगे बढ़ चले। मुख्य अधिकारी मेजर लाइड को उसकी वृद्धावस्था ने उन सैनिकों का पीछा करने से रोक दिया तो उसकी देशी सैनिकों की सेना भी इन क्रांति के पुजारियों का पीछा नहीं कर सकी।

पीर अली की शहादत से उनमें एक नये जोश का सागर तरंगित हो उठा था। वे बढ़ते गये और जगदीशपुर का राजमहल इनकी मंजिलें मकसूद बना, जिसके बूढ़े नरकेसरी कुँवर सिंह की भुजाओं और तलवार में अभी भी तेज विद्यमान था। उसी वीरवर की पताका तले संगठित हो रहे क्रांति के पुजारियों की सेना में दानापुर के ये सैनिक भी पीर अली की तमन्ना को पूर्ण करते हुए जाकर शामिल हो गये।

(बनारसी सिंह की पुस्तक 'सन सत्तावन के भूले-विखारे शहीद', भाग-3 में प्रकाशित पीर अली मर्दाना का सम्पादित अंश)

नक्षत्र मालाकार

-हरेंद्र कुमार 'हरि'

7 अगस्त 1942 को महात्मा गाँधी ने 'करेंगे या मरेंगे' का नारा दिया। पूरे भारत में 'अगस्त क्रांति' की आग धधक उठी। 13 अगस्त को 32 साल की उम्र के एक युवक के नेतृत्व में दूरदराज के गाँवों से आये दलित-मुसहरों की निहत्थी भीड़ ने कटिहार रजिस्ट्री कार्यालय को घेर लिया। देखते-देखते कार्यालय भवन और उसमें रखे कागजातों के अम्बार धू-धूकर जलने लगे। भीड़ ने नारा लगाया- 'अँग्रेजो, भारत छोड़ो।' इधर आग की लपटें आसमान छूने लगीं और उधर भीड़ थाने की ओर कूच कर गयी। भीड़ ने फटाफट थाने को घेर लिया। युवक ने थाने के पूर्वी फाटक का कमान संभाला। थाना के अंदर से पुलिस की सशस्त्र टुकड़ी ने मोर्चाबंदी की। लेकिन 'करेंगे या मरेंगे' के समवेत नारे की धमक से थाना दहल उठा। गेट पर गरीब-गुरबों की भीड़ उमड़ी और यूँ रुकी कि युवक के आदेश पाते ही फाटक तोड़ देगी! थाने के अंदर था पूर्णिया सदर एस०डी०ओ० मणिभूषण मुखर्जी। उसने गोली चलाने का आदेश दिया। अंदर से गोलियाँ चलने लगीं। गेट पर सीना ताने सबसे आगे खड़े युवक की बाँह में गोली लगी। वह घायल हो गया। लेकिन वह गेट पर डटा रहा। भीड़ पीछे लौटने की बजाय फाटक का तोड़कर अंदर घुसने लगी। आठवीं कक्षा का छात्र ध्रुव तिरंगा लेकर आगे बढ़ा। धाँय! एक गोली उसके बाएँ पैर में धँस गयी। वह वहीं गिर पड़ा। उसके साथ के लोगों ने तिरंगा थाम लिया। धाँय-धाँय-धाँय!! अंदर से गोलियों की बौछार हुई। वहीं पाँच लोग धराशयी हो गये। शहीद हो गये।

दर्जनों घायल युवकों को अस्पताल ले जाया गया। रात को ही इस सूचना ने कटिहार शहर सहित दूर-दराज के गाँवों के घर-घर में दीयों को रोशन कर दिया कि आज दलित-मुसहरों की निहत्थी भीड़ के साथ मिलकर विद्यार्थी एवं जवानों ने आजादी का बिगुल बजा दिया है। दूसरी ओर यह खबर भी आग की तरह फैल गयी कि पुलिस अस्पताल की घेराबंदी कर रही है। घायल होकर अस्पताल में भर्ती उस युवक को धर-दबोचने, जिसने रजिस्ट्री कार्यालय से लेकर थाने तक के मोर्चे में गरीब दलित-मुसहर आंदोलनकारियों की कमान संभाली थी। वह युवक थाने के पूर्वी फाटक में सबसे आगे था और पुलिस की पहली गोली उसकी बाँह में लगी थी। उसी वक्त पूर्णियाँ की गरीब जनता में हौसला और अँग्रेज हुकूमत के अलमबरदारों में दहशत पैदा करने वाले उस युवक का नाम हजार-हजार कंठों से फूटा पड़ा था- नक्षत्र मालाकार! नक्षत्र मालाकार जिंदाबाद!

सुबह हजारों की भीड़ अपने युवा नायक के दर्शन के लिए अस्पताल की ओर उमड़ पड़ी। अस्पताल को पुलिस ने घेर रखा था। भीड़ गेट पर रुक गयी। भीड़ में से कुछ वयस्क आगे बढ़े, लेकिन पुलिस ने नहीं टोका। आश्चर्य! वे अंदर की ओर कदम बढ़ाते, इसके पहले ही दरवाजे पर खड़े सिपाही ने कानाफूसी के स्वर में कहा- ''चिड़िया तो फुर्र हो गयी! देखते नहीं, दारोगा साहेब के चेहरे पर हवाई उड़ रही है!'' अंदर पुलिस का कोई अधिकारी अपने साथ के पुलिसकर्मियों को आदेश दे रहा था- ''पूरे इलाके को एलर्ट कर दो। हर घुड़सवार को पकड़ लो। वह किस ओर गया है, नहीं मालूम, लेकिन उड़ती सी यह जानकारी मिली है कि वह घोड़े पर सवार है। घायल नक्षत्र पुलिस के आने के पहले ही घोड़े पर सवार होकर घर गया और परिवार से मिलकर तत्काल रुपौली रवाना हो गया है- वहां के थाने पर हमला बोलने! लेकिन वहाँ उसको पहचानना और पकड़ना संभव नही है। थाने पर हजारों के भीड़ है।''

पुलिस ने इलाके में हर चार-चार मील पर कायम मिलिटरी के तमाम अड्डों को सूचना दी। पुलिस और सीआईडी विभाग ने रिपोर्ट भेजी- ''नक्षत्र मालाकार और उसके सहयोगी हमेशा घोड़ों पर ही घूमते हैं। इसके चलते ही वे पुलिस की पकड़ में नहीं आते। हालांकि हमें घुड़सवार नक्षत्र को पकड़ना है, क्योंकि बिना घोड़ों के असली नक्षत्र को पहचानना भी असंभव है! पैदल नक्षत्र तो गरीबों के गाँव-घर में रहता है, लेकिन पूरे इलाके में एक भी गरीब-दलित ऐसा नहीं, जो हुकूमत की धमकियों से डिग जाये और असली नक्षत्र के छिपने का पता-ठिकाना बता दे।''

पुलिस और मिलिटरी वालों ने घुड़सवार नक्षत्र को पकड़ने के दिन-रात एक कर दिया। वे लोग इलाके में हर घुड़सवार को पकड़ते, मारते-पीटते और पूछते- ''बोलो, तुम नक्षत्र हो?'' सैकड़ों घुड़सवारों को पकड़ने-धमकाने के बावजूद न तो नक्षत्र मिले और न ही उनका पता-ठिकाना!

यूँ 1929 ई० से 1947 ई० के बीच नक्षत्र मालाकार 9 बार गिरफ्तार हुए, लेकिन हर बार वह तभी गिरफ्तार हुए, जब उन्होंने सत्याग्रही के रूप में 'जेल भरो आंदोलनों' में शिरकत की अथवा ऐसे संघर्षों का नेतृत्व किया। ब्रिटिश हुकूमत अपनी रणनीति के तहत कभी उन्हें पकड़ नहीं सकी!

नक्षत्र का जन्म पूर्णिया जिले के समेली ग्राम में 9 अक्तूबर, 1910 ई. को हुआ था। उनके पिता का नाम श्री लब्बू मालाकार था। माता का नाम था श्रीमती लक्ष्मी देवी। बड़े भाई बौधनारायण मालाकार आजादी के आंदोलन में काँग्रेसी कार्यकर्ता थे।

स्वतंत्रता संग्राम में नक्षत्र की भागीदारी सत्याग्रही के रूप में 1929 ई० से शुरू हुई। उस वक्त गाँधीजी की अगुवाई में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ था। पूरे देश में इसकी लहर थी। नक्षत्र मालाकार को गाँधीजी ने प्रभावित किया। उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर सत्याग्रहियों को एकजुट किया। गाँधीजी ने दांडी मार्च के जरिये 'नमक आंदोलन' छेड़ा, तो बिहार में जगह-जगह नमक बनाकर और बेचकर अँग्रेजी शासन के नमक कानून को तोड़ने का आंदोलन छिड़ गया।

नक्षत्र मालाकार ने इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

सत्याग्रही के रूप में पहली बार की गिरफ्तारी में नक्षत्र मालाकार शाहाबाद (वर्तमान आरा) जेल में थे। उसी दौरान उनके संघर्षशील व्यक्तित्व और नेतृत्व क्षमता का उद्घाटन हुआ जब जेलर के अत्याचारों के खिलाफ कैदियों का अनोखा विद्रोह शुरू हुआ। तमाम राजनीतिक कैदियों ने उनके नेतृत्व में भूख हड़ताल शुरू की। जेल के नियम-कानूनों की अवज्ञा की स्पष्ट घोषणा की। उन्होंने जेल पदाधिकारियों के अभिवादन की परंपरा को मानने से इनकार किया। भूख हड़ताल के साथ मौन धारण कर लिया।

मौन और भूख हड़ताल की सूचना मिलते ही जेल सुपरिटेंडेंट मोदी साहब दौड़े-दौड़े आये। भूख हड़ताल कर रहे कैदियों ने उसी समय उनके समक्ष जेल में दिये जाने वाले भोजन की थाली पेश की। नक्षत्र मालाकार ने मोदी साहब से कहा- ''जेलर साहब या आप इसे खाकर दिखायेंगे? हमें यही भोजन दिया जाता है! जेलर साहब हमें इन्सान नहीं, पशु समझते हैं। ऊपर से हर समय गाली-गलौज करते हैं। हम चोरी-डकैती या खून करके जेल में नहीं आये हैं। हम अपनी आजादी के लिए आये हैं।''

दाल-भात की थाली में काले-काले कंकड़ और तैरते पिल्लू देख मोदी साहब क्या कहते। उन्होंने कैदियों के सामने ही कहा- ''जेलर साहब! भविष्य में इस तरह का अत्याचार मैं कतई बर्दाश्त नहीं करुँगा।'' जेलर ने अपनी गलती स्वीकार की। उसने मोदी साहब, मालाकार और अन्य कैदियों से हाथ जोड़कर माफी माँगी। यहाँ तक कि भूख हड़ताल तोड़ने के लिए कैदियों को बाजार से दही-चूड़ा-चीनी मँगवाकर खिलाया गया। जेल के अंदर पुस्तकें एवं अखबार की व्यवस्था की गयी। नक्षत्र मालाकार पहली जेल-यात्रा में करीब साढ़े पाँच महीने जेल में रहे।

सत्याग्रह आंदोलन की रणनीति के तहत ही कांत नगर में चरखा ट्रेनिंग का विद्यालय खोला गया था। वहाँ रुई धुनना, पूनी बनाना, चरखा काटना सिखाया जाता था। यह ट्रेनिंग एक महीने की होती थी। इस ट्रेनिंग में नक्षत्र मालाकार, उनकी पत्नी रमणी मालाकार सहित कई लोगों ने भाग लिया। कान्तनगर के बाद चम्पारण के मोतिहारी में बिहार प्रांतीय चरखा ट्रेनिंग सेंटर जाना होता था। वहाँ पूरे बिहार के सत्याग्रही ट्रेनिंग लेने आते थे। टीकापट्टी से नक्षत्र मालाकार को भी इस ट्रेनिंग में भेजा गया। मोतिहारी में चरखा, धुनकी, तांत इत्यादि धुनाई-कताई का सामान बनाने की ट्रेनिंग दी जाती थी। तांत बनाने की कला में नक्षत्र मालाकार ने प्रथम स्थान प्राप्त किया। तीन महीने की ट्रेनिंग के बाद नक्षत्र मालाकार को

ट्रेनिंग देने के लिए टीकापट्टी आश्रम भेज दिया गया। टीकापट्टी आश्रम में नक्षत्र मालाकार तांत बनाने की ट्रेनिंग देने लगे। यह ट्रेनिंग पन्द्रह दिनों की होती थी। इस ट्रेनिंग में जगलाल चौधरी, हरिश्चन्द्र मंडल जैसे तमाम आंदोलनकारियों का जुटान होता था। इस तरह के आश्रम और प्रशिक्षण केंद्र सत्याग्रही व्यक्तित्व के विकास और सत्याग्रही संघर्ष के संगठन और रणनीति पर विमर्श के केंद्र बने हुए थे। नक्षत्र मालाकार जिस टीकापट्टी केंद्र के प्रशिक्षक बने, उसके आश्रम के प्रमुख थे बरेटा निवासी बैद्यनाथ चौधरी। यही शुरू में बैद्यनाथ प्रसाद चौधरी इनके राजनीतिक गुरु थे।

उसी दौरान नक्षत्र मालाकार ने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के आंदोलन को ऐसी बुलंदी पर पहुँचाया कि सिर्फ ब्रिटिश हुकूमत नहीं, बल्कि उसको मदद देनेवाले कई जमींदारों की जान सांसत में फँस गयी। नक्षत्र मालाकार के नेतृत्व में हुए इस आंदोलन ने आश्रम में चरखा ट्रेनिंग के असली मकसद की ऐसी तसवीर पेश की कि बड़े-बड़े काँग्रेसी नेता चौंक उठे। खासकर ऐसे नेता जो गाँधीनामी चादर ओढ़कर तत्कालीन धारा-सभाओं में पहुँचने की सत्ता-राजनीति में मुब्तिला थे।

गुलाबबाग मेला राजा पृथ्वीचन्द्र लगवाते थे। मेले में विदेशी कपड़े बिकने के लिए आते थे। सत्याग्रहियों ने नक्षत्र मालाकार के नेतृत्व में निश्चय किया कि मेले में विदेशी कपड़ा नहीं बिकने दिया जायेगा। सत्याग्रहियों का जत्था मेले में पहुँचा। राजा के सिपाहियों ने सत्याग्रहियों को घेर लिया। नक्षत्र मालाकार एवं सूर्य नारायण मंडल सहित पूरे जत्थे को पकड़कर राजा के सामने लाया गया। निर्भीक सत्याग्रहियों ने कहा- ''हम विदेशी कपड़े नहीं पहनते। हमने तय किया है अब दूसरों को भी पहनने नहीं देंगे। इसलिए लोगों को विदेशी कपड़ा खरीदने से रोकेंगे। मेले में पिकेटिंग करेंगे।'' राजा ने नक्षत्र मालाकार को तमाचे जड़ते हुए अपने सिपाहियों को आदेश दिया- ''मारो साले इन सत्याग्रहियों को।''

सिपाहियों ने सत्याग्रहियों की जबर्दस्त पिटाई की। कई सत्याग्रही साथी बेहोश होकर गिर गए। नक्षत्र भी घायल हुए और अपनी सांस रोककर बेहोश सत्याग्रहियों के साथ फर्श पर पड़ गये। उनको मरणासन्न समझकर सिपाहियों ने लाठी बरसाना बंद कर दिया। तब अन्य घायल, लेकिन बेहोश सत्याग्रही मालाकार जी को बाँस की अर्थी पर लिटाकर जुलूस की शक्ल में वहाँ से निकल पड़े। हतप्रभ राजा और उसके सिपाही देखते रह गये। जुलूस सीधे मेले में पहुंचा। वहां विदेशी कपड़े की एक दूकान के दरवाजे पर अर्थी उतारी गयी। तब नक्षत्र उठे और पूरे मेले में हंगामा मच गया। फिर तो मेले में जनता ने विदेशी कपड़ों की ऐसी 'होली' जलाई कि उसकी आंच सत्याग्रहियों को पीटनेवाले राज सहित अंग्रेज हुकूमत के पिट्ठू जमींदारों की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी।

1934 की एक अन्य घटना न सिर्फ नक्षत्र की राजनीतिक यात्रा के लिए टर्निंग पॉइंट बनी, बल्कि अँग्रेजों के खिलाफ आजादी के आंदोलन में शामिल उन सामंतों के लिए भी खतरे की घंटी बनी, जिनके लिए आजाद देश का मतलब था ब्रिटिश राज की जगह उनके अपने सामंती राज की स्थापना!

एक दिन नक्षत्र मालाकार 'सत्याग्रही साधना' के तहत बरेटा में बैद्यनाथ चौधरी के दरवाजे पर उनके साथ बैठकर चरखा कात रहे थे। उसी दौरान पास में शोरगुल सुनाई दिया। युवा नक्षत्र चरखा कातना छोड़कर वहाँ पहुँचे। उन्होंने देखा कि बैद्यनाथ चौधरी के भाई अम्बिका चौधरी एक गरीब बुढ़िया को गंदी-गंदी गाली दे रहे हैं। पूछताछ करने पर पता चला कि उस बुढ़िया की बकरी अम्बिका चौधरी के तम्बाकू के खेत में चली गयी थी। इस गलती के कारण बुढ़िया पर 50 रुपये का जुर्माना ठोंका गया था जबकि उस समय बकरी की कीमत थी मात्र सवा रुपये! बहुत गिड़गिड़ाने पर जुर्माने की राशि 10 रुपये की गयी। नक्षत्र ने हस्तक्षेप करते हुए कहा- ''यह गरीब सवा रुपये की बकरी की मूल के एवज में 10 रुपये कहाँ से देगी? जुर्माना माफ कर दीजिये।'' तब अम्बिका चौधरी ने अपनी सामंती उदारता का प्रदर्शन करते हुए कहा- ''आप कहते हैं तो जुर्माना 10 से 5 रुपये कर देता हूँ। इससे कम नहीं होगा।''

तब नक्षत्र मालाकार लौटकर बैद्यनाथ बाबू के पास आये और घटना की जानकारी देते हुए उनसे कहा- ''कृपया आप जुर्माना माफ करा दें। गरीब बुढ़िया के पास तन ढँकने के कपड़े नहीं है। जुर्माना कहाँ से देगी।'' इस पर बैद्यनाथ बाबू ने कहा- ''नक्षत्र, छोड़ो इन सब मामलों को। हमलोग राजनीतिक आदमी हैं। इन घरेलू मामलों से हमें क्या लेना-देना। वह

अपना काम करता है। तुम अपना काम करो।''

नक्षत्र मालाकार आजादी के आंदोलन में बिहार के प्रमुख नेताओं में से एक बैद्यनाथ बाबू का यह जवाब सुनकर सन्न रह गये! तो यह है आजादी के संघर्ष में शामिल सामंतों का चरित्र और सपना! वह तत्काल अपने हाथ का तिरंगा बैद्यनाथ बाबू के दरवाजे पर छोड़कर वहाँ से चुपचाप चल पड़े।

बैद्यनाथ बाबू ने नक्षत्र को मनाने-रोकने की कोशिश की। नक्षत्र यह कहते हुए वहाँ से निकल पड़े- ''एक जुल्मी के हाथों से देश आजाद होगा और दूसरे जुल्मी के हाथों फिर गुलाम हो जायेगा, जब आप जैसे स्वार्थी नेताओं के हाथ में देश की बागडोर होगी।''

उसके बाद वह फिर कभी बैद्यनाथ प्रसाद चौधरी के पास नहीं गये। वह किसान नेता सहजानंद सरस्वती की किसान सभा में शामिल हो गया। उनके कंधे पर तिरंगा की जगह लाल झंडा लहराने लगा। उस दौर की ही दिलचस्प घटना यह हुई कि उस वक्त बिहार के अग्रणी काँग्रेसी नेता श्रीकृष्ण सिंह काढ़ागोला रोड स्टेशन पहुँचे। आजादी के आंदोलन के सेनानी होने के नाते नक्षत्र मालाकार स्टेशन पहुँचे। श्रीकृष्ण सिंह के स्वागत में नक्षत्र मालाकार के साथ गरीब दलित-मुसहर जनता की भारी भीड़ प्लेटफॉर्म पर जमा हुई। ट्रेन से उतरते ही श्रीकृष्ण सिंह ने देखा- लाल झंडों से पटा प्लेटफॉर्म! लाल झंडों की तुलना में काँग्रेसियों का तिरंगा न के बराबर! गरीब मुसहर बच्चों से लेकर बड़ों तक के हाथ में सिर्फ लाल झंडा था और नक्षत्र मालाकार नारा लगा रहे थे- ''इंकलाब जिंदाबाद। जमीन किसकी? किसानों की, मिल किसका- मजदूरों का।''

उसके बाद से पूर्णियाँ में आजादी के आंदोलन का मायने हुआ- ब्रिटिश हुकूमत के साथ-साथ देशी जमींदारी व सामंतशाही के खिलाफ संघर्ष! उसी दौरान नक्षत्र मालाकार सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, रामानन्द मिश्र, लोहिया आदि के सम्पर्क में आये। वे सोशलिस्ट बन गये।

देश आजाद हुआ। बिहार में काँग्रेस का राज हुआ। उस राज में किनके हाथ में राजनीतिक सत्ता आयी? इसका खुलासा उसी वक्त हो गया, जब आजादी के सिर्फ 4 साल बाद ही नक्षत्र मालाकार देशभक्ति के इनाम के रूप में जेल में ठूँस दिये गये! वह भी 16 महीने नहीं, बल्कि 16 साल के लिये!

वह 1966 ई० के अंतिम महीने में जेल से छूटे। सत्तारूढ़ दल एवं उसके सहयोगी वाम मित्रों ने नक्षत्र मालाकार की छवि को मटियामेट करने की हरसंभव कोशिश की, लेकिन जेल से छूटते ही उनके दर्शन के लिए जमा लाखों की भीड़ ने यह जाहिर कर दिया कि नक्षत्र मालाकार गरीबों दलितों के दिलों का ध्रुवतारा है!

लेकिन जो नक्षत्र ब्रिटिश हुकूमत में कभी नहीं झुका, वह आजाद देश में अपनों के राज में टूट गया। जेल से छूटने के बाद नक्षत्र मालाकार वाम राजनीति में सक्रिय होने की कोशिश की। लेकिन वह तो गरीबों को संगठित कर उनको सत्ता की सीढ़ियों की तरह इस्तेमाल करने की राजनीति थी! ऐसी राजनीति में नक्षत्र मालाकार कहां ठठते! वह अपनी गरीबी को ही अपनी ताकत और ऊर्जा बनाकर गरीबों-दलितों में संघर्ष की चेतना जगाने की कठिन साधना में लग गये - 'पैसा और पावर' की इच्छा किये बिना!

जेल से छूटने के 20 साल बाद 18 सितंबर, 1987 को करीब 77 साल की आयु में नक्षत्र मालाकार आसमान के सितारों में शामिल हो गये। एक छोटी सी झोपड़ी में पत्नी रमणी मालाकार की गोद में सर रख नक्षत्र मालाकार इस दुनिया से कूच कर गये!

बिहार के सात महान युवा शहीद

–नरेन

इन्सान की बुनियादी प्रवृत्ति है कि वह गुलामी बर्दाश्त नहीं कर पाता। साम्राज्यवादी अँग्रेजों के शोषणकारी राज के खिलाफ हिन्दुस्तानी अवाम में तीव्र आक्रोश उफन रहा था। वे अँग्रेजी शासन के खिलाफ सिर उठा चुके थे और उनके वीभत्स दमन का शिकार हो रहे थे। 1942 ई० में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पूरे शबाब पर था। यह आधुनिक इतिहास के सबसे बड़े आंदोलनों में से एक था यह। द्वितीय विश्वयुद्ध एक खतरनाक मोड़ ले चुका था और जापानी सेना भारत के सिर पर आ खड़ी हुयी थी। भारतीय जनता अपनी सरकार बनाने की माँग लेकर अँग्रेजों के खिलाफ मोर्चा खोले बैठी थी। इस संवैधानिक गुत्थी को सुलझाने के बजाय क्रिस्प के प्रस्ताव ने भारतीयों को और अधिक दिक्भ्रमित कर दिया था। इस संजीदा घड़ी में भारतीय जनता ने अँग्रेजी साम्राज्य को सीधी चुनौती दे डाली– 'अँग्रेजों, भारत छोड़ो'। आंदोलन शुरू होने के पहले ही डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अन्य नेताओं से परामर्श करके लोगों को दिशा–निर्देश देने के लिये कार्य–योजना तैयार कर रखी थी। इन नेताओं का सोचना सही था कि यह आंदोलन विकराल होने जा रहा है। वर्ष 1942–43 के दौरान भारत में चल रहे महान स्वतंत्रता संग्राम में बिहार ने काफी दिलेर भूमिका निभाई थी और अत्यंत साहस के साथ भयावह अँग्रेजी दमन को झेला था। अपने यौवन काल में ही ढेर सारे बिहारियों ने मातृभूमि की बलि बेदी पर अपने–आपको उत्सर्जित कर दिया था।

इस विराट 'असहयोग आंदोलन' की रोकथाम करने के लिये अँग्रेजी सरकार ने भी कई उपाय आजमाने की कोशिश की थी। 9 अगस्त की सुबह में ही मुंबई में गाँधीजी समेत काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति के सारे सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया था। इसी दिन बिहार में भी राजेन्द्र प्रसाद को गिरफ्तार कर बांकीपुर जेल में डाल दिया गया था। दो–तीन दिनों के भीतर ही प्रांत के श्रीकृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह समेत ढेर सारे नेताओं को भी कैद कर लिया गया था। लाख कोशिश करने के बावजूद सरकार विकराल होते जा रहे जन आंदोलन पर काबू नहीं कर पा रही थी। सारे भारतीयों के दिलों में देशभक्ति की प्रचंड ज्वाला धधक रही थी।

'करो या मरो' के प्रेरणादायक मंत्र के प्रभाव में आकर भारी संख्या में किशोर छात्र भी बहादुरी से स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े थे। उनके शौर्यपूर्ण कारनामों के अनगिनत किस्से इतिहास में हमेशा के लिये दर्ज हो गये हैं। लेकिन 11 अगस्त को पटना में उन्होंने जिस साहस–भरे शौर्य का प्रदर्शन करते हुए स्वयं को स्वतंत्रता की बलिबेदी पर अर्पित कर दिया, उसका उदाहरण समूची दुनिया में मिल पाना कठिन है। यह दिन सचमुच बिहार के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में एक अविस्मरणीय अध्याय है। इस खास दिन को 'शहीद दिवस' के रूप में याद किया जाना सचमुच प्रासंगिक है। उस रोज दोपहर में हजारों की संख्या में राष्ट्रीयता की भावना से उत्प्रेरित लोगों का समूह पटना सचिवालय पर राष्ट्रीय ध्वज फहराने का जोश लिये निर्भीकतापूर्वक बढ़ा चला जा रहा था। इस समूह में ढेर सारे किशोर छात्र भी थे जो पटना सचिवालय यानी तत्कालीन अँग्रेजी अफसरशाही के दुर्ग पर धावा बोलने के लिये उतावले थे। सचिवालय की ओर जन सैलाब उमड़ता चला जा रहा था। लगभग 4.57 बजे पटना के तत्कालीन जिलाधिकारी के आदेश पर सचिवालय परिसर से बढ़े चले आ रहे जुलूस पर 13 या 14 राउण्ड गोलियाँ चला दी गयीं, जिससे जुलूस के सामने चल रहे सात छात्रों की घटना स्थल पर ही मौत हो गयी। लगभग 25 लोग बुरी तरह जख्मी हो गये। अन्य कई लोगों को मामूली चोटे आयीं।

उस रोज जो सात छात्र शहीद हुये थे, वे थे– उमाकांत प्रसाद सिन्हा (कक्षा ग्यारह, राम मोहन राय सेमिनरी, पटना), रामानंद सिंह (कक्षा ग्यारह, राम मोहन राय सेमिनरी, पटना), सतीश प्रसाद झा (कक्षा ग्यारह, पटना कॉलेजियेट स्कूल, पटना), जगत पति कुमार (बी० एन० कॉलेज पटना के द्वितीय वर्ष के छात्र), देवी पद चौधरी (कक्षा ग्यारह, मिलर स्कूल, पटना), राजेन्द्र सिंह (पटना हाई स्कूल के मैट्रिक के छात्र) और रामगोविन्द सिंह (पुनपुन हाई स्कूल के मैट्रिक

के छात्र)।

इन सात छात्रों की शहादत की खबर पूरे प्रांत में जंगल की आग की तरह फैल गई और पूरा प्रांत अँग्रेजी राज के खिलाफ तीव्र आक्रोश और घृणा से दहक उठा। चारों तरफ हिंसात्मक दंगे भड़क उठे। आंदोलनकर्त्ताओं ने जगह-जगह रेल लाइनें उखाड़ डाली, टेलीफोन और टेलीग्राफ के तारों को नोच डाला। पुलिस थानों पर हमले किये गये और कहीं-कहीं पर सरकारी भवनों और थानों में आग लगा दी गयी। कई स्थान पर सरकारी अधिकारियों पर काबू पा लिया गया। एक वक्त ऐसा आया, जब आम लोगों ने प्रांत के लगभग 80 थानों पर कब्जा जमा लिया था।

इस जनाक्रोश का दमन करने के लिये सरकारी तंत्र ने भयंकर दमन चक्र चलाया। जिसे-तिसे पकड़कर जेलों में ठूँस दिया गया और उनको अमानवीय तरीके से उत्पीड़ित किया गया। कुछ जगहों को तो पूरी तरह से सेना के हवाले कर दिया गया। अँग्रेजी सरकार ने कई जगहों पर सामूहिक जुर्माना लगाया। लोगों पर अंधाधुंध गोलियाँ चलवाइ। लोगों की सम्पत्तियाँ लूट ली गयीं। उनके घरों को जला डाला गया। स्त्रियों की अस्मत से खिलवाड़ किया गया। अँग्रेजी सेना ने आम-अवाम पर बेपनाह जुल्म ढाये। नख-शिख तक साम्राज्यवादी मद में चूर चर्चिल ने कहा था- "सरकार ने पूरी ताकत लगाकर आंदोलन को कुचल दिया है। हम भारत पर अपने शासन को खोना नहीं चाहते हैं। मैं राजा का प्रथम मंत्री इसलिये नहीं बना हूँ कि मैं चुपचाप ब्रिटिश साम्राज्य के नष्ट होते चले जाने का तमाशा देखता रहूँ।"

11 अगस्त वाली घटना के बाद अँग्रेजों ने बिहार में आम-अवाम पर चाहे जितना अमानवीय दमन-चक्र चलाया हो, उन सात शहीदों का बलिदान अकारथ नहीं गया। उनकी शहादत आम लोगों से लेकर राजनीतिक नेताओं के दिलों में चिराग की तरह रौशन हो गयी। बिहार से कई देशभक्त नेपाल की तराई में चले गये जहाँ स्थानीय लोगों ने उनकी सहानुभूतिपूर्वक मदद की। वहाँ जाकर कुछ लोगों ने गोली, बंदूक, भाले समेत अन्य कई प्रकार के हथियार जमा किये।

हजारीबाग जेल में कैद बिहार के कुछ प्रतिबद्ध देशभक्त क्रांतिकारियों ने ठान लिया कि वे अपना शेष जीवन मातृभूमि की सेवा में अर्पित कर देंगे, क्योंकि यह उनके लिये असली परीक्षा की घड़ी थी। वे 9 नवम्बर 1942 को दीपावली की रात को जेल की दीवार फाँदकर निकल भागे। ये लोग थे- जयप्रकाश नारायण, राम नंदन मिश्र, योगेन्द्र शुकुल, सूरज नारायण सिंह, गुनाब सोनार और शालिग्राम सिंह (हजारीबाग जिला काँग्रेस समिति के सचिव)। जेल से भागे आजादी के इन दीवानों की गिरफ्तारी के लिये अँग्रेजी सरकार ने भारी ईनामों की घोषणा कर दी थीं

जयप्रकाश नारायण लुकते-छिपते नेपाल चले गये थे और वहाँ राम मनोहर लोहिया और अन्य क्रांतिकारी साथियों के साथ मिलकर अपने देश को गुलामी की बेड़ियों से मुक्ति दिलाने के लिये 'असद दस्ता' यानी गुरिल्ला दल बनाया था।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में बिहारियों ने काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उन्होंने अँग्रेजों के दमन-चक्र को जितना झेला था उतना शायद ही किसी अन्य प्रांत के लोगों ने झेला हो। 11 अगस्त 1942 को बिहार के जिन सात ऊर्जावान नवयुवकों ने देश प्रेम में सराबोर होकर बहादुरीपूर्वक अपने-आपको मातृभूमि की बलिवेदी पर उत्सर्जित किया था वे आजादी के दीवानों के लिये प्रकाश-स्तंभ बन गये थे। भारतीय इतिहास में उनके नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गये हैं।

सच्चिदानंद सिन्हा

–जगदीशचंद्र माथुर

जिंदगी की सवारी कोई बोरे की तरह लदकर करता है, कोई जान पर खेलकर सरकस के नट की तरह, और कोई-कोई गंगा की मौजों पर लरजते बजरे पर शान से तकिया लगाकर बैठे उस रईस की तरह, जिसके मुँह में चाँदी के कलापूर्ण हुक्के की नली हो, तटवर्ती दृश्यों पर जो निगाह भी डालता हो और रिमार्क भी कसता हो, और जो एक चक्रवर्ती महाराज की भांति भूनिक्षेप सहित अभयदान तथा आदेश प्रदान करता हो। डॉ० सच्चिदानंद सिन्हा इसी श्रेणी के जन्मजात चक्रवर्ती सर्वेक्षक थे। अनुभव की महफिल उनके मन के आँगन में जमती ही रहती, कभी उखड़ी नहीं। जमाने गुजर गये। लगभग अस्सी ऋतु-परिवर्तनों की अठखेलिया देखीं, लेकिन कोई ऊब नहीं, कोई मलाल नहीं। बीती बात उन्हें उलझा नहीं पाती और आगे आनेवाला कल उन पर हावी नहीं हो पाता। क्षण की तह में जो चिरनवीन रस है, उसी का आस्वादन करते क्षण की मर्यादा को ही डंके की चोट पर घोषित करते।

1935 ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय के म्योर होस्टल में पधारे। डॉ० अमर नाथ झा को अपना अनुज मानते म्योर होस्टल में झा साहब के स्नेहपात्र शिष्यों ने सिन्हा साहब को एक छोटी सी गोष्ठी में आमंत्रित किया। साहित्य और संस्कृति पर काफी देर तक चर्चा चली। दूसरे दिन मैंने झा साहब से कहा कि एक सवाल मैं सिन्हा साहब से नहीं पूछ पाया। 'क्या?' ''यही कि उम्र का धावा उन पर अभी तक क्यों नहीं हुआ? देखिए न, एक भी सफेद बाल नहीं दीखता।''

झा साहब कुछ ठहरकर बोले, "अच्छा ही हुआ तुमने यह सवाल नहीं पूछा।" क्यों? मैंने कुछ अप्रतिभ होकर पूछा। "इसीलिए कि शायद वह समझते कि तुम उनके खिजाब की ओर इशारा कर रहे हो।" खिजाब! मैं थोड़ा अचंभित हुआ। झा साहब कहते गये, "लेकिन सिन्हा साहब का खिजाब आयु के खंडहरों को छिपाने वाली पुताई नहीं है, बल्कि उनके अंतस में जो नयापन और जवानी है, उसी को प्रदर्शित करने वाला वातायन है।"

बात गहरी थी। बहुत से लोग उपकरणों का सहारा इसलिए लेते हैं कि असलियत जाहिर न होने पाये; वे अपने और दूसरों के लिए एक फैंटेसी- काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं। लेकिन सिन्हा साहब की असलियत थी उनकी ताजगी और यदि उनके शरीर का कोई अंग उस ताजगी की अभिव्यक्ति में बाधा देता था, तो निस्संकोच असलियत को जाहिर करनेवाले उपकरण का उन्होंने सहारा लिया। इसीलिए उन्होंने अन्य साधन भी जुटाये, अपनी सजग और उल्लसित प्रवृत्तियों के उपयुक्त वातावरण को जारी रखने के लिए। उदाहरणत:, भोजन! 1941 ई० की बात है। मैं उसी वर्ष सरकारी नौकरी में आया था और चूंकि मेरी तैनाती बिहार प्रांत में हुई, इसलिए पहली बार पटना की लघु यात्रा पर बिहार के वरिष्ठ और सर्वमान्य नेता डॉ० सिन्हा के दर्शन करना लाजिमी था। अपने मित्र और मेजबान त्रिवेणी प्रसाद सिंह से कहा और उन्होंने टेलीफोन किया। बोले, "जरूर आओ। आज ही शाम को..... और.... सुनो, तुम दोनों खाना भी यहीं खा लेना। तुम तो जानते ही हो, आज तक अकेले खाना मैंने कभी खाया ही नहीं।"

अकेले खाना कभी नहीं खाया! सिन्हा साहब की पत्नी बहुत पहले ही जाती रही थीं। मेरी पीढ़ी के लोगों के लिए यह उस परदे के पीछे की बात थी, जो कभी का गिर चुका था। लेकिन उनके विधुर जीवन को हम लोगों ने भरा-पूरा ही देखा। उनकी घर-गृहस्थी का दायरा कभी संकीर्ण नहीं हुआ।

पटना में कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति- विदेशी अथवा भारतीय- आये, तो यह निश्चित था कि वह सिन्हा साहब के यहाँ ठहरेगा, अथवा कम-से-कम भोजन तो उनके यहाँ ही करेगा। कोई स्वार्थ नहीं, कोई चाटुकारिता नहीं। केवल अधिकार। पुराने लोगों में पटना में श्री पी० आर० दास को छोड़कर वही एक बच गये थे, 1940 ई० तक आते-आते। इसीलिए उन्हीं का सत्वाधिकार था प्रांत के विशेष अतिथियों पर, और वह शान के साथ उस अधिकार का उपयोग करते।

यह डिनर टेबिल! देश के बड़े-से-बड़े राजनीतिक नेताओं से लेकर गवर्नरों और वाइसराय के एक्जीक्यूटिव काउंसिलर तक, और पाश्चात्य देशों के प्रकांड विद्वानों से लेकर छोटे-मोटे तुक्कड़ कवियों तक- सभी तो उस टेबिल पर खा चुके थे। खुद तो कम ही खाते, लेकिन इंतजाम पूरा होता। फिर भी भोजन गौण था, वातावरण प्रधान। सरोजिनी नायडू को छोड़कर उस जमाने में यदि कोई व्यक्ति ऑटोक्रैट ऑफ डिनर टेबिल (डिनर टेबिल का एकाधिपति) कहा जा सकता था, तो डॉ० सिन्हा। किस शान के साथ वह उन मजलिसों की सदारत करते! चर्चा होती, पुरानी और नई तत्कालीन समस्याओं का विवचेन होता, कुछ छींटाकशी होती, कुछ स्मृति-रेखाएँ उभरतीं। लेकिन यह कहना गलत होगा कि उस डिनर टेबिल के चारों ओर किसी के भाग्य का निपटारा होता या प्रांत अथवा देश की राजनीतिक समस्याओं के बारे में गुपचुप निर्णय होते। शायद मांटफोर्ड रिफॉर्म्स के बाद, जब कुछ समय के लिए डॉ० सिन्हा बिहार के एक्जीक्यूटिव काउंसिलर थे, तब भले ही उस तरह की वार्ताएँ होती रही हों। किन्तु स्वाभावत: डॉ० सिन्हा के व्यक्तित्व की यमुना वासुदेव के चरणों के समान गांभीर्य के चरण-स्पर्श करते ही लौट आती अपने चिरपरिचित कलकल ध्वनि-गुंजित प्रवाह पर।

सिन्हा लाइब्रेरी बिहार को उनकी अमर देन है। वह उनकी अपूर्व निधि भी थी, जिसे उन्होंने बड़े शौक से अनेक वर्षों में संवारकर तैयार किया था। अनगिनती पुस्तकें उन्होंने खरीदीं; अनगिनती ही उनके पास भेंट-स्वरूप आईं। जब कोई पुस्तक आती, तो जैसे उनकी हृत्तंत्री का कोई तार छू जाता; लाल-नीली पेंसिल उठाते; पहले पृष्ठ पर अपना नाम लिखते (क्या दबंग दस्तखत थे उनके!) और पढ़ने बैठ जाते। आद्योपांत तो कम ही पुस्तकें पढ़ पाते, लेकिन जगह-जगह डुबकियां लगाते और लाल-नीली पेंसिल से रेखाएं खींच देते। सिन्हा लाइब्रेरी के पाठकवृंद उन रेखाओं से सुपरिचित हैं। जाहिरन वे रेखाएं पुस्तकों के मालिक के अधिकार की द्योतक हैं, किन्तु उनके पीछे पुस्तकों के एक अनन्य उपासक, पुस्तकालयों की महिमा के पोषक, ज्ञान-राशि के विस्तार के समर्थक सिन्हासाहब की मौन आदर्शवादिता है।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि उस लाइब्रेरी के प्रबंध की उपयुक्त व्यवस्था हो जाये। ट्रस्ट पहले से मौजूद था, लेकिन आवश्यकता यह थी कि सरकारी उत्तरदायित्व भी स्थिर हो जाये। ऐसा मसविदा तैयार करना कि जिसमें ट्रस्ट का अस्तित्व भी न टूटे और सरकार द्वारा संस्था की देख-भाल और पोषण की भी गारंटी मिल जाये, जरा टेढ़ी खीर थी। एक दिन एक चाय-पार्टी के दौरान सिन्हा साहब मेरे पास चुपके से आकर बैठ गये। 1949 ई० की बात है। मैं नया-नया शिक्षा-सचिव हुआ था, लेकिन सिन्हा साहब की मौजूदगी में मेरी क्या हस्ती? इसीलिए जब वे मेरे पास बैठे और जरा विनीत स्वर में उन्होंने सिन्हा लाइब्रेरी की दास्तान कहनी शुरू की, तो मैं सकपका गया। मन में सोचने लगा कि जो सिन्हासाहब मुख्यमंत्री, शिक्षा-मंत्री और गवर्नर तक से आदेश के स्वर में सिन्हा लाइब्रेरी-जैसी उपयोगी संस्था के बारे में बातचीत कर सकते हैं, वह मुझ जैसे कल के छोकरे को क्यों सिर चढ़ा रहे हैं? उस वक्त तो नहीं, किंतु बाद में गौर करने पर दो बातें स्पष्ट हुईः एक तो यह कि मैं भले ही समझता रहा हूं कि मेरी लल्ली-चप्पी हो रही है, किंतु वस्तुत: उनका

विनीत स्वर उनके व्यक्तित्व के उस साधारणतया अलक्षित और आर्द्र पहलू की आवाज था, जो पुस्तकों तथा सिन्हा लाइब्रेरी के प्रति उनकी भावुकता के उमड़ने पर ही मुखरित होता था।

कई छोटी-मोटी बातें याद आती हैं। नौकरी के लिए परीक्षा में बैठने के बाद मुझे धुन सवार हुई कि अँग्रेजी में हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखूं। लगभग अपरिचित होते हुए भी सिन्हासाहब को लिखा। उनका तुरंत उत्तर आया और साथ में सिन्हा लाइब्रेरी में अँग्रेजी में हिंदी विषयक जितनी पुस्तकें थीं, उनकी फेहरिस्त भी। जब मैं उड़ीसा के संबलपुर जिले में तैनात था, तब वहीं 1943 में मेरे पिता का देहावसान हुआ। किसी अखबार में समाचार पढ़कर सिन्हासाहब ने झट से संवेदनासूचक तार भेजा, यद्यपि उस समय तक भी मेरा परिचय अल्प ही था और मैं कोई सत्ताधारी अफसर तो था नहीं। वस्तुतः अगर कोई उनके साथ सत्ताधारी का सा व्यवहार करता, तो उसे मुँह की खानी पड़ती। स्नेहपात्रों पर न सिर्फ वरदहस्त होता, बल्कि उनकी छोटी-से-छोटी उपलब्धियों पर तुरंत शाबाशी देते। हाजीपुर सबडिविजन में 1945 में मैंने वैशाली महोत्सव का श्रीगणेश किया। किसी अखबार में सराहना करते हुए टिप्पणी निकली। सिन्हा साहब ने कटिंग मेरे पास भेजी और दस-बारह शब्द अपनी ओर से शाबाशी के जोड़ दिये।

छोटी सी बात, लेकिन कितने बड़े लोगों को इन नन्हें अमृत-बिंदुओं का ध्यान रहता है, जिनके सहारे ही तो अगणित हृदयों को जीता जा सकता है? सिन्हासाहब इस कला में जन्मजात दक्ष थे। अनायास ही वह प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को उत्साहित कर देते थे। बहुत पहले की बात है- शायद वर्ष 1903-04 की, जब सिन्हा साहब का अँग्रेजी मासिक पत्र 'हिन्दुस्तान रिव्यू' नया ही था। दिल्ली से एक अपरिचित लेखक की रचना आई, जिसमें ईसाई धर्म की बेहद प्रशंसा थी। सिन्हा साहब थोड़ा हिचके, लेकिन लेख असाधारण था। उनकी भाषा और अभिव्यंजना एक प्रतिभासंपन्न लेखनी की द्योतक थी। उन्होंने लेख छाप दिया। उस युवक लेखक की असाधारण लेखनी ने तहलका मचा दिया, और कुछ दिनों बाद वह मेधावी पुरुष अपनी प्रखर विचारशैली और उग्र राजनीति के कारण सर्वप्रसिद्ध हो गया। कुछ समय बाद सिन्हा साहब किसी कार्यवश दिल्ली गये, तो स्टेशन पर एक व्यक्ति ने मिलते ही उनके चरण छुए, "मैं ही हरदयाल हूँ।" हरदयाल!- विलक्षण स्मरण-शक्ति से संपन्न हरदयाल, भारतवर्ष के क्रांतिकारियों में अग्रणी, गदर पार्टी के कर्णधार, अँग्रेजी राज के कट्टर दुश्मन हरदयाल, हमेशा के लिए सिन्हा साहब के स्नेहपात्र बन गये।

यों क्रांतिकारियों और उग्र राजनीति से सिन्हा साहब का कभी वास्ता नहीं रहा। वह नरम दल के समर्थक थे- लिबरल- गाँधीजी की राजनीति और आंदोलनों से वह प्रायः दूर ही रहे। वह युग ही दूसरा था और गाँधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश होने तक देशभक्ति के अनेक मापदंड थे। किंतु, अपने-अपने सीमित क्षेत्रों में देश को जागृत करने में अनेक संभ्रांत और तेजस्वी व्यक्तियों ने हाथ बँटाया। सच्चिदानंद सिन्हा, अली इमाम, गणेशदत्त सिंह इत्यादि ने उस समय बिहार के शिक्षित मध्यवर्ग को नई चेतना देकर एक ऐसा समूह तैयार किया, जिसमें से परावर्ती राजनीतिक आंदोलनों के लिए कृतसंकल्प और सुयोग्य नेतृत्व मिल सका। सिन्हा साहब ने अपनी आँखों के सामने आमूल परिवर्तन होते देखे। निश्चय ही उनकी दृष्टि में राजनीति की वह उग्र और कोलाहलपूर्ण गतिविधि अटपटी जान पड़ी होगी। स्निग्ध वातावरण के आदी लिबरल सिन्हा साहब को धूलि-धूसरित कदमों का खुरदारापन अशोभन लगा होगा। किंतु, स्वभावतः सिन्हा साहब बाह्य परिस्थितियों के कारण अपने को त्रस्त और क्षुब्ध बनाने के लिए तैयार नहीं थे। इसीलिए अन्य लिबरलों की तरह वह सक्रिय राजनीति में सराबोर नहीं हुए। मीटिंगों में भाग लेते, लोगों से चर्चा करते, कभी-कभी अखबारों में भी लिखा-पढ़ी करते,

लेकिन सिरदर्द मोल लेने की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई। इसीलिए वह अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक नेता कभी नहीं हुए। किंतु, उनकी सलाह अक्सर ली जाती और आना-जाना तो उनके यहां लगा ही रहता। 1947 ई० तक आते-आते एक वरिष्ठ नेता के रूप में उनका बराबर समादर होता रहा और जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद दिल्ली में कांस्टिट्यूएंट एसेंबली भारतवर्ष का संविधान बनाने बैठी, तो उसके सबसे वयस्क सदस्य होने के नाते डॉ० सच्चिदानंद सिन्हा ही एसेंबली के सर्वप्रथम अध्यक्ष बने और उन्हीं के सभापतित्व में एक तरह से उनके अनुज, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, अध्यक्ष चुने गये।

कुछ समय बाद डॉ० सिन्हा बीमार रहने लगे। संविधान बनकर तैयार हो गया और उसके चालू होने से पहले यह आवश्यक था कि एसेंबली के समस्त सदस्यों के संविधान-पत्र पर हस्ताक्षर हों। डॉ० सिन्हा पटना में बीमार पड़े हुए थे और हस्ताक्षर करने के लिए उनका नई दिल्ली पहुँचना असंभव था। प्रथम अध्यक्ष के हस्ताक्षर यों भी अनिवार्य थे। एक दिन हम लोगों ने सुना कि भारतवर्ष का संविधान पटना आ रहा है। अपूर्व दृश्य था वह! रोगी की शैय्या से सिन्हा साहब ने अपनी लंबी जिंदगी के अंतिम छोर पर से (जिसका दूसरा छोर उन्नीसवीं शताब्दी में अँग्रेज सत्ता के मदोन्मत्त वातावरण में रहा होगा) स्वतंत्र भारत के नव-संविधान पर हस्ताक्षर किये। लेकिन उससे भी अधिक विह्वलकारी दृश्य था तब, जब राजेन्द्रबाबू स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में पहले-पहल पटना पहुँचे और उन्होंने सिन्हा साहब के चरण छूकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया। जो लोग उस समय उपस्थित थे, उनकी आँखों के सामने भीष्म पितामह का चित्र खिंच गया।

वे बिहार से विलायत जानेवाले पहले हिंदुओं में से थे और लौटने पर शायद उन्हें खासे विरोध का सामना करना पड़ा। अपनी जाति के वर्ग-विशेष के बाहर उन्होंने शादी की। संतान कोई हुई नहीं, इसलिए एक दत्तक पुत्र लिया। हमेशा अपने रहन-सहन का ढंग आलीशान रखा। मजाल क्या कि रुपये की तंगी का आभास किसी पर हो जाये! अतिथि-सत्कार, अच्छे कपड़े, अच्छा भोजन, हमेशा मजलिस की कहकहेबाजी, हमेशा आने-जानेवालों का तांता- ऐसी थी उनकी दैनिक चर्या। जीवन-यापन उनके लिए काल-यापन नहीं था। किसी पारलौकिक जीवन की तैयारी में उन्होंने अपने तात्कालिक अनुभवों को नीरस नहीं होने दिया। उमंगों को दबाया नहीं। मौज की छानी। कटुता को पास फटकने नहीं दिया। कर्मक्षेत्र में 'ऐमेचर' रहे, लोक-व्यवहार में निपुण कलाविद। मत्स्यगंधा की तरह चिर-नवीन आनंद की सुगंध में स्वयं तो विभोर रहे ही, औरों को भी सुवासित करते रहे। ऐसों ही को लक्ष्य करके शायद चंडीदास ने कहा, "सबाई उपरे मानुष तार ऊपरे केउ नाईं।"

देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद

-मिथिलेश कुमार

देशभक्ति, सादगी, ईमानदार और उत्कृष्ट बुद्धिजीविता की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद । बर्द्धमान महावीर की अहिंसा-भूमि, बुद्ध की कर्मस्थली, चन्द्रगुप्त और अशोक के महाकार्य क्षेत्रपर भारत माता का यह सपूत प्रादुर्भूत हुआ। स्वातंत्र्य संग्राम के अथक संघर्ष के उपरांत देश के सर्वोच्च संवैधानिक पद (राष्ट्रपति) प्राप्त कर उन्होंने विकास का मार्ग दिखाया। राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व में गठित संविधान सभा ने विश्व का सबसे बडा संविधान बनाया, जिसपर आज सबसे बड़े लोकतंत्र भारत का शासन आधृत है।

बिहार राज्य के सारण जिलान्तर्गत जीरादेई गाँव में रहने वाले मुंशी महादेव सहाय के सुपुत्र के रूप में तीन दिसम्बर 1884 ईश्वी को बालक राजेन्द्र ने जन्म लिया। बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि वाले राजेन्द्र प्रसाद की आरंभिक शिक्षा उर्दू एवं फारसी में हुई। ये सभी परीक्षाओं में अव्वल रहे। पटना के ही टी०के०घोष अकादमी से उन्होंने माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने एम०ए० और एम०फिल० की उपाधियां भी प्राप्त की। सादा जीवन, उच्च विचार तथा होनहार विरवान के होत चिकने पात सरीखे कहावतों को चरितार्थ करते हुए 'परीक्षार्थी परीक्षक से अधिक योग्य है' को भी साबित किया। राजेन्द्र बाबू ने उच्च शिक्षा कोलकाता के प्रेसिडेंसी महाविद्यालय से प्राप्त किया।

देश की परतंत्रता और देशवासियों पर अँग्रेजों द्वारा ढाए जा रहे जुल्मों को देखकर छात्र-जीवन में देशभक्ति का बीज उनमें अंकुरित हो गया। लिहाजा वे राजनीति में भाग लेने लगे। तब उन्होंनें 1906 ई० में बिहारी छात्रों को संगठित कर 'बिहार क्लब' की स्थापना की। यह संगठन बंगाल विभाजन का परिणाम था। दरअसल 1905 ई० में बंगाल विभाजन ने उनके मन में अँग्रेजो के प्रति नफरत भर दी। काँग्रेसी कार्यकर्त्ता होने के कारण उन्होंने लखनऊ अधिवेशन में शिरकत की। सहयोगी भावना के कारण उनपर महात्मा गाँधी चम्पारण-सत्याग्रह के सिलसिले में बिहार आए, तब उनका भरपूर सहयोग किया राजेन्द्र बाबू ने। गाँधीजी के लौटने पर सत्याग्रह की बागडोर राजेन्द्र प्रसाद ने ही अनुग्रह नारायण सिंह के साथ संभाली। इस कारण उन्हें बिहार का गाँधी कहा जाने लगा। सत्याग्रह के कुछ वर्षो बाद यानी 1922 ई० में काँग्रेस का 23वाँ अधिवेशन पटना में हुआ। तभी से राजेन्द्र प्रसाद की गिनती राष्ट्रीय नेताओं में होने लगी। उसी दौरान अँग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण हजारों बिहारी विद्यार्थियों को विभिन्न महाविद्यालयों से निकाल दिया गया। इन सबको पढ़ाने के लिए मजहरूल हक ने सदाकत आश्रम की स्थापना पटना के दीघा में किया। साथ ही 'बिहार विद्यापीठ' की स्थापना पटना में की गई जिसके प्राचार्य डा० राजेंन्द्र प्रसाद बने। वे परंपरागत शिक्षा के अलावा विद्यार्थियों में देशप्रेम की भावना विकसित करने में माहिर थे।

देशसेवा व समपर्ण को देख उन्हें 1923 ई० में काँग्रेस का महामंत्री बनाया गया। 1942 ई० की अगस्त क्रांति में बढ़-चढ़कर भाग लेने के कारण उन्हें तीन वर्षो तक कारावास की यातनाएँ झेलनी पड़ी। वर्ष 1945 ई० में काँग्रेस के शिमला सम्मेलन में उनकी कार्यकुशलता की चर्चा काफी हुई। अगले ही वर्ष यानी 1946 ई० में बतौर खाद्य मंत्री उन्हें केन्द्रीय मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। 15 अगस्त 1947 ई० को स्वाधीनता मिली, तो शासन-व्यवस्था के लिए नए संविधान की आवश्यकता महसूस हुई।

संविधान सभा गठित हुई और सच्चिदानंद सिन्हा के बाद राजेन्द्र प्रसाद इसके अध्यक्ष रहे। विदित हो

कि अस्वस्थता के कारण कुछ ही महीनों बाद सच्चिदानंद सिन्हा ने अध्यक्ष पद छोड़ दिया था। राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व में भारत का संविधान बना जो संसार में सबसे बड़ा संविधान है। 26 जनवरी 1950 ई० को संविधान लागू हुआ और भारत गणराज्य घोषित हुआ। डॉक्टर राजेंन्द्र प्रसाद भारत गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति बने। सादगी के इस पुजारी ने बतौर राष्ट्रपति सिर्फ एक-चौथाई ही वेतन लिया।

वे सबके प्रिय थे। उन्होंने 'अपनी अंतिम इच्छा' में लिखा भी है- ''घर में और बाहर सबसे प्रेम और कृपा का पात्र बना रहा और इस प्रकार कोई ऐसी लालसा मुझे नहीं रह गई जो किसी भी मनुष्य को हो सकती हैं।'' इसी तरह अपने राजनीतिक गुरु महात्मा गाँधी के बारे में उन्होंने लिखा- ''महात्माजी से बढ़कर कौन हो सकता है। उनकी कृपा भी असीम रही यदि मुझमें कुछ भी शक्ति होती तो मैं उनका सच्चा अनुयायी बन सकता था, पर उनकी कृपा और उनके सम्पर्क का सांसारिक लाभ जो किसी को भी मिल सकता था, मैंने प्रचुर मात्रा में पाया।''

माता-पिता के लिए आदर्श पुत्र, पत्नी राजवंशी देवी के लिए आदर्श पति, महात्मा गाँधी के लिए आदर्श शिष्य शिक्षकों की नजर में आदर्श विद्यार्थी, विद्यार्थियों हेतु आदर्श शिक्षक, सेनानियों के लिए आदर्श नेतृत्वकर्त्ता और देशवासियों के लिए आदर्श नेता के रूप मे सर्वप्रिय थे राजेन्द्र प्रसाद ! वे सचमुच देश के रत्न यानी देशरत्न थे।

14 मई 1962 ई० तक राष्ट्रपति के पद को सुशोभित करने वाले देशरत्न ने डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन को उत्तराधिकार सौंपकर चौथेपन को पटना के सदाकत आश्रम में बिताया। यहीं उन्होंने 78 वर्षों की अवस्था में 28 फरवरी 1963 ई० को अंतिम साँस ली। मरकर भी अमर हैं देशरत्न! शरीर तो उनका समाप्त हो गया, पर प्रत्येक भारतवासी के दिल में उनकी छवि प्रतिबिम्बित है।

अब्दुल कOयूम अंसारी

–अली अनवर

मुसलमानों में समाजी बराबरी की लड़ाई लड़ने वाले अब्दुल कय्यूम अंसारी का जन्म 1 जुलाई, 1904 को हुआ। बिहार के पुराने शाहाबाद जिले के डिहरी ऑनसोन में एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे अंसारी साहब का इंतकाल 18 जनवरी, 1973 को हुआ।

कय्यूम अंसारी अपने समकालीन मुस्लिम नेताओं में सबसे बड़े जनाधार वाले नेता थे। वह इतने बड़े नेता के रूप में उभर सके, इसमें छोटानागपुर- संथालपरगना क्षेत्र का बहुत बड़ा योगदान है। मध्य बिहार और उत्तर बिहार सहित राजधानी पटना की राजनीति में तो वह अक्सर मुस्लिम नेताओं के षड्यंत्र के शिकार होते रहे। 1938 ई० में पटना सिटी क्षेत्र के लिए होनेवाले चुनाव में उन्होंने अपनी जिंदगी का पहला चुनाव लड़ा और वे चुनाव हार गये। यह जुदाखाना इंतखाब (सेपरेट एलोक्ट्रेट) का दौर था। उस वक्त बिहार में मुसलमानों के लिए कुल चालीस सीटें आरक्षित थीं।

इसके बाद आया 1946 ई० का चुनाव। उस चुनाव का मुद्दा मिस्टर जिन्ना का दो कौमी नजरिया था। उस चुनाव को एक तरह से इस मुद्दे पर जनमत संग्रह माना गया। कय्यूम अंसारी दो कौमी नजरिया के खिलाफ तनकर खड़े हो गये। छोटानागपुर- संतालपरगना इलाके के मुस्लिम मतदाताओं ने उनका जमकर साथ दिया। इस चुनाव में मोमिन कांफ्रेंस के छह उम्मीदवार जीते उनमें से चार छोटानागपुर- संतालपरगना क्षेत्रों से थे। खुद अब्दुल कय्यूम अंसारी ने अपनी जिंदगी का पहला चुनाव राँची-सह-सिंहभूम से जीता। यह ध्यान देने की बात है कि 1946 ई० के चुनाव में एक तरह से मुसलिम लीग के पक्ष में आँधी चल रही थी। इस चुनाव में काँग्रेस के सिर्फ एक मुस्लिम प्रत्याशी डॉ० सैयद महमूद चुनाव जीत सके थे, वह भी कय्यूम अंसारी की मदद से।

अंसारी साहब अपनी सभाओं में अक्सर बगुला और केकड़े की कहानी सुनाकर दो कौमी नजरिया के खतरे से लोगों को आगाह करते थे। किस्सा यह कि एक बगुला था. उसने जंगल में स्थित एक तालाब की मछलियों को यह कर कर डराया कि जल्द ही इस तालाब का पानी सूखनेवाला है। अतः, सभी मछलियों का बेमौत मारा जाना तय है। उसने डरी हुई मछलियों को एक-एक कर पहाड़ पर स्थित एक तालाब में पहुँचा देने का आश्वासन दिया। मछलियों की राय से यह सिलसिला शुरू भी हो गया। इसी बीच तालाब के एक केकड़े को संदेह हुआ और उसने बगुला से कहा कि इस बार मेरा नंबर है, मुझे पहाड़ पर पहुँचा दो। केकड़े को लेकर वह पहाड़ पर उतरनेवाला ही था कि कुछ ऊपर से ही केकड़े ने देखा कि यहाँ तो कोई तालाब नहीं है, बल्कि उसे पहाड़ की चट्टानों पर मछलियों के अस्थिपंजर दिखाई पड़े। उसे समझते देर नहीं लगी कि बगुला भगत मछलियों को मूर्ख बना रहा है और उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के नाम पर उनका भक्षण कर रहे है। लिहाजा केकड़े ने फौरन बगुला भगत की गर्दन अपने पंजे से दबा दी, जिससे बगुला भगत छटपटाकर मर गया। यह किस्सा सुनाते हुए अंसारी साहब मुस्लिम लीग को बगुला भगत तथा मोमिन कांफ्रेंस को केकड़े की संज्ञा देते थे। कय्यूम अंसारी की इन बातों तथा मोमिन कांफ्रेंस के नारों का पिछड़े वर्ग के मतदाताओं पर काफी असर पड़ा। मोमिन कांफ्रेंस ही एक मात्र ऐसा संगठन था, जो मुस्लिम लीग का मुकाबला कर सका, जमीयतुल उलेमा तथा नेशनलिस्ट मुसलिम जैसी पार्टियों ने भी इस चुनाव में अपने उम्मीदवार खड़े किये थे, लेकिन उनका एक भी उम्मीदवार नहीं जीता। आज की तरह अगर बालिग मताधिकार होता, तो मोमिन कांफ्रेंस को और बड़ी सफलता मिलती। उस जमाने में ज्यादातर मुस्लिम जमींदार, नवाब, रईस, काजी तथा अशराफ

लोगों को ही वोट देने का अधिकार था और कुछ अपवादों को छोड़ आम तौर पर ये लोग मुस्लिम लीगी हवा में बह गये थे।

अब्दुल कय्यूम अंसारी ने मुल्क के बँटवारे से होनेवाले खतरे को पहले ही भांप लिया था। ऑल इंडिया मोमिन कांफ्रेंस के उपाध्यक्ष की हैसियत से अब्दुल कय्यूम अंसारी ने आरा से 9 अक्टूबर, 1939 को काँग्रेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ० राजेंद्र प्रसाद को एक टेलिग्राम (अँगरेजी में) भेजकर कहा – 'मोमिन कांफ्रेंस अखबारों में प्रकाशित कांग्रेस-लीग समझौता-संबंधी खबरों के खिलाफ चेतावनी देती है। लीग को मोमिन कभी मान्यता नहीं देते। ऐसा कोई समझौता मोमिनों को मान्य नहीं होगा, जब तक कि इस संबंध में मोमिनों की राय नहीं ली जाती। साढ़े चार करोड़ मोमिनों को नजरंदाज कर सांप्रदायिक या किसी तरह का समझौता बांझ ही साबित होगा।' डॉ० राजेंद्र प्रसाद ने 13 अक्टूबर 1939 को वर्धा से उक्त टेलिग्राम का जवाब देते हुए लिखा – ''किसी समझौते का प्रस्ताव नहीं है। इसलिए इसका सवाल नहीं उठता।''

मगर राजेंद्र बाबू के इस जवाब के कुछ ही दिनों बाद 1 नवंबर, 1939 को वायसराय ने महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस के नेताओं को बातचीत के लिए बुलाया। अब्दुल कय्यूम अंसारी भला कहाँ चुप बैठनेवाले थे। उन्होंने फिर महात्मा गाँधी और डॉ० राजेंद्र प्रसाद को एक टेलिग्राम भेजा – ''साढ़े चार करोड़ मुसलमानों को लेकर बना मोमिन समुदाय मुसलिम लीग को अपने प्रतिनिधि के रूप में मान्यता नहीं देता। वह सभी मामलों में अपना अलग प्रतिनिधित्व चाहता है। मोमिनों के हितों को नजरंदाज करनेवाला काँग्रेस और लीग के बीच का कोई समझौता मोमिन कांफ्रेंस को स्वीकार्य नहीं होगा। कृपया मिस्टर जिन्ना के साथ मिलते वक्त इन बातों को ध्यान में रखें।'' मगर इतिहास गवाह है कि मोमिन कांफ्रेंस और कय्यूम अंसारी की इस तरह की लगातार चेतावनियों के बावजूद सितंबर 1944 ई० में गाँधीजी मिस्टर जिन्ना से मिले। उन्होंने कांग्रेस-लीग मतभेदों और सांप्रदायिकता तथा हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रश्न पर जिन्ना से बात की, ताकि दोनों की साझा कोशिशों से भारत की आजादी के लिए कोई समझौता हो। वार्ता के दौरान उन्होंने मिस्टर जिन्ना से कहा – ''मैं इस बात को मानता हूँ कि लीग सबसे ताकतवर मुस्लिम संगठन है। मैं यहां तक स्वीकार करता हूँ कि आप इसके सदर की हैसियत से पूरे भारत के मुसलमानों की नुमाइंदगी करते हैं...।'' जाहिर है कि काँग्रेसी नेताओं की इसी तरह की समझ ने कट्टर सांप्रदायिक संगठन के रूप में बदनाम मुस्लिम लीग को राजनीतिक क्षितिज पर उभरने का मौका दिया, जो देश की एकता के लिए घातक हुआ।

1946 ई० के चुनाव के बाद श्रीकृष्ण सिंह (श्रीबाबू) के नेतृत्व में प्रांतीय सरकार का गठन हो रहा था। बिहार के सभी काँग्रेसी हिंदू नेता चाहते थे कि अंसारी साहब को भी मंत्रिमंडल में शामिल किया जाये। श्रीबाबू की तो यहाँ तक राय थी कि अंसारी साहब के बगैर बिहार में सरकार की कल्पना नहीं की जा सकती है। मगर तथाकथित अशराफ मुसलिम नेता इसमें अड़ंगेबाजी कर रहे थे। और तो और मौलाना अबुल कलाम आजाद, जो बतौर काँग्रेस के केंद्रीय पर्यवेक्षक पटना तशरीफ लाये थे, उन्होंने शर्त लगा दी कि अंसारी साहब पहले मोमिन कांफ्रेंस का काँग्रेस में विलय कर दें और खुद काँग्रेस की सदस्यता ग्रहण करें। तभी उन्हें कैबिनेट में रखा जा सकता है। मगर अंसारी साहब और उस जमाने के मोमिन लीडरों ने ऐसा करने से साफ इंकार कर दिया। कहते हैं कि इसके बाद पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल के हस्तक्षेप से मामला सलटा और अंसारी साहब मोमिन कांफ्रेंस का वजूद कायम रखते हुए काँग्रेसी मंत्रिमंडल में शामिल हुए। अंसारी साहब ने अपने इस कार्यकाल में 500 बैकवर्ड मुसलिम मकतब तथा 1200 बुनकर सहयोग समितियों का निर्माण कराया, जिसके लिए वे आज भी याद

किये जाते हैं।

1947 ई० में मुल्क आजाद हुआ। 1952 ई० का पहला चुनाव आया। अंसारी साहब अपने गृह क्षेत्र डालमियानगर से पहली बार काँग्रेस प्रत्याशी के रूप में मैदान में उतरे। मगर चुनाव हार गये। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि उनके विरोधी काँग्रेसी नेताओं ने उन्हें हरवा दिया। आजाद देश का पहला आम चुनाव और कय्यूम अंसारी जैसे कद्दावर नेशनलिस्ट लीडर अपने ही गृह क्षेत्र से चुनाव हार जायें, घोर आश्चर्य! दरअसल उनके राजनीतक विरोधियों की यह एक गहरी साजिश थी, उनका राजनीतक कैरियर ही समाप्त कर देने की। अंसारी साहब के लिए यह कठिन समय था। लेकिन एक बार फिर छोटानागपुर-संथालपरगना ही उनके काम आया और जल्द ही एक उपचुनाव जीत कर विधानसभा में दाखिल हुए और कैबिनेट में भी शामिल कर लिये गये।

1952 ई० के आम चुनाव के बारे में स्व० मुंगेरीलाल ने एक बहुत दिलचस्प किस्सा इन पंक्तियों के लेखक को सुनाया था- ''अंसारी साहब और बसावन बाबू के बीच कांटे की लड़ाई थी। एक साहब बसावन बाबू की पत्नी को उनके गाँव से बुलाकर अंसारी साहब के पास लाये और कहा कि ये बसावन बाबू से सख्त नाराज हैं और उनके खिलाफ प्रचार करना चाहती है। अंसारी साहब ने उस आदमी को बुरी तरह फटकारा और आइंदा ऐसी हरकत करने से माना किया। साथ ही तुरंत बाजार से कपड़े एवं मिठाइयाँ मँगवाईं और कुछ पैसे देकर अपने एक आदमी से कहा कि उक्त महिला को उनके घर छोड़ आये।'' मुंगेरीलाल कहते हैं कि अंसारी साहब को चुनाव हारना कबूल था, लेकिन अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी के खिलाफ इस तरह की ओछी हरकत गवारा नहीं हुई।

अंसारी साहब न सिर्फ पिछड़े और दलित मुसलमानों के मसीहा थे, बल्कि हिंदुओं के पिछड़े और दलित तबकों के भी सम्मानित नेता होने का गौरव उन्हें हाशिल है। पुराने शाहाबाद जिला में 'त्रिवेणी संघ' की गतिविधियों में उन्होंने जमकर हिस्सा लिया। बिहार में 'बैकवर्ड क्लासेज फेडरेशन' की स्थापना करनेवाले नेताओं में अंसारी साहब अव्वल थे। पार्टियाँ और पद तो महज साधन थे। उनका ईमान और उनकी प्रतिबद्धता समाज के दलित और पिछड़े तबकों से मजबूती से जुड़ी हुई थी।

एक घटना गौरतलब है। 1948 ई० में पटना के काँग्रेस मुख्यालय सदाकत आश्रम में एक दिन प्रदेश काँग्रेस कमेटी की बैठक चल रही थी। पं० विनोदानंद झा (जो बाद में राज्य के मुख्यमंत्री हुए) ने अचानक एक प्रस्ताव लाया कि काँग्रेस के जो नेता 'बैकवर्ड क्लासेज फेडरेशन' की गतिविधियों में भाग लेते हैं, वे इस बैठक में ही उक्त संगठन से अपने संबंध विच्छेद की घोषणा करें, वरना उन्हें अभी से ही काँग्रेस से अलग समझा जाये। शाह उमैर ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। बैठक में मौजूद अब्दुल कय्यूम अंसारी, वीरचंद पटेल, रामलखान सिंह यादव आदि नेताओं ने उस बैठक में ही 'वैकवर्ड क्लासेज फेडरेशन' से अलग होने की जगह काँग्रेस से ही अपने को अलग करने की घोषणा कर दी। बैठक में उपस्थित श्रीबाबू ने स्थिति की गंभीरता को समझते हुए बीच-बचाव करके पं० विनोदानंद झा से उनका प्रस्ताव वापस कराया।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती

–मिथिलेश

भारत ऋषियों, मुनियों एवं संतों का देश रहा है। भारतीय चिंतन की विशाल परम्परा में इनके योगदान विश्वसनीय हैं। इस गौरवपूर्ण श्रृंखला में आधुनिक भारत के तीन सन्यासियों के नाम आदर के साथ लिए जाते हैं- स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी सहजानन्द। संयोग समझें कि एक ही सदी में उत्पन्न तीनों स्वामियों के नामों में आनन्द शब्द समान रूप से जुड़ा है। तीनों के अंतर्निहित आनन्द भाव आत्मिक से चलकर विश्व मानवता में विलीन होते हैं। तीनों का जन्म गुलाम भारत में हुआ था।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का मार्ग दयानन्द एवं विवेकानन्द से भिन्न था। अध्यात्म की खोज में निकला बालक नवरंग विभिन्न पड़ावों से गुजरता राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़कर क्रियात्मक अनुभव के आधार पर वैज्ञानिक समाजवाद तक पहुँच गया। यही नवरंग आगे चलकर सहजानन्द के रूप में निखरा। इनका जन्म 1889 ई० की फरवरी में महाशिवरात्रि के दिन उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिलान्तर्गत देवा नामक गाँव में एक साधारण किसान परिवार में हुआ था। पिता का नाम बेनीराय था। बाल्यकाल से ही इनके अन्दर ईश्वर-भक्ति के लक्षण प्रस्फुटित होने लगे थे। कुशाग्रबुद्धि के कारण अध्ययन के प्रति लगनशीलता जगी। इन्होंने छः वर्षों की पढ़ाई तीन वर्षों में ही पूरी कर ली। मिडिल की परीक्षा में प्रान्तीय स्तर पर सातवाँ स्थान प्राप्त कर अपनी मेधा का परिचय दिया। अध्ययन के साथ-साथ सांध्य प्रणायाम एवं पूजा-पाठ की प्रबल रुचि को देख पिता जी ने अल्पायु में ही इनकी शादी कर दी। संयोग से पत्नी एक वर्ष में ही दिवंगत हो गई। इनका अध्ययन अनवरत चलता रहा। पिताजी ने दूसरी शादी की योजना बनाई। बालक नवरंग को इसकी भनक लगी और अपनी पढ़ाई को छोड़ परिवार को बिना सूचना दिए एक दिन संन्यास का संकल्प ले सदा के लिए गृहत्याग कर काशी जा पहुँचा 1907 में काशी के अपारनाथ मठ में विधिवत संन्यास की दीक्षा ले ली। अब नवरंग राय सहजानन्द बन गए। धुन में धनी ईश्वर की खोज में गंगा किनारे-किनारे पैदल पाँव चल पड़े। हिमालय को छान मारा। सच्चे योगी की तलाश निष्फल गई, जो इन्हें ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बतलाता। सहजानन्द बनारस लौट आये। ज्ञानार्जन इनका मूल उद्देश्य बन गया। इन्होंने संस्कृत के गहन अध्ययन में अपने आपको झोंक दिया। बनारस से लेकर मिथिला तक का भ्रमण कर अनुशील-कार्य में लग संस्कृत साहित्य, व्याकरण, न्याय, मीमांसा एवं दर्शनशास्त्र में पूर्णता प्राप्त की। इनकी गिनती उद्‌भट विद्वान एवं ओजस्वी वक्ता के रूप में होने लगी। वे प्रवचन के लिए भिन्न-भिन्न जगहों का भ्रमण करने लगे। योग के प्रति इनकी निष्ठा कहीं गई नहीं। अच्चुतानन्द सरस्वती की आध्यात्मिक निष्ठा से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया और स्वाध्याय के बल पर गिरिनामा संन्यासी से स्वामी सहजानन्द सरस्वती की उपाधि से विभूषित हो दंडधारी बन गए। काशी के ब्राह्मण समाज को यह अनुचित बुझाया। उन्होंने इसका विरोध ब्राह्मण एवं गैर ब्राह्मण के आधार पर आरंभ किया। स्वामी जी को विद्रोही बना दिया। इन्होंने ब्राह्मण समाज की स्थिति, झूठा भय और मिथ्यामिमान, कर्मकलाप, ब्रह्मर्षि वसं विस्तर आदि रचनाओं को लिखकर अंधविश्वास एवं रूढ़ियों का भंडाफोड़ किया। ब्रह्मणत्व के ठेकेदारों से शास्त्रार्थ इनका व्यसन बन गया। इसी क्रम में इन्हें ब्रह्मर्षि समाज के अंदर की विसंगतियों को भी समझने का अवसर मिला।

जहाँ की अमीरी-गरीबी का अन्तर इन्हें मान्य नहीं था। मुंगेर के सम्मेलन में अध्यक्षता करते हुए इन्होंने ब्रह्मर्षि समाज को सदा के लिए भंग कर दिया। इस प्रकार आध्यात्मिक यात्रा सामाजिकता की

ओर मुड़कर नई दिशा ढूँढ़ने लगी। वे अपनी अँग्रेजी को सुधारने के उद्देश्य से अखवारों का अध्ययन करने लगे। तिलक के भाषण एवं जालियाँवाला बाग की वीभत्स घटना ने उनके भावुक मन को झकझोर कर रख दिया।

5 दिसम्बर 1920 को पटना में मौलाना मजहरूल हक के आवास पर स्वामी सहजानन्द सरस्वती की मुलाकात महात्मा गाँधी से हुई। इनके ऊपर गाँधी जी के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा और ये सच्चे गाँधीवादी बन गए। इस प्रकार ईश्वर का खोजी सहजानन्द सामाजिकता से जुड़ते-जुड़ते राजनीति के मैदान में एक योद्धा के रूप में कूद पड़े। यह इनकी जीवन-यात्रा का क्रमिक विकास था, जो अनुभव जन्य था। सक्रिय राजनीति में आने के पीछे देश की तात्कालिक दुर्दशा एवं उसके उद्धार हेतु महात्मा गाँधी द्वारा चलाया गया असहयोग आन्दोलन के प्रति गहरी आस्था ही थी। स्वामीजी ने राष्ट्रसेवा का संकल्प लिया और काँग्रेस की राजनीति में रूचि लेने लगे। नागपुर काँग्रेस अधिवेशन से लौटकर बक्सर को इन्होंने अपना कार्य क्षेत्र चुना और जनजागरण कार्यों में लग गए। जनसंपर्क, राजनीतिक चेतना का प्रचार एवं संगठन निर्माण कर राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भूमिका अदा करने लगे। वह बिहार कौंसिल के चुनाव का काल था। काँग्रेस ने हथुआ महाराज के विरुद्ध एक साधारण धोबी को उम्मीदवार बनाकर कौंसिल का विरोध प्रतीकात्मक रूप में किया। स्वामी सहजानन्द ने उस धोबी के पक्ष में धुआँधार प्रचार कार्य आरम्भ किया। अपने भाषण के क्रम में उन्होंने कहा- ''राजा-महाराजा से हमारा साधारण श्रमशील धोबी कहीं अच्छा है।'' और कांग्रेस की जीत हुई। स्वच्छ चरित्र के स्वामीजी जीवन के हर क्षेत्र में शुद्ध आचरण के हिमायती थे।

स्वामीजी के व्यक्तित्व में विचित्र प्रकार का आकर्षण था। सामान्य कद, स्थूल शरीर, गेहुआँ रंग, मुंडित मस्तक, गेरूआ वस्त्र दंडधारी स्वामीजी की चाल किसी भी फुर्तीले जवान से तेज थी। संकल्प के धनी स्वामीजी के आचरण में गीता का कर्मयोग कदम-कदम पर प्रस्फुटित होता था। जिस किसी भी कार्य में लगते थे, प्राणप्रण से जुट जाते थे। ईश्वर अन्वेषी भावुक योगी राष्ट्रीय आंदोलन का हरकारा बन गया। अहमदाबाद काँग्रेस अधिवेशन से लौटते समय इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इन पर राजद्रोह का मुकदमा चला और सजा पाकर इन्होंने गाजीपुर, फैजाबाद, लखनऊ आदि की जेलों में हवा खाई। जेल जीवन के कटु अनुभवों ने स्वामीजी को तिलमिला दिया। उच्चादर्शों के धनी स्वामी जी को तथाकथित गांधीवादियों की कथनी और करनी के भेद ने मर्माहत कर दिया। साधारण सुविधाओं के लिए साथियों के प्रति उनके आत्मकेंद्रित व्यवहार को देखकर वे चिंतित हो उठे- क्या ये ही गाँधी के शिष्य हैं? क्या इन्हीं क्षुद्र स्वार्थियों के बल पर पवित्र स्वतंत्रता प्राप्त की जायगी? एक बार पुनः स्वामीजी ने अपने कर्मक्षेत्र का बदलाव किया और 1926 ई० में बिहार प्रान्त के बिहटा में श्री सीताराम आश्रम बनाकर संस्कृत की शिक्षा देने के कार्य के साथ-साथ राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यों में संलग्न हो गए। इसी क्रम में उनका संपर्क क्षेत्र के सताये गए किसानों-मजदूरों से हुआ। इन्हें निकट से उनकी पीड़ा को देखने-समझने का अवसर मिला। राष्ट्रीय आंदोलन के साथ पीड़ित किसानों-मजदूरों को संगठित करना इनका नया कार्यक्षेत्र बन गया। उनकी पीड़ा का प्रत्यक्ष कारण जमींदारों, पूँजीपतियों का शोषण था। बिहटा के चीनी कारखाने का स्वामी डालमियाँ परिवार था। उसके अमानुषिक व्यवहार से किसान-मजदूर त्रस्त थे। स्वामीजी ने 1927 में पश्चिमी पटना किसान सभा का गठन कर चीनी मिल में हड़ताल करवाई और शानदार विजय प्राप्त की। स्वामीजी की इस नवीन कार्यशैली का उद्देश्य किसानों-मजदूरों को एकजुट कर आर्थिक शोषण के विरुद्ध व्यापक संघर्ष खड़ा करना एवं इस विशाल वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़कर संघर्ष को धारदार करना था। उनकी समझ थी कि बिना ग्रामीण समाज को आंदोलन से जोड़े आजादी का महायज्ञ अधूरा रह जायगा। एक पैसा सदस्यता शुल्क के

आधार पर किसानसभा का गठन प्रारम्भ किया। दिन-रात एक कर देने वाले स्वामीजी को संघर्ष के क्रम में जमींदारों की मनोवृत्ति का गहन परिचय मिला। इनकी आँखें खुल गई। सदियों की सर्वग्रासी भावली, मनमानी दानाबंदी, क्रूर नकदी प्रथा, गैर कानूनी अत्याचार, नजर-तहरी, बैठ-बेगारी, दंड- जुर्माना, जमीन से बेदखल आदि से त्रस्त किसानों- मजदूरों की दुर्दशा का निकट से अनुभव ने स्वामीजी के भावुक विद्रोही मन को झकझोर कर रख दिया। किसान संगठन को सक्रिय करना इनका प्रथम कर्त्तव्य बन गया।

बिहार की व्यवस्थापिका सभा में काश्तकारी बिल पेश होने वाला था। स्वामीजी को जब इसकी जानकारी हुई तो इनका माथा ठनका। वह बिल किसानों के हित पर कुठाराघात साबित होने वाला था। काँग्रेसी नेता बाबू रामदयालु सिंह ने इस बावत स्वामीजी से सम्पर्क किया। दोनों ने विचार-विमर्श के आधार पर तय किया कि बिहार प्रान्त के किसानों को एकजुट किया जाय। स्वामीजी ने प्रांतभर में तूफानी दौरा करते हुए षडयंत्रकारी बिल का भंडाफोड़ करना आरम्भ किया। 17 नवम्बर, 1929 को विश्व प्रसिद्ध सोनपुर मेले में ऐतिहासिक प्रान्तीय किसान सम्मेलन हुआ। अध्यक्षता स्वामीजी ने की। प्रस्ताव के रूप में स्वीकृत हुआ कि बिहार के किसानों का एक सुदृढ़ संगठन गठित हो। उसी सम्मेलन में बिहार प्रान्तीय किसानसभा का चुनाव भी हुआ। स्वामी सहजानन्द अध्यक्ष एवं बिहार केसरी डॉ० श्रीकृष्ण सिंह मंत्री निर्वाचित हुए। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० अनुग्रह नारायण सिंह, रामदयालु सिंह प्रभृति प्रसिद्ध काँग्रेसी उसके सदस्य निर्वाचित हुए। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा पर इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और घबराकर भावी बिल को यह कहते हुए वापस कर लिया गया कि किसान सभा इसका विरोध कर रही है। अपने जन्मकाल में ही किसान सभा की यह प्रथम ऐतिहासिक विजय हुई। इस जीत का प्रत्यक्ष प्रभाव राष्ट्रीय आंदोलन पर पड़ा। आम जन में आत्मविश्वास का संचार हुआ। लोगों की समझ बनी कि अँग्रेजी साम्राज्यवाद के देशी दलाल जमींदारों के विरुद्ध किसानों-मजदूरों को संगठित किये बिना राष्ट्रीय आन्दोलन अधूरा है। किसान सभा का समर्थन तमाम राष्ट्रीय विचारधारा वाले लोगों ने उत्साह के साथ किया। सरदार बल्लभ भाई पटेल का आगमन बिहार में हुआ। स्वामी जी के साथ उन्होंने भी जगह-जगह सामन्तों के विरुद्ध किसानों के पक्ष में भाषण दिए।

उधर राष्ट्रीय आंदोलन शवाब पर था। फूँक-फूँक कर कदम रखने वाली काँग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में रावी के रमणीय तट पर पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित किया। उसी अधिवेशन में यह प्रस्ताव भी पारित हुआ कि 26 जनवरी 1930 को सम्पूर्ण भारतवर्ष में पूर्ण स्वतंत्रता के ऐतिहासिक घोषणा-पत्र की प्रति सामूहिक आयोजन कर दुहराई जाय। उस अधिवेशन की अध्यक्षता पंडित जवाहर लाल नेहरू ने की थी। उसी ऐतिहासिक अधिवेशन में नमक सत्याग्रह का भी संकल्प लिया गया। स्वामी सहजानन्द ने अधिवेशन से लौटकर बिहटा के निकट अम्हरा गाँव में नमक बनाकर सरकारी कानून का उल्लंघन करते हुए गिरफ्तारी दी। उन्हें हजारीबाग जेल में रखा गया। प्रथम जेल यात्रा का कटु अनुभव यहां भी हुआ। तथाकथित गाँधी भक्तों के अंदर विसंगति जनित निराशा यहाँ आकर और फलीभूत हो गई। स्वामीजी चिंतित हो उठे- इन चरित्रहीन पतित स्वयंसेवियों के माध्यम से पवित्र स्वराज की मंजिल किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? इसका बड़ा आघात इनके विद्रोही मन पर पड़ा और ये गाँधीवाद से उदासीन होने लगे। बिहार काँग्रेस की ओर से किसानों की दुर्दशा की जाँच करवायी गई, लेकिन काँग्रेस के अन्दर घुसे जमींदारों, पूँजीपतियों ने नतीजे को निष्फल बना दिया। स्वामीजी को घोर निराशा हुई। वे तो उच्च आदर्श-प्राप्ति हेतु गृहत्याग कर दर-दर सत्य की खोज में भटक रहे थे। प्रारंभिक आदर्श उच्चादर्श में परिणत हो गया था। वैयक्तिक मुक्ति की जगह उनका आदर्श देश एवं मेहनतकश भारतीय जन की मुक्ति बन गया था। उनके हृदय में ईश्वर के स्थान पर उनकी सृष्टि के सर्वाधिक सताये गए किसान- मजदूर अपनी विपन्नता के साथ आँखों में मुक्ति की धमक लिए बस गए थे। उनकी मुक्ति की

तड़प इनके अंतर में अहर्निश अग्नि की तरह धधकने लगी। निष्ठावन भावुक हृदय स्वामीजी जेल जीवन में कार्यकर्त्ताओं की विसंगति भरे आचरण से मर्माहत एवं शिथिल पड़ते जा रहे थे।

इसी बीच 1933 में कुछ अवसरवादियों द्वारा एक नकली किसान सभा का गठन कर अपने हित में कौंसिल में किसान विरोधी बिल पास करवाने का कुचक्र रचा गया। स्वामीजी की पैनी नजर से यह कुकृत्य छुपा नहीं रहा। उस बिल के माध्यम से जमींदार को प्रति सौ एकड़ में दस एकड़ जिरात बनाने का अधिकार स्वत: प्राप्त हो जाता। पटना के गुलजारबाग में उक्त सभा की तैयारी चल रही थी। स्वामीजी को इसकी सूचना गया जिला के किसान नेता डॉ० युगल किशोर जी से मिली। उस नकली किसानसभा द्वारा तैयार बिल के पक्ष में जमींदारों एवं सरकार के विशेष स्नेहभाजक राजा सूर्यपुरा सच्चिदानन्द सिंह, श्री गुरूसहाय लाल, श्री शिवशंकर झा आदि मिलकर किसानों को गुमराह करते हुए समझा-बुझाकर बिल पास करवाने के कुचक्र में सक्रिय थे। स्वामीजी को जब उसकी भनक लगी, तो वे घूम-घूमकर इसका भंडाफोड़ करने लगे। परिणामस्वरूप कौंसिल में संशोधित बिल पास हुआ, जिससे सैकड़े दस जिरात वाली बात हटा दी गई। यह किसानसभा की सक्रियता की दूसरी जीत थी।

1934 के भयंकर भूकम्प से स्वामीजी मर्माहत हो उठे। स्वामीजी पीड़ितों की सेवा में जुट गए। एक ओर भूकम्प से त्रस्त आमजन दाने-दाने को तरस रहे थे, तो जमींदार आँसू पोंछने की जगह लगान वसूली का अभियान छेड़े हुए थे। भूकम्प ने जन-जीवन के साथ-साथ किसानों के खेती-योग्य जमीन का भौतिक परिदृश्य ही उलट-पुलट कर दिया था। खेतों में कहीं टीले हो गए थे तो कहीं खाई। उपजाऊ जमीन बालुकामय हो गयी थी। सरकार द्वारा रिलीफ फंड बाँटे जाने लगे। कोढ़ में खाज की तरह जमींदार रिलीफ के मिले पैसे लगान में वसूल करने लगे। उस दुर्दिन में भी जमींदारों के लिए 'इतने अच्छे दिन' आये थे। स्वामीजी का विद्रोही मन हाहाकार कर उठा। महात्मा गांधी पटना पधारे थे। स्वामीजी ने उनसे शिकायत की कि बड़े-बड़े काँग्रेसी जमींदार अमानुषिकता पर उतर आये हैं। गांजी जी ने इसे स्वीकार नहीं किया। स्वामीजी ने वैसे जमींदारों के विरुद्ध आंदोलन की धमकी दी। गाँधी जी ने इन्हें प्रमाण देने को कहा, जिसमें किसानों एवं जमींदारों के नाम स्पष्ट अंकित हो। स्वामीजी का तर्क था कि अगर किसानों ने नाम बतलाये तो जमींदार उनके ऊपर भिन्न-भिन्न प्रकार का अत्याचार ढायेगा। गांधी जी के रवैये से स्वामीजी को बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने उनके सम्मुख ही गाँधीवाद को अंतिम सलाम कर दिया।

1937 में काँग्रेस मंत्रिमंडल का गठन हुआ। चुनाव के अवसर पर तपे तपाये कर्मठ काँग्रेसियों की जगह जमींदारों एवं पूंजीपतियों को उम्मीदवार बनाये जाने का विरोध करते हुए स्वामीजी ने बिहार प्रान्तीय काँग्रेस कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के अथक प्रयत्न से इन्होंने इस्तीफा वापस लिया। मगर शनै: शनै: इनके मन में कांग्रेस से विकर्षण होना आरम्भ हो गया। स्वामीजी का ध्यान किसानसभा की ओर केन्द्रित होता जा रहा था।

स्वामीजी के जादुई व्यक्तित्व ने मुर्झाये किसानों में एक नई आशा का संचार किया। प्रान्तीय किसानसभा के गठन से बिहार के कोने-कोने में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ किसान आंदोलन की लहर पैदा हो गई। स्वामीजी के जुझारू व्यक्तित्व ने आंदोलन में नई जान फूँक दी। जुल्म के खिलाफ अपने हक के लिए किसानों-मजदूरों के अंतर में अपूर्व उत्साह जग गया। उनके अन्दर हक प्राप्ति की उद्दाम लालसा और जूझने का संकल्प ज्वार बनकर फूट पड़ा। उनके होठों पर ये गीत मुस्कुराने लगे-''अब न सहब हम जुलुमियाँ हो राजा, तोर जमींदरिया आग लगे तोर कचहरिया हो राजा, तोर जमींदरिया।'' जोश भरे किसानों के कंठों से यह नारा गूँजने लगा-'जमींदारी प्रथा का नाश हो।' 1935

में हाजीपुर के प्रान्तीय किसान सम्मेलन में जमींदारी प्रथा हटा देने का प्रस्ताव पारित हुआ।

1936 में लखनऊ काँग्रेस अधिवेशन के अवसर पर किसान हितैषी काँग्रेसियों का अखिल भारतीय किसान सम्मेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता स्वामी सहजानन्द ने की। उस सम्मेलन में तमाम प्रान्तीय किसान संगठनों को अखिल भारतीय किसान सभा से संबद्ध करने की बुनियाद पड़ी। वहीं एक किसान माँग-पत्र भी तैयार किया गया एवं किसान जाँच समिति का गठन किया गया। पंडित जवाहर लाल नेहरु ने इनके प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा- 'किसानों की स्थिति की जांच अवश्य होनी चाहिए। हम इसके लिए स्वामी सहजानन्द जी को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।' 1938 में कांग्रेस अधिवेशन से अलग स्वतंत्र रूप से अखिल भारतीय किसानसभा का सम्मेलन आयोजित किया जाने लगा। 1939 में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में अखिल भारतीय किसानसभा का चतुर्थ अधिवेशन गया में आयोजित किया गया। काँग्रेस के अंदर वामपंथी विचारधारा से प्रभावित लोगों के साथ-साथ कम्युनिसट भी स्वामी जी के साथ कंधा-से-कंधा मिलाकर किसान आंदोलन में जुट गए। स्वामीजी ने देश का सघन दौरा प्रारम्भ किया और सम्पूर्ण भारत में किसानसभा का गठन करते हुए राष्ट्रीय आंदोलन की धूम मचा दी। इनके निकटतम सहयोगियों में- राहुल सांकृत्यायन, पुरुषोत्तम दास टंडन, संपूर्णानन्द, इन्दुलाल याज्ञिक, यमुना कार्यी आदि कर्मठ किसान हितैषी कार्यकर्त्ता थे, जिनके सहयोग से सुदृढ़ अखिल भारतीय किसानसभा के आंदोलन ने अंग्रेजी हुकूमत को थर्राकर रख दिया। विभिन्न किसान संगठनों के संयुक्त मोर्चा द्वारा स्वामीजी ने वीरतापूर्ण संघर्ष की धूम मचा दी। कांग्रेसी मंत्रिमंडल में सम्मिलित जमींदारों की बौखलाहट चरम पर पहुंच गई। किसानसभा को काँग्रेसी सरकारों के दमन का भी शिकार होना पड़ा, लेकिन उनके उत्साह में कोई कमी नहीं आई। 1937 में बिहार में काँग्रेसी मंत्रिमंडल का गठन हो गया था। उसके दमनकारी रवैये से क्षुब्ध स्वामी जी ने बिहार विधान सभा भवन के समक्ष विराट रैली का आयोजन किया। बिहार के चप्पे-चप्पे में किसान संघर्ष छिड़ गया। सत्याग्रह हथियार बना। बिहार कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित कर सत्याग्रह पर प्रतिबंध लगा दिया। स्वामी जी का सत्याग्रह आंदोलन जारी रहा। बड़हिया टाल, रेवड़ा, मंझियाबाँ, अमवारी, मंझवे, अनुवाँ आदि जगहों पर स्वयं उपस्थित होकर स्वामीजी किसानों का उत्साहवर्द्धन करने लगे। संघर्ष में दबे-सताये किसान औरत-मर्द समान रूप से सरकारी बंदूकों, लाठियों को सामना करते विजय-दर-विजय हासिल करते गए। जमींदारों के लठैत और पुलिस बल औरत-मर्द की शान्ति सेना के धैर्य, साहस और उत्सर्ग को देखकर दंग रह गए। सुसंगठित किसान स्वयंसेवकों को प्रशिक्षित करने का कार्य पंडित यदुनन्दन शर्मा एवं कर्मानन्द शर्मा कर रहे थे। स्वामीजी के सिंह गर्जन से किसानों में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए ऐसा उत्साह का संचार होता था कि मर्दों के अभाव में औरतें स्वयं खेतों में हल चलाने लगती थीं। किसानों के वीरतापूर्ण संघर्ष की खबरें विश्व के समाचार-पत्रों की सुर्खियों में जगह पाती थीं। स्पेन के अखबारों में छपे समाचारों को पढ़कर मुल्कराज आनन्द ने स्वामी जी से कहा कि स्पेन वासी आपके संघर्ष से प्रेरणा ग्रहण कर आपकी राह पर चल पड़े हैं।

स्वामीजी का अनथक अनवरत तूफानी दौरा कभी हिमालय की तराइयों में, कभी नर्मदा-ताप्ती के सुदूर अंचलों में, कभी गंगा के समतल मैदानी भागों में तो कभी दक्षिण के पठारों में चलता रहा। देश में किसान क्रांति की बुनियाद पड़ गई, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव राष्ट्रीय आंदोलन की सक्रियता पर पड़ा। स्वामीजी किसानों के एकमात्र सर्वमान्य नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। इनके इशारे पर सम्पूर्ण भारत का विशाल किसान वर्ग आत्मोत्सर्ग के लिए उद्धत था।

इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। इसकी विभीषिका चतुर्दिक फैल रही थी। भारतीय काँग्रेस के

अन्दर समझौतावादी प्रवृत्ति पनपने लगी। इससे क्षुब्ध होकर स्वामीजी ने सुभाषचन्द्र बोस से सम्पर्क स्थापित कर रामगढ़ अधिवेशन के अवसर पर समझौता विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया। स्वामी जी स्वागत समिति के अध्यक्ष बनाये गए और सुभाष चन्द्र बोस सम्मेलन के अध्यक्ष बने। दोनों के ऐतिहासिक ओजस्वी भाषण हुए। स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा- 'अँग्रेजों को न एक पाई, न एक भाई देंगे।' इस सफल आयोजन से काँग्रेसी दोनों पर बौखला उठे। रामगढ़ में दिए गए भाषण के अभियोग में स्वामीजी को तीन वर्षों की सश्रम सजा हुई और वे हजारीबाग के केन्द्रीय कारा में डाल दिए गए। वहीं इन्होंने कई कालजयी रचनाओं का सृजन किया। मेरा जीवन संघर्ष, गीता हृदय, किसान कैसे लड़ते हैं, झारखण्ड के किसान, किसान क्या करें? खेत मजदूर, क्रांति और संयुक्त मोर्चा आदि। इन रचनाओं ने स्वामीजी को एक सिद्धहस्त लेखक के रूप में प्रतिष्ठित और चर्चित कर दिया, जिन पर सोवियत रूस में शोधकार्य भी किये गए। समझौता विरोधी आंदोलन के उपरान्त फॉर्वर्ड ब्लॉक पत्रिका में सुभाष चन्द्र बोस ने एक आलेख में लिखा- 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती हमारी इस धरती पर एक जादुई नाम हैं। ये भारत के किसान आंदोलन के निस्संदेह सर्वोपरि नेता हैं। ये आज के समय में जनता के आराध्य देव एवं लाखों के 'हीरो' हैं। रामगढ़ के समझौता विरोधी सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में उन्हें प्राप्त करना हमलोगों के लिए वाकई एक दुर्लभ भाग्य की बात है। फार्वर्ड ब्लॉक के लिए यह एक गौरवपूर्ण विशेषाधिकार एवं सम्मान की बात थी कि हम उन्हें वामपंथ के सबसे अग्रणी नेता, मित्र, दार्शनिक एवं पथ प्रदर्शक के रूप में प्राप्त कर सके।

स्वामी जी क्रियात्मक विकास के क्रम में मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए सोवियत रूस के प्रबल समर्थक एवं प्रशंसक बन गए। अपने व्याख्यानों में वे रूस की प्रशंसा किये बिना नहीं रहते थे। वे कहा करते थे- 'दुनिया में एक ऐसा देश है, जहाँ जमींदारी नहीं, पूँजीपति नहीं एवं किसी प्रकार का शोषण नहीं है। वहाँ कमाने वालों का राज है। उनकी कमाई का कोई शोषण नहीं करता। वह देश है सोवियत रूस।' उसी रूस पर 1941 को हिटलर ने हमला कर दिया। स्वामीजी तिलमिला उठे। उस हमले को विश्व के तमाम शोषितों पर आक्रमण समझकर उन्होंने 1942 में हजारीबाग जेल से रिहा होते ही फासिस्ट और नात्सी शक्तियों के विरुद्ध भारतीय जनगण को सचेत करने का बीड़ा उठाया। 1942 की अगस्त क्रांति में साम्राज्यवादियों के द्वारा ढाये कहर के विरुद्ध स्वामी जी ने खुलकर विरोध किया। तमाम बड़े नेता जेलों में बन्द थे। वैसे संकट के समय आंदोलन का सूत्र अपने हाथों में लेते हुए नेताओं की रिहाई से लेकर अन्न-वस्त्र जुटाने, राष्ट्रीय सरकार गठित करने हेतु किसान सभा के मंच का सदुपयोग किया एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के महायज्ञ में समिधा जुटाते रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति होते-होते विश्व की परिस्थितयाँ बदलने लगीं। भारत में आजाद हिन्द फौज की रिहाई का आंदोलन स्वामीजी के नेतृत्व में चल पड़ा। राष्ट्रीय आंदोलन का उभार चरम पर था। ऐसी परिस्थिति में भी किसान आंदोलन का नेतृत्व स्वामी जी अनवरत जारी रखे रहे। इन तमाम विपरीत परिस्थितियों के कारण अँग्रेजों ने घबराकर 1947 में भारत को आजाद कर दिया।

भारत को राजनैतिक आजादी तो मिल गई थी, लेकिन भारत में स्वामीजी के सपने का किसान-मजदूर राज कायम नहीं हो सका था। अखंड भारत दो टुकड़ों में विभक्त क्या हुआ मानो स्वामीजी के कलेजे पर ही आरी चल गई। भारत विभाजन से इनका हृदय विदीर्ण हो गया। अखिल भारतीय काँग्रेस समिति की बैठक में स्वामी सहजानन्द सरस्वती, डॉ० राम मनोहर लोहिया, पुरुषोत्तम दास टंडन ने काँग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। इस प्रकार जीवन के विभिन्न पड़ावों से गुजरते हुए स्वामी सहजानन्द भारतीय समाज में आर्थिक क्रांति के अग्रदूत बन गए। हाउजर ने एक जगह लिखा है- 'स्वामीजी ने जनता को शिक्षित किया और उस दौरान स्वयं शिक्षित भी होते चले गए।' गाँव की

गरीबी, भुखमरी, कष्ट और जुल्म के विरुद्ध संघर्ष के क्रम में स्वामीजी समाजवादी से मार्क्सवादी बन गए। उनका ज्ञान पुस्तकीय नहीं, बल्कि स्वाध्याय स्वानुभूति पर आधारित था। बिस्मिल, भगत सिंह, सहजानन्द, महात्मा गाँधी एवं सुभाष चन्द्र बोस निश्चय ही भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के ऐसे महापुरुष हुए, जिनके लिए आम भारतीय के हृदय में अपार श्रद्धा की भावना अद्यतन मौजूद है। सहजानन्द ने जन संगठन को संग्रामी तेवर से लैस कर देश की राजनीति को एक नई दिशा प्रदान की। इनका प्रसिद्ध नारा था- 'लट्ठ हमारा जिन्दाबाद।' वर्गीय चेतना भारतीय राजनीति में स्वामीजी की विशिष्ट देन के रूप में युगों-युगों तक समादृत रहेगी। इन्होंने 'महारुद्र का महातांडव' रचना के माध्यम से अर्वाचीन धर्म प्रवंचनाओं का खुलकर विरोध किया। सुभाष चन्द्र बोस का भारत से बाहर चले जाने के उपरान्त इन्होंने ग्राम मिलीशिया का गठनकर विजयी साम्राज्यवादी जापान या ब्रिटेन से लोहा लेने की योजना बनाई, जिसके माध्यम से देश के अन्दर सामंती एवं पूँजीवादी तबके के हाथों में सत्ता न जाने देने का उद्देश्य निहित था। यह स्वामीजी की क्रांतिकारिता की परिपक्व रणनीति का ज्वलंत प्रमाण है। इनका उद्देश्य क्रियात्मक राजनीति के माध्यम से किसान-मजदूर की सत्ता कायम करना था।

1947 की मिली भारतीय आजादी स्वामी जी की नजर में मात्र राजनैतिक सत्ता का हस्तांतरण थी। मेहनतकश मजदूर-किसानों की आर्थिक मुक्ति नहीं। इनका कांग्रेस से मोहभंग तो हो ही चुका था। काँग्रेस से सभी प्रकार के संबंधों का विच्छेह करते हुए इन्होंने किसान-मजदूर अधिनायकत्व और समाजवाद की स्थापना के उद्देश्य से 18 वामपंथी दलों का व्यापक सम्मेलन पटना में आहूत कर संयुक्त वामपंथी मोर्चा का गठन किया। मोर्चा का उद्देश्य मौजूदा काँग्रेसी सरकारों की जगह शोषित जनता के हित रक्षार्थ मजदूरों-किसानों द्वारा सर्वोच्च सत्ता पर कब्जा जमाना था। इसके लिए मोर्चा द्वारा एक जनवादी कार्यक्रम भी तैयार किया गया।

दुर्भाग्य से 1950 के 26 जून को किसानों के आराध्य स्वामी सहजानन्द सरस्वती का देहान्त मुजफ्फरपुर में मुचकुन्द शर्मा अधिवक्ता के घर पर पक्षाघात के कारण हो गया। उन्हें बिहटा के श्री सीताराम आश्रम में समाधिस्थ किया गया।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने आजीवन बिहार को अपनी कर्मभूमि बनाये रखा। उनको बिहार के श्रमजीवी किसान वर्ग से आगाध प्रेम था साथ ही उनको उनपर विश्वास भी था कि अपने हक के लिये संघर्ष करके वे पूरे भारत के किसान समाज को मार्गदर्शित करेंगे।

भिखारी ठाकुर

–श्रीनारायण समीर

लोकनृत्य और अभिनय में श्रमिक जीवन के श्रम, संघर्ष और वंचना (विरह) को सर्वथा नई शैली एवं नए आयाम में मूर्त्तिमान करनेवाले भिखारी ठाकुर भोजपुरी के पुरोधा कलाकार थे। वे ग्रामीण मनोरंजन के पारंपरिक माध्यम नाच को अपने अनूठे प्रयोगों से तमाशा बनाने वाले सिद्ध सर्जक थे। भोजपुरी गीत-संगीत, नृत्य और अभिनय को सामाजिक संस्पर्शों के द्वारा सर्वग्राह्य बनाने में उन्हें महारत हासिल थी। वे विलक्षण नाटककार, असाधारण अभिनेता, मर्मस्पर्शी गीतकार और समग्र रूप में परिवर्तनकामी चेतना के लोक कलाकार थे।

भिखारी ठाकुर का जन्म पराधीन भारत में पुराने सारण जिले के कुतुबपुर गाँव में सन् 1887-88 के संधिकाल में हुआ था। उनके पिता का नाम दलसिंगार ठाकुर और माँ का नाम शिवकली देवी था। बचपन में ही विवाह कर देने की परिपाटी से भिखारी ठाकुर भी अछूते नहीं रहे। परंतु विवाह उनके लिए कल्याण के साथ-साथ त्रासद भी रहा। उनकी तीन शादियाँ हुई थीं। पहली पत्नी मानपुरवाली का गवना भी नहीं हुआ था कि हैजे का शिकार हो गई। दूसरी पत्नी आमडाढीवाली भी जल्दी ही चल बसी। मनतुरना देवी भिखारी ठाकुर की तीसरी पत्नी थीं। सोनिया और शीलानाथ उनके बेटी-बेटे थे। भिखारी ठाकुर 10 जुलाई, 1971 को 84 वर्ष की आयु में दिवंगत हुए थे।

भिखारी ठाकुर लोकचेतस कलाकार के साथ-साथ एक अनथक यात्री भी थे। वे जीवन पर्यंत कुतुबपुर से फतनपुर फिर चन्ननपुर, पुनः हावड़ा, पुरी, मोतीहारी, मुजफ्फरपुर, धनबाद, आसनसोल, हजारीबाग, पटना, बनारस आदि गाँवों-नगरों की यात्राएँ करते रहे। यद्यपि उनकी हर यात्रा सप्रयोजन होती थी। नाच के साटे को पूरा करने के निमित्त होती थी, तथापि यात्रा उनकी मनुष्यता और सृजनात्मकता को निरंतर सूक्ष्म, सबल और सर्वसुलभ बनाती थी। उनके नाच-तमाशे को देखने वाले ही उनके सृजन (पाट लेखन) और अभिनय की प्रयोगशाला थे। वे अपने नाच गिरोह की प्रस्तुतियों यानी पाट, अभिनय और प्रहसन (लबारी, जोकरई) में दर्शक की पसंद-नापसंद के अनुरूप बदलाव लाते रहते थे। उनके नाच-तमाशे में खेले जाने वाले पाट (नाटक) जब दर्शकों को पसंद आने लगते, तभी वे उसे सांगोपांग पूर्ण हुआ मानते थे। फिर वे किसी दूसरी समस्या को आधार बनाकर 'पाट' रचना शुरू कर देते थे। इस तरह से देखा जाए तो भिखारी ठाकुर का नाच-तमाशा जनसाधारण की भागीदारी में जनता के सृजन, संवर्धन और मनोरंजन का महाकर्म था। इसे समझे बिना भिखारी ठाकुर के परिवर्तनकामी सर्जक रूप को समझना असंभव है।

भिखारी ठाकुर का जन्म जिस कालखंड में हुआ था, वह भारतीय जनगण के लिए अत्यंत अवसाद का कालखंड था। सन् 1857 ई० के स्वतंत्रता संग्राम की पराजय से खिन्न दिशाहारा भारतीय समाज अंधविश्वास, अशिक्षा और असमानता की चक्करघिन्नी में बुरी तरह से जकड़ा हुआ समाज था। ईस्ट इंडिया कंपनी अपने अत्याचारों और दुरभिसंधियों से पारंपरिक उद्योग-धंधों को चौपट करती जा रही थी। किसानी पूरी तरह से पारंपरिक और मौसम की मेहरबानी पर निर्भर थी। मजदूर काम के अभाव में बेरोजगार और बेसहारा होते जा रहे थे। धनिकों की मनमौजी के आगे पूरा समाज विवश और लाचार था। समाज में बिचौलिए उभर आए थे। आम आदमी बिचौलियों के कुचालों में फँसकर पतनशील होने लगा था। बेमेल विवाह वाले समाज में निर्धन और निराश्रित लोगों के लिए बेटी बेचने का कोई विकल्प नहीं था। भूख की ज्वाला शांत करने वास्ते मजदूर घर से दूर कलकत्ता, गुवाहाटी, रंगून और कहीं और

दूर देश जाने को अभिशप्त थे। अनैतिक यौन संबंध बनना और जारज संतान पैदा होना समाज की अनिवार्य सच्चाई थे।

ऐसे में भिखारी ठाकुर की जाग्रत चेतना का इन सच्चाइयों से विचलित होना स्वाभाविक था। उनकी सृजनशील प्रतिभा ने इन्हीं सच्चाइयों को भोजपुरी जीवन के पारंपरिक लौंडा नाच का हिस्सा बनाया। उन्होंने इन सच्चाइयों को आधार बनाकर गीत और प्रहसन रचे। नाटक बुने और अभिनीत किए। गंवार और भदेस समझे जाने वाले मेहनतकश लोगों के अंदर छिपी कला-प्रतिभा को पहचाना और उसे उभारा, संवारा। सुल्ताना डाकू, पुतली बाई, भक्त प्रह्लाद, पृथ्वीराज चौहान आदि 'पाटों' में जकड़े लौंडा नाच को अपने अभिनव पाटाभिनय से यथार्थपरक बनाया। अपने नाच गिरोह की बहुआयामी प्रस्तुतियों के द्वारा उन्होंने गाँव-समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, अनाचारों और विकृतियों पर प्रहार करते हुए लोक जागरण का महत् प्रयास किया।

भिखारी ठाकुर ने अपने नाच गिरोह में 'पाट' किए जाने के लिए जिन नाट्यकथाओं की रचना की, उनमें प्रमुख हैं- 'बेटी बेचवा', 'बहरा-बहार', 'कलजुग प्रेम', 'विदेसिया', 'बेटी वियोग', 'बिरहा बहार', 'भाई विरोध', 'गबर घिचोर', 'सिरी गंगा स्नान' आदि। अंतर्वस्तु और आस्वाद की दृष्टि से ये नाट्य कृतियाँ भिखारी ठाकुर की बेचैन अभिव्यक्ति के सृजनात्मक पड़ाव हैं। ये सामाजिक विकृतियों के प्रभावशाली प्रतिकार हैं।

इन्हें रचने में भिखारी ठाकुर ने नए-नए प्रयोग किए। पाटाभिनय के दरम्यान रस परिवर्तन के लिए उन्होंने कल्पनाशील 'लबारी' अथवा 'जोकरई' का समावेश किया। इसके लिए उन्होंने धारदार व्यंग्यमिश्रित हास्यरूपक की रचना की। चरित्र के अनुरूप पात्रों का चयन और प्रशिक्षण किया। और इन सबसे बढ़कर नाच-तमाशे को प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने मर्मस्पर्शी गीतों की रचना की और उन्हें पाटों में, नाट्याभिनय में इस तरह पिरोया कि जो भी देखते-सुनते उद्वेलित हुए बिना नहीं रहते। बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में खूसट बूढ़ों के हाथ बेची गयी बेटियों की व्यथाकथा को 'बेटी बेचवा' में भिखारी ठाकुर ने बड़े कारुणिक ढंग से चित्रित किया है। उनके एक गीत में एक अभागिन बेटी का विलाप यूँ प्रकट हुआ है:-

रोपेया गिनाइ लिहल, पगहा धराइ दिहल
चेरिया के छेरिया बनवल हो बाबूजी!
गिरजा कुमार कर दुखवा हमार पार
ढर-ढर ढरकत बा लोर मोर हो बाबूजी!
....
वर खोजे चलि गइल, माल लेके घरे धइल
बाबा लेखा खोजल दुलहवा हो बाबूजी!
पगली पर बगली भरवल हो बाबूजी!
रतिया के छतिया में बतिया जरेला मोरा,
बीच डललस मोर बिचवान हो बाबूजी!

पिछड़े, बिमारू राज्यों में बेरोजगार नौजवानों का काम की तलाश में कलकत्ता गमन करना रिवाज रहा है। यह भिखारी ठाकुर थे, जिन्होंने परदेस गए नौजवानों की बिरहिन पत्नियों के दर्द को समझा और उसे पूरी संवेदना के साथ अपने बिदेसिया नाटक में व्यक्त किया।

"हमनी दूनो एके साथे रहे के परानी,

केकरा से आग माँगब, केकरा से पानी,
खाला ऊँचा गोड़ परी, चढ़ल बा जवानी।"

इसी तरह से निर्धन, निराश्रित नौविवाहिता की असहाय दशा की टेर में भिखारी ठाकुर ने लिखा-

"घर में ना सूई डोरा
लूगवा फटल बा मोरा।"

कहते हैं कि केवल इस टेर ने उस जमाने में पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर सुदूर कलकत्ता तक श्रमिक लोक समुदाय को व्यथा और पश्चाताप से भर दिया था और पछिमाहा श्रमिकों की जीवन धारा बदल दी थी।

भारतीय वर्णाश्रम समाज की एक पिछड़ी और उपेक्षित जाति में जन्म लेने के बावजूद भिखारी ठाकुर अपनी कला और प्रतिभा के बल शोहरत और सम्मान के शिखर पर पहुँचे थे। जनता उन्हें प्यार और आदर से राय बहादुर कहती थी। वे परिचित लोगों के बीच मलिक जी के नाम से भी मशहूर थे। वे अपने नाच में जो पाट मंचन करते थे, उसका विषय सामाजिक विद्रूपता, विसंगति और विषमता पर केंद्रित कोई-न-कोई मर्मस्पर्शी प्रसंग अवश्य होता था। उसका दर्शकों पर जादुई असर पड़ता था। फलत: उनका नाच जहाँ कहीं भी होता, उसे देखने के लिए गाँव-जवार के लोग उमड़ आते थे। उनकी लोकप्रियता और शोहरत बाद में ऐसी बढ़ी कि उनके नाच में उमड़ती भीड़ को नियंत्रित करने के लिए समीपवर्ती चारों दिशा के थानेदारों को अपने पुलिस बल के साथ हाजिर रहना पड़ता था।

भिखारी ठाकुर उदारचेता मनुष्य थे। वे जितने सरल और सहृदय व्यक्ति थे उतने ही पहुँचे हुए कलाकार थे। आम आदमी उन्हें अपना, अपने बीच का, अपना प्रतिनिधि मानता था तो सामंत और जमींदार अपनी शान का अभिन्न अंग। पछिमाहा मजदूर समुदाय के वे जीवन राग थे। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के भोजपुरीभाषी मजदूर जहाँ कहीं भी रहते थे, भिखारी ठाकुर के नाटकों और गीतों से निरंतर प्रेरणा और उत्साह पाते थे। धनबाद, झरिया, आसनसोल, रानीगंज, हावड़ा, खड़गपुर और बंगाल तथा असम के चायबगानों में काम करने वाले पछिमाहा समुदाय से भिखारी ठाकुर का रिश्ता बड़ा गहरा था। वे अपने नाच गिरोह के साथ अक्सर इन लोगों के बीच जाते रहते थे। कलकत्ते में उनके बिदेसिया नाटक की धूम थी। बाद में बिदेशिया नाटक पर फिल्म भी बनी। इस फिल्म में भिखारी ठाकुर की भी एक संक्षिप्त भूमिका है। यह फिल्म भारत के साथ-साथ मॉरिशस, केन्या, ब्रिटिश गायना, सूरीनाम, मेडागास्कर, बर्मा, त्रिनिदाद आदि देशों में रह रहे भोजपुरी प्रवासियों के बीच भी प्रदर्शित और लोकप्रिय हुई थी।

आजाद भारत में भिखारी ठाकुर के चाहने वाले उन्हें सर आँखों पर रखते थे। काशी नरेश त्रिभुवन नारायण सिंह और बिहार के राज्यपाल अनंत शयनम् अय्यंगर तक ने उन्हें मानपत्र, ताम्रपत्र और अंगवस्त्रम से सम्मानित किया था। भोजपुरी लोक के वे अपने बटोही भइया, बटोही बाबा थे। उनके नाटकों की लोकप्रियता का यह आलम है कि आज भी गाँव-गाँव में औरतें उनका नाटक खेलती हैं। स्वयं बटोही बनती हैं और अपने परदेसी पति को वापस ले आने का स्वांग करती हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही उन्हें भोजपुरी का शेक्सपीयर कहा है।

(इस लेख के लिए लेखक कथाकार संजीव और उनके प्रसिद्ध उपन्यास सूत्रधार का आभारी है।)

रामवृक्ष बेनीपुरी

-श्रीनारायण समीर

रामवृक्ष बेनीपुरी एक व्यक्ति, एक संस्था, एक आंदोलन और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक अग्रज सेनानी थे। वे भारतीय समाजवादी पार्टी के संस्थापकों में से थे। पर सही मायने में वे कलम के जादूगर थे। राजनीति की कंटकाकीर्ण राहों में उलझ कर भी साहित्य को अनूठी शैली एवं अविस्मरणीय कृतियों से समृद्ध करने वाले जादूगर। गद्य को ऊब और एकरसता से निकाल कर प्रांजल, सरस तथा प्रवाहमय बनानेवाले रचनाकार बेनीपुरी के बारे में आचार्य शिवपूजन सहाय ने कभी ठीक ही कहा था, "उनके हाथ में कलम है या जादू की छड़ी।"

बेनीपुरी का जन्म बिहार के मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत बेनीपुरी ग्राम में सन् 1902 ई० में हुआ था। किशोर उम्र में ही स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने के कारण उनकी स्कूली शिक्षा बाधित रही। 1920 ई० में मैट्रिक पास करने के उपरांत वे राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में फिर सक्रिय हो गए। बाद में साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से उन्होंने विशारद किया। रामचरित मानस के अध्ययन-मनन से उनमें साहित्य के प्रति रूझान बढ़ा और पत्रकारिता के माध्यम से साहित्य में आए। उन्होंने कोई एक दर्जन पत्रिकाओं का संपादन किया, जिसमें प्रमुख हैं- तरूण भारत (साप्ताहिक, 1921 ई०) किसान मित्र (साप्ताहिक, 1922 ई०) बालक (मासिक, 1926 ई०), युवक (मासिक, 1929 ई०), लोक संग्रह और कर्मवीर (1934 ई०), योगी (साप्ताहिक, 1935 ई०), जनता (साप्ताहिक, 1937 ई०), हिमालय (मासिक, 1946 ई०), चुन्नू-मुन्नू (1950 ई०) तथा नई-धारा।

बेनीपुरी धारा के विपरीत चलनेवाले इन्सान थे। आजादी के प्रारंभिक वर्षों में जब देश में काँग्रेस का प्रताप चरम पर था, सोशलिस्ट बेनीपुरी ने काँग्रेस को मात देकर बिहार विधान सभा का चुनाव जीता था।

बेनीपुरी का व्यक्तित्व अद्भुत था। वे स्वतंत्रता संग्राम के जितने बड़े लड़ाका थे, हिंदी के उतने ही सिद्ध शलाका थे। 1930 ई० से 1942 ई० तक उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण समय आजादी के लिए जेल की यात्राओं में बीता तो प्रौढ़ावस्था से मृत्युपर्यंत, संपूर्ण वयस्क जीवन हिंदी की सेवा में। 1929 ई० में वे अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मंत्री बने। आगे चलकर उन्होंने आचार्य शिवपूजन सहाय आदि के साथ मिलकर बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। 1946 ई० से 1950 ई० तक उसके प्रधानमंत्री रहे और 1951 ई० में सभापति बने।

1968 में उनका देहावसान हुआ। बेनीपुरी बहुमुखी प्रतिभा संपन्न लेखक थे। कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, यात्रा-वृतांत, ललित निबंध आदि विधाओं में उनकी जादुई कलम का कमाल देखते बनता है। विभिन्न पत्रिकाओं के संपादन के क्रम में लिखे गए उनके अग्रलेख भी विचार-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उन्होंने कई ग्रंथों का संपादन भी किया है।

बेनीपुरी के रेखाचित्र 'माटी की मूरतें' तथा ललित निबंधों का संग्रह 'गेहूँ और गुलाब' एवं कथा कृतियाँ 'कैदी की पत्नी' और 'पतितों के देश में' रचनात्मक लेखन के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उन्होंने छोटे-बड़े कुल 12 नाटक लिखे। ये नाटक हैं- अम्बपाली, सीता की माँ, संघमित्रा, अमर ज्योति, तथागत, सिंहल विजय, शकुंतला, रामराज्य, नेत्रदान, गाँव के देवता, नया समाज तथा विजेता। विषय

वस्तु, भाषा-शैली तथा उद्देश्य की दृष्टि से ये नाटक बेजोड़ हैं। ये दर्शकों पर अमिट छाप छोड़ने वाले नाटक हैं। बेनीपुरी की अन्य प्रकाशित कृतियों में 'विद्यापति की पदावली' (संपादित), बिहारी सतसई की सुबोध टीका, जय प्रकाश (जीवनी) और वंदे वाणी विनायकौ (ललित गद्य) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बेनीपुरी सच्चे कर्मयोगी थे। वे अपने आचरण और व्यवहार से प्रेरणा जगाते थे। उनका मस्त-मौला अंदाज विकट परिस्थितियों में भी साहस और शक्ति का संचार करता था। वे धुन के पक्के थे और उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। पर उनका सिद्धहस्त कलाकार रूप उनके सभी रूपों पर बीस पड़ता था। उनकी कालजयी कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। राष्ट्रीय आंदोलन, समाजवादी सम्मेलन, किसान सभा, भाषा आंदोलन, साहित्य सम्मेलन, विधान सभा, पार्टी बैठक, जन संपर्क अर्थात तमाम तरह की व्यस्तताओं के बावजूद साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा में कोई कमी नहीं थी। वे व्यस्तताओं में भी समय निकाल लेते थे और लेखन, सृजन में निरत रहते थे। जाहिर है कि बेनीपुरी के लिए देश-सेवा और साहित्य-सेवा एक ही सिक्के के दो पहलू थे। उनके लिए प्रसिद्ध था- एक हाथ में झंडा और एक हाथ में कलम। न कभी झंडा छोड़ा, न कभी कलम रुकी।

बेनीपुरी भारत के सच्चे सपूत थे। उनका रेखाचित्र 'माटी की मूरतें', ग्रामीण भारत का विविध, बहुरंगी और जीवंत रूपक है। इसी तरह से उनके ऐतिहासिक नाटक अम्बपाली, नेत्र-दान, विजेता तथा तथागत प्राचीन भारत की रम्य और उदात्त गौरव गाथा हैं। उनके कथा-संग्रह 'कैदी की पत्नी' तथा 'पतितों के देश में' स्वतंत्र भारत का स्वप्निल नहीं, अपितु यथार्थ रूप देखने को मिलता है। बेनीपुरी अपनी कृतियों के माध्यम से भारत के अतीत से संबल ग्रहण करते हुए वर्तमान के विद्रूप के बरअक्स भविष्य को संवारना चाहते थे। वे एक ऐसा भविष्य चाहते थे जो सबका हो और जिसमें नींव की ईंट का उचित मूल्य और महत्त्व हो। बेनीपुरी भारत को स्वस्थ, सुंदर और विकसित बनाना चाहते थे। उनके भावी भारत में कोई रूग्न, दरिद्र और अंधकारग्रस्त नहीं हो सकता था।

इसके लिए वे हवा, पानी, अन्न और रोशनी की गारंटी चाहते थे। वे गेहूँ के साथ गुलाब चाहते थे और इस अभियान में मशाल को अपरिहार्य मानते थे। उनकी 'नींव की ईंट', 'गेहूँ और गुलाब', 'मशाल', आदि निबंध इसी आशा और आकांक्षा में यथास्थिति से जिरह करते निबंध हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी की पहचान मुख्यतः एक साहित्यकार के रूप में है। 'चपल खांजन-सी फुदकती भाषा' और विशिष्ट शैली के लेखक, साहित्यकार के रूप में वे प्रसिद्ध हैं। किंतु यह उनकी आधी-अधूरी पहचान है। असल में बेनीपुरी एक व्यापक विकल्प का निर्माण करना चाहते थे। उनके विकल्प का निहितार्थ आमूल परिवर्तन था। इसके लिए वे साहित्य को परिवर्तन की कुँजी बनाना चाहते थे। उनके अग्रलेखों के अवगाहन से यह स्पष्ट होता है कि शोषणमुक्त, समतामूलक खुशहाल समाज बनाने के लिए वे वैकल्पिक अर्थनीति लागू करना चाहते थे। इसके लिए वे भाषा की दुनिया में भी बदलाव चाहते थे। उनकी राजनीतिक लड़ाइयाँ उनका जन व्यवहार, इतिहास के गौरवशाली अध्यायों से संबल प्राप्त करने की उनकी सृजनात्मक कोशिश, उनका भाषा आंदोलन, उनका साहित्य सम्मेलन, उनकी चपल, चंचल भाषा और उनकी जादुई शैली व्यापक विकल्प तैयार करने के ही प्रयास थे।

बेनीपुरी जैसे आपादमस्तक संघर्षधर्मा संस्कृति पुरुष पर बिहार को सर्वदा गर्व रहेगा।

फणीश्वरनाथ रेणु

-श्रीनारायण समीर

स्वतंत्र भारत के सर्वाधिक चर्चित तथा महत्त्वपूर्ण कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु बिहार के सेनानी साहित्यकार थे। हिंदी कथा साहित्य में आंचलिकता के वे पुरोधा थे। राजनीति में भी उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई और दमन तथा शोषण के विरुद्ध आजीवन संघर्षरत रहे। रेणु व्यक्ति और लेखक दोनों ही रूपों में अप्रतिम थे।

रेणु का जन्म 4 मार्च, 1921 ई० को औराही हिंगना गाँव, जिला पूर्णियाँ, बिहार में हुआ था। 1942 ई० के 'अँग्रेजों, भारत छोड़ो' आंदोलन में वे अपने अंचल के प्रमुख सेनानी थे। 1950 ई० में राणाशाही के दमन और अत्याचारों के खिलाफ उठ खड़ी हुई नेपाली जनता के मुक्ति संग्राम में भी रेणु ने बढ़-चढ़कर भाग लिया था। वर्ष 1952-53 में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े, जिसके बाद से उनका झुकाव राजनीति की अपेक्षा साहित्य की ओर बढ़ गया।

रेणु की लेखकीय महत्ता को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मश्री' की उपाधि से विभूषित किया था।

परंतु 1974 ई० के बिहार छात्र आंदोलन का मूकदर्शक बनना उन्हें गँवारा नहीं हुआ। जे० पी० आंदोलन में वे कूद पड़े और पुलिस दमन के शिकार हुए। वे जेल भी गए। आपातकाल के दमन के विरोध में रेणु ने 'पद्मश्री' उपाधि सरकार को लौटा दी थी। 11 अप्रैल 1977 ई० को रेणु इस संसार से अलविदा हुए।

1954 ई० में रेणु का पहला उपन्यास 'मैला आंचल' नाम से प्रकाशित हुआ। 'मैला आंचल' से ही हिंदी कथा साहित्य में आंचलिकता की शुरुआत हुई। रेणु के 'परती परिकथा', 'जुलूस' तथा 'हम साक्षी हैं' उपन्यास भी प्रकाशित और चर्चित हैं। उनके 'ठुमरी', 'अगिन खोर' और 'आदिम रात्रि की महक' नामक कहानी संकलन भी अत्यंत लोकप्रिय हैं। 'ऋणजल-धनजल' (संस्मरण) तथा 'नेपाली क्रांति-कथा' (रिपोर्ताज) रेणु की बहुमुखी प्रतिभा के उदाहरण हैं। रेणु की प्रसिद्ध कहानी 'मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम' पर 'तीसरी कसम' नाम से फिल्म बनी जो अत्यंत लोकप्रिय हुई। 'मैला आंचल' पर बना टी. वी. धारावाहिक भी लोकप्रिय रहा।

रेणु का कथा-साहित्य बिहार के पूर्णियां अंचल का वृत्तांत होते हुए भी समग्र ग्रामीण हिंदुस्तान का वृत्तांत है। उनके कथा-साहित्य में हमें एक ऐसे हिंदुस्तान के दर्शन होते हैं, जो संपन्नता और चकाचौंध का हिंदुस्तान नहीं है। अभाव, अज्ञान, अंधविश्वास और बेबसी से घिरा हिंदुस्तान है। किंतु बदहाली और दुरवस्था के बावजूद उनके हिंदुस्तान में भरपूर आस्वाद और रस-रंग है। बेफिक्री है और ठसक के साथ जीने की अलमस्ती है। रस-रंग, ठसक और अलमस्ती ही रेणु की रचनाशीलता का आदि स्रोत है।

रेणु के कथा साहित्य में आंचलिक जीवन पूरे विस्तार और जीवंतता में मिलता है। उसमें जीवन का सुख-दु:ख है। राजनीतिक पार्टियों के दांव-पेंच हैं। राजनीति से जुड़ी आकांक्षाएँ हैं और जीवन की विसंगतियों का तो क्या कहना? परिवेश पूरे लाव-लश्कर के साथ रेणु के उपन्यास में चित्रित हुआ है। इसलिए रेणु को अंचल का कथाकार कहा जाता है। अंचल माने सीमित परिवेश। यह परिवेश किसी रचनाकार की विशेषता के साथ-साथ उसकी सीमा भी बन सकता है। किंतु रेणु की गहन संवेदना तथा

विराट जीवन-दृष्टि ने अंचल को पूरे देश की सीमाओं तक फैला दिया। रेणु ने अपने 'मैला आंचल' को पूर्णियां का उपेक्षित, प्रताड़ित अंचल ही नहीं रहने दिया, वरन् भारत माता का धूल भरा आंचल बना दिया। इस आंचल में लिपटे लोगों का दु:ख-सुख पूरे भारत का दु:ख-सुख हो गया है।

रेणु के 'मैला आंचल' में गँवई जीवन अत्यंत जीवंत रूप में चित्रित हुआ है। इसमें गाँव का पिछड़ापन, गाँव की गुटबाजी, गाँव की विकृति, गाँव में बेदखली, गँवई संबंधों में विघटन तथा गाँववालों का विद्रोह- पूरे विस्तार में चित्रित है। इसमें गँवई जीवन की हताशा ही नहीं है, संपूर्ण भारत के मूक समाज को जगाने का प्रयास भी है। 'मैला आंचल' की आंचलिकता सिर्फ परिवेश, संवाद और पात्रों की अपनी दुनिया की आंचलिकता नहीं है, वरन् इसमें सामाजिक, राजनीतिक वाणी भी प्रकट रूप में मुखर हुई है। रेणु का महत्त्व इस मायने में निर्विवाद है कि जब कहानी-नई कहानी में शहरी, सुसंस्कृत परिवेश का दबदबा था, उन्होंने गँवई जीवन और सामाजिक विसंगतियों को व्यापक और विस्तार से उभारा। यही कारण है कि 'मैला आंचल' में सामंती शोषण तथा व्यवस्था के भ्रष्टाचार, दोनों के दागदार चित्र मिलते हैं।

'परती-परिकथा' में रेणु ने ग्रामीण समस्या को मूल रूप में परती, पानी और विधि-व्यवस्था की समस्या से जोड़कर देखा है। इसमें बंजर धरती के बहाने एक गाँव की भूमिहीन जनता के अभाव, दु:ख और संताप को चित्रित किया गया है। इसमें सामाजिक रूढ़ियाँ और आर्थिक शोषण के कुचक्र भी नग्नरूप में वर्णित हैं। रेणु के अन्य उपन्यासों में भी आंचलिक परिवेश सघन और संवेदना के साथ चित्रित हुआ है। रेणु के रचनाकार की मूल ताकत वह गहरी मानवीय संवेदना है, जो लोगों के अभाव और कष्ट को अपना बना लेती है। इस कष्ट के निवारण के लिए रेणु ड्रॉइंग रूम से कॉफी हाउस तक ही कैद नहीं रहते थे। खुद जलसे-जलूसों और आंदोलनों में भी शिरकत करते थे। जब यहाँ भी उन्हें त्राण और तोष नहीं मिलता था तो अंत में रेणु कलम लेकर बैठ जाते थे। उनका कथा-साहित्य इसका प्रमाण है। अपनी अदम्य जिजीविषा और संवेदना के बल पर रेणु अपने पात्रों के अंतर्जगत को छान मारते थे। उनके पात्र समाज की जीवंत इकाई हैं। पात्रों की पीड़ा, पात्रों की हताशा, पात्रों के सपने, सब रेणु के अपने थे। निज के यथार्थ अनुभव थे। यही कारण है कि रेणु के चरित्र निर्जीव नहीं, वरन् हाड़-मांस के सजीव रूप हैं। उनकी कथाओं में मिलने वाले उदास और धूसर चेहरे वास्तव में भारत के आम जन के चेहरे हैं। लेकिन रेणु के उदास चेहरों के भीतर झिलमिलाती मुस्कान जीवन से गहरे रूप में जुड़े रहने की आशाजनक मुस्कान है। रेणु के कथाकार की यही विशेषता है कि वे आम भारतीयों की तरह हताशा में भी जीवन की आशा संजोये रहते थे। महान कलाकार इसी अर्थ में जीवन राग का कलाकार होता है।

रेणु के कथा शिल्प की बड़ी ख्याति है, किंतु सच कहें तो रेणु शिल्पकार बिल्कुल नहीं थे। वे शिल्पहीन शिल्पी थे। तमाम विरोधाभासों, विषमताओं और विडंबनाओं के बावजूद जिंदगी आशा, आकांक्षा, आवेग, रस, रंग और गंध से इतनी भरी-पूरी है कि कोई शिल्पकार जिंदगी की केवल प्रतिकृति उतार सकता है। जिंदगी नहीं बना सकता। रेणु ने अपने साहित्य में न जिंदगी उरेही है न प्रतिकृति। उन्होंने जिंदगी को हू-ब-हू उपस्थित कर दिया है। फलत: उनके साहित्य में एक ऐसा शिल्पहीन शिल्प मिलता है, जो नितांत प्रकृत, सहज और सुंदर है। और यही रेणु का अपना शिल्प है।

रेणु ने प्रचलित अर्थों में कहानियाँ नहीं लिखीं, बल्कि उन्होंने जीवन की कहानी लिखीं। जिस तरह से जीवन हर दिन नया और अभिराम होता है, उसी तरह से रेणु की कहानियाँ भी अभिनव और अभिराम हैं। सर्वथा नई और संवेदना को मुग्ध और विभोर कर देने वाली कहानियाँ हैं उनकी। उन्होंने

अपने कहानी संग्रह 'ठुमरी' की भूमिका में लिखा भी है- "एक स्वर को लेकर, विभिन्न स्वरों से उसकी क्रमिक संगति दिखला-दिखलाकर ही किसी राग के रूप को प्रकाशित किया जाता है........ ठुमरी के कथा-गायक ने ऐसी ही चेष्टा की है।" और रेणु की यह चेष्टा सफल हुई है। उनकी कहानियाँ अलग वातावरण और अलग समय बोध की होते हुए भी जिंदगी का चित्र प्रस्तुत करती हैं। संपूर्ण जिंदगी का विशाल चित्र, राग और विराग से अँटी पड़ी जिंदगी की लय का जीवंत चित्र। इस अर्थ में रेणु कथा लेखक से बढ़कर कथा के चितेरे थे। रेणु के संस्मरण और रिपोर्ताज भी विविध जीवन-प्रसंगों के माध्यम से जीवन-लय को प्रस्तुत करने का प्रयास हैं।

रेणु जीवन और लेखन-दोनों में आनंद के अन्वेषी थे। इसके लिए वे यथास्थिति नहीं, बदलाव चाहते थे। जिस तरह से वे गाँवों, मैदानों, सड़कों पर सक्रिय थे, उसी तरह से वे कथा-साहित्य में भी ताज़गी, खुलापन और व्यापक संवेदनाओं के लिए सक्रिय थे। वे विराट जीवन की सादगी और उसके अभिराम सौंदर्य के प्रस्तोता कथाकार थे। रचना, संवेदना और शिल्प में सुभग समन्वय के रचयिता इस अप्रतिम कथाकार पर बिहार को सदा गर्व रहेगा।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण

-नरेन-हेमंत

जयपरगास : सब कहते यह कुछ अलग तरह का है लेकिन इस अलगपन में ऐसा अलगाव बोध नहीं कि मिलने वाले में उससे दूर रहने का भाव पैदा करे। उल्टे उसका 'अलग' होना किसी भी मिलनेवाले में उससे बार-बार मिलने या जुड़ने का आकर्षण पैदा कर देता। इतना सीधा-सादा कि किसी को उसके व्यक्तित्व में रहस्य की कोई गाँठ होने का बोध ही न हो। यहाँ तक कि कोई उसे देखकर सहज ही यह मान लेने की भूल - जिस पर भविष्य में भी कभी पछतावा नहीं बल्कि गर्व किया जा सके - कर सकता था कि वह उसे पूरी तरह 'जान' गया है। इसलिए उसके कॉलेज की आगे की पढ़ाई के लिए अमेरिका जाने तक उसके दोस्तों में, खासकर देश की आजादी के लिए सोचते, बहस करते और मौका मिलते ही किसी न किसी कार्यक्रम में अपनी भूमिका के लिए बेचैन युवा विद्यार्थियों में उसके बारे में कुछ बातें इस लहजे में फैली गयीं - अरे! यह जय परगास है, जिसका जन्म बिहार के सारण जिले के सिताबदियारा गाँव में हुआ। गंगा के किनारे नहीं, गंगा की धार में बसा है वह गाँव! गंगा की धारा ही उस गाँव की गोद है! ऐसे गाँव में जो पैदा होगा वह 'देहाती' ही न होगा। यूँ वह शहर की कई चीजों के प्रति - खासकर पहनावे, रहन-सहन के मामले में - अपने शौक का इजहार करता है लेकिन अपना देहातीपन नहीं छोड़ता! पढ़ने-लिखने में वह शुरू से तेज है लेकिन आज भी किसीके यह कहने पर अपने चेहरे पर निर्मल मुस्कान बिखेर चुप रहता है कि वह ऐसा किसान-पुत्र है जिसने उन्नीस साल की उमर में पहली बार कलकत्ते में ट्राम देखी थी! वह लम्बा है, गोरा है और खूबसूरत है लेकिन स्वभाव से ऐसा संकोची कि किसी से मिलता तो मिलने वाले को अक्सर लगता जैसे वह अपनी खूबसूरती के लिए भी क्षमाप्रार्थी सा है। अब इसे क्या कहें? देहातीपन के सिवा। वह किसी से अकेले में बात करते हुए या फिर किसी सभा-गोष्ठी की तीखी बहस के दौरान भी गजब की चुप्पी और धीरज लिये रहता है। वह चुप्पी भी कैसी? जिज्ञासा व्यक्त करती सी। जिज्ञासा से लिपटी उसकी चुप्पी अक्सर उन विरोधियों के लिए भारी पड़ती जो सिर्फ अपनी बात रखने और उसको कतई न सुनने के संकल्प किये बैठे होते। वे भी कह उठते - यार, अब तो कुछ कहो! हालांकि वे सब जानते कि जयप्रकाश को चर्चा करने का बहुत शौक है। इतना शौक कि इसके लिए वह समय की हर पाबंदी को ठुकरा देता। कहीं कोई चर्चा अच्छी लगी तो वह अपना जरूरी से जरूरी कार्यक्रम और मुलाकातों को रद्द कर देता। यहाँ तक कि यह खबर आम है कि वह इस शौक की बाबत पूरा बिहारी है जो समय का मूल्य जानता ही नहीं। वह सोचने में समय से आगे और उस सोच को क्रिया-कर्म में उतारने में समय के अनुशासन में बँधा दिखता है लेकिन अच्छी चर्चा (अगर क्रांति की चर्चा हो तो फिर कहना ही क्या!) में ज्यादा समय चुप रहकर भी यूँ डूबता कि समय का ख्याल हीं नहीं रखता। अगर चर्चा से निपटने के बाद कहीं पहुँचने के पूर्व निर्धारित कार्यक्रम की याद आती, तो हड़बड़ करता वहाँ भी जरूर पहुँचता। जिस जगह जाना पहले से मंजूर कर चुका, उसे नहीं टालता (इस मामले में भी ठेठ बिहारी!)। बहरहाल, वहाँ देर से ही सही, पहुँचता जरूर लेकिन उसके चेहरे पर सच्चाई-भरा इतना गहरा खेद अंकित दिखता कि उसका देर से पहुँचना भी उसे लोगों का प्रीतिपात्र बना देता। वह शरीर से ही नहीं बोली-चाली में भी बेहद नम्र लेकिन दृढ़ निश्चयी है! उसकी नम्रता में इतनी दृढ़ता झलकती कि सामने बैठा विरोधी भी दहल उठे। वजह? उसकी सूरज के प्रकाश जैसी ईमानदारी। वह ईमानदारी किसी भी बेईमानी और किसी की भी बेईमानी को बर्दाश्त नहीं कर सकती - गैरों की बात छोड़िये, वह अपनों की बेईमानी भी बर्दाश्त नहीं करता। यहाँ तक कि संघर्ष की

कोई 'स्ट्रैटजी' बनाता और उसमें जहाँ कहीं विरोधी के साथ बेईमानी से पेश आने जैसा महसूस होता, वहीं उस स्ट्रैटजी को उसी वक्त त्याग देता, भले ही इसके लिए कितना भी मोल चुकाना पड़े।

वही जयप्रकाश अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिए अमेरिका पहुँचे 20 साल की उम्र में। वहाँ उन्होंने अपना जीवन किसी कक्षा के कमरे में नहीं, बल्कि एक खेत पर शुरू किया। सन् 1922 के अक्टूबर महीने में वह केलीफोर्निया पहुँचे, तो वहाँ मालूम हुआ कि विश्वविद्यालय के नये सत्र को शुरू होने में अभी तीन महीनों की देर है। वह स्वयं इतना साधन-सम्पन्न नहीं थे कि तीन महीनों तक बैठे-बैठे खाते रहें। इसलिए वह फलों के एक बगीचे में काम करने पहुँचे। केलीफोर्निया में भारत के लोग बड़ी संख्या में रहते थे। उनमें ज्यादातर सिख और पठान थे। उन दिनों भारत में जो असहयोग आन्दोलन चल रहा था, उसने दुनिया के सब हिस्सों में भारतवासियों को झकझोर दिया था। इस कारण जब कोई भी नया आदमी भारत से केलीफोर्निया पहुँचता, सबका ध्यान उसकी तरफ खिंच जाता था। जब लोगों को पता चला कि असहयोग आन्दोलन के साथ जुड़ने के लिए युवक जयप्रकाश ने कॉलेज की पढ़ाई और विश्वविद्यालय की छात्रवृत्ति छोड़ी है, तो वहाँ उन्हें काम खोजने में कोई कठिनाई नहीं हुई। वह काम के लिए पठानों की एक टुकड़ी के साथ जुड़े। उस टुकड़ी के नायक थे अजीबो-गरीब सूरत-शक्ल और लम्बाई-चौड़ाई में खान अब्दुल गफ्फार खान से भी दुगने दिखनेवाले शेर खाँ।

उस समय फलों का मौसम खत्म हो रहा था। अंगूर, खूबानी, बादाम और आड़ू के पेड़ों के नीचे सुबह से शाम तक कड़ी मेहनत चलती। पेड़ों पर से फल तोड़कर उनका वर्गीकरण किया जाता था, और फलों पर चूना और गन्धक छिड़का जाता था। बाद में उन्हें पोंछकर कारखाने में पहुँचाया जाता था। शेर खाँ के नेतृत्व में जयप्रकाश को टोकरियों में से खराब फल चुन-चुन कर उन्हें बाहर रखने का काम मिला! (इस काम ने ही जैसे युवा जयप्रकाश को भारत की आजादी के आंदोलन में अपनी भूमिका तय करने की दृष्टि दी-आजादी के मीठे फल तैयार करने और जनता में बाँटने के लिए बनी काँग्रेसी टोकरी में से सड़े-गले फलों को निकालकर बाहर फेंकना होगा लेकिन इतने से क्या होगा? क्या यह सोचना नहीं चाहिए कि फलों के सड़ने-गलने की रफ्तार कम या तेज करने में टोकरी की बनावट की अहम् भूमिका होती है? क्या आजादी के मीठे फल तैयार करने के लिए क्रांति का ऐसा खाँचा जरूरी नहीं होगा, जिसमें समता की धूप, न्याय की छाँव, करुणा की नमी और बँधुता की खुली हवा के लिए पूरा स्कोप हो?)

युवा जयप्रकाश वहाँ रोज दस घंटे और हफ्ते के सातों दिन, रविवार की भी छुट्टी न मानकर काम करते थे। मजदूरी भी उनको अच्छी मिलती थी - रोज के करीब चौदह रुपये! जयप्रकाश के लिए तो यह काफी बड़ी रकम थी-उन्हें अचम्भे में डालनेवाली! महीने में उन्होंने अस्सी डालर बचा लिया! फलों का मौसम खत्म होते ही वह बर्कले पहुँचे। वहाँ एक कमरा किराये पर लिया। रसोई भी अपने हाथों बनाने लगे।

केलीफोर्निया विश्वविद्यालय का एक सत्र समाप्त होते-होते जयप्रकाश की जेब खाली हो गयी। उन्होंने केलीफोर्निया छोड़ने का फैसला किया। वह आयोवा पहुँचे। वहाँ के विश्वविद्यालय में केलीफोर्निया की तुलना में फीस एक चौथाई ही लगती थी। वहाँ पढ़ाई के साथ कमाई का वक्त भी मिल सकता था। सो वह वहाँ भी बगीचे में काम करने लगे। फिर आयोवा से निकलकर जयप्रकाश विसकॉन्सिन विद्यालय में पहुँचे। विसकॉन्सिन माने जयप्रकाश के जीवन टर्निंग पॉइंट! विसकॉन्सिन में जयप्रकाश के बेचैन दिमाग को वह प्रकाश मिला, जिसकी खोज में वह भटक रहे थे।

अमेरिका में खुद कमाने का और अपना विकास करने का अवसर सबको मिल सकता है। लेकिन यह क्या? ऐसे देश में भी बेहिसाब अमीरी के साथ बेहद गरीबी? इसका कारण क्या है? ऐसा क्यों है कि मुट्ठी भर लोग तो सारी दुनिया के ऐश्वर्यों का उपभोग करते हैं, और ज्यादातर लोगों को अभाव में और गरीबी में सड़ते रहना पड़ता है? उनके विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर कहते थे कि पूंजीवादी

अर्थव्यवस्था में गरीबी के सवाल का कोई हल है नहीं। ये प्रोफेसर कट्टर समाजवादी के रूप में प्रसिद्ध थे। जयप्रकाश इस प्रोफेसर की तरफ आकर्षित हुए और दोनों के बीच एक गहरा स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो गया। परिणाम- स्वरूप जयप्रकाश मार्क्सवादी पुस्तकों के अध्ययन में डूब गये और देखते-देखते वह पक्का समाजवादी विचारवाले बन गये। उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई छोड़ दी और एक विषय के रूप में वह अर्थशास्त्र का अध्ययन करने लगे। अपनी स्नातकोत्तर परीक्षा के लिए उन्होंने एक बड़ा निबन्ध लिखा, उसकी प्रशंसा सबने की और उनकी गिनती विश्वविद्यालय के प्रतिभाशाली विद्यार्थियों में होने लगी। यहाँ से वह न्यूयार्क पहुँचे लेकिन वहाँ एक गम्भीर बीमारी ने उन्हें घेर लिया। उनको महीनों तक अस्पताल में रहना पड़ा।

इस प्रकार जयप्रकाश करीब आठ साल तक अमेरिका में रहे और उन्होंने वहाँ के पाँच विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। आरम्भ उन्होंने गणित, भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान से किया था। बाद में कुछ सालों तक उन्होंने जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र का अध्ययन किया। कमाई के लिए बीच में एक-दो सत्रों की अपनी पढ़ाई रोक दी। इस अवधि में उन्होंने फलों के बगीचों में मजदूर की तरह, मुरब्बों के कारखानों में पैकर की तरह, फौलाद के कारखाने में मेकेनिक की तरह और होटलों में नौजवान वेटर की तरह रोज दस-दस घंटों तक मजदूरी की। उन्होंने दुकान के बिक्री विभाग में भी काम करके देखा। इस तरह जब सन् 1929 में वह भारत वापस आये, तो आराम की जिन्दगी बिताने की उम्मीद रखने वाले विद्यार्थी के रूप में नहीं आये। उन्होंने अमेरिका में जीवन की वास्तविकताओं को निकट से देखा और आगे का अपना जीवन समाज-सेवा में खपाने का निर्णय किया!

यूँ जयप्रकाश के भारत आने के तुरन्त बाद पंडित जवाहरलाल ने काँग्रेस के श्रमिक-शोध विभाग की जिम्मेदारी उन्हें सौंप दी। इसके कुछ ही महीनों बाद जयप्रकाश काँग्रेस के महामंत्री का काम करने लगे। देश में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हुआ, तो वह गिरफ्तार हुए। लेकिन इसके पूर्व ही देश भर के क्रांतिकारियों में यह चर्चा आम हो गयी कि तीस साल की उमर में भी जयप्रकाश नारायण के पास ज्ञान का इतना बड़ा भंडार है कि देश के कुछ इने-गिने लोग ही उनकी बराबरी कर सकते हैं। काँग्रेस में शामिल होते ही उन्होंने पार्टी के अंदर और बाहर ऐसा तूफान उठाया कि बड़े-बूढ़े आंदोलनकारी दांतों तले उँगली दबाने लगे - इस उमर में ही कितने साहस भरे निर्णय करता है यह युवक! ब्रिटिश हुकूमत को इसके बारे में तब सूचना मिलती, जब देश के उन कोनों में सत्याग्रह का विस्फोट होता, जहाँ उस तरह के किसी विस्फोट की कल्पना काँग्रेस के दिग्गज भी नहीं कर पाते। वह देश भर का दौरा करते, पूरी योजना के साथ जनता के बीच पहुँचते, उनके पहुँचते ही पूरा इलाका आंदोलित हो उठता! इन सब पर कलगी की तरह शोभा देने वाला उनका गुण है-उनकी मानवता, जिसके कारण वह अपने मिलनेवाले, भेंट करनेवाले सब लोगों के चित्त पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं।

भारतीय समाजवाद का सूत्रधार: सन् 1933 का एक दिन। कुछ लम्बे से और दूसरों से अलग दिखानेवाले जयप्रकाश नारायण की सजा की मुद्दत पूरी हुई। उन्हें रिहा करने के लिए नासिक रोड के केन्द्रीय कारागृह के दरवाजे खुले।

वह गिरफ्तार हुए तो देशभर में खबर फैली-काँग्रेस ब्रेन एरेस्टेड। ब्रिटिश हुकूमत ने समझा कि उसकी रणनीति सफल हो गयी। 1930 में सत्याग्रह सफल हुआ लेकिन 1932 का सत्याग्रह असफलता की ओर कदम बढ़ा चुका है। काँग्रेस थक रही है। लेकिन यह क्या? जेल से निकलते ही जयप्रकाश की बातें पूरे देश में और जोर से गूँजने लगीं! वह भी हजार-हजार कंठों से। उस गूँज से ब्रिटिश हुकूमत हिल उठी। युवा जयप्रकाश ने तो देश के ब्रेन को झकझोर दिया। उन्होंने बता दिया कि वह काँग्रेस के ब्रेन नहीं, देश के ब्रेन हैं! यहाँ तक कि हजार-हजार कंठों से फूटती उस गूँज को सुन काँग्रेसी तो काँग्रेसी, आजादी के आंदोलन में सक्रिय गैरकाँग्रेसी और वामपंथी-समाजवादी आंदोलनकारी भी चौंक उठे।

उस गूँज के इस आशय ने काँग्रेस के नेताओं में कंपकंपी पैदा कर दी-'अब हमें आजादी के आंदोलन को नयी दिशा देनी पड़ेगी। महात्मा गाँधी ने इस आंदोलन को जहाँ तक बढ़ाया है, उससे आगे बढ़ने के लिए हमें खुद पैर बढ़ाने होंगे। सिर्फ राजनीतिक उद्देश्यों को लेकर जहाँ तक हम बढ़ सकते थे, बढ़ चुके। अब आंदोलन के उसी रास्ते से चिपके रहने का माने होगा-पूँजीपतियों और बाबुओं का बोलबाला, कुर्की-जब्तियों के डर से डगमगाता आंदोलन, कुर्सियों के मोह में असेम्बली और कौंसिलों की ओर दौड़ लगाने वालों के हाथ में आंदोलन का नेतृत्व देकर आजादी के मूल मकसद पर खुद पानी फेरना! वक्त आ गया है कि हम उन वर्गों की ओर बढ़ें, जिनके पास खोने के सिवा जंजीर के कुछ नहीं और पाने को पूरा संसार है। हाँ, हमें सत्याग्रह से ही स्वराज्य लेना है तो हमें किसान-मजदूरों की बड़ी-बड़ी सेना तैयार करनी पड़ेगी। यह सेना सत्याग्रह के जरिये अँगरेजी साम्राज्यवाद पर धावा बोलेगी और पूर्ण स्वराज्य हासिल करेगी। इस सेना को मालूम रहेगा कि पूर्ण स्वराज्य का क्या अर्थ है। पूर्ण स्वराज्य का माने काँग्रेस का राज नहीं, बल्कि खुद उन्हीं किसानों और मजदूरों का राज यानी समाजवाद का राज!'

लेकिन इस गूँज के साथ चलती और मौका मिलते ही निवेदन करती सी युव जयप्रकाश की नम्र लेकिन प्रश्नाकुल आवाज से वामपंथी और समाजवादी भी चौंक उठते हैं, परेशान हो उठते हैं। यह आवाज तो आजादी के आंदोलन को गति देने के लिए सिर्फ काँग्रेस को नहीं बल्कि भारत के वामपंथ को भी चुनौती दे रही है! वह पूछने के अंदाज में कहते हैं -'मित्रो, आज कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इसमें संदेह नहीं करेगा कि मानव समाज के विकास के क्रम में अगला चरण समाजवाद है। परंतु समाजवाद क्या है, इस प्रश्न पर भी क्या ऐसी ही सहमति संभव है? समाजवाद के विभिन्न सिद्धान्त और समाजवादी समाज के विभिन्न चित्र समय-समय पर समाजवादी चिन्तकों और कार्यकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। ये विभिन्नताएँ कुछ कम हो जाती हैं, जब हम समाजवादी विचारधारा के कई बड़े पंथों में से किसी एक ही पर विचार करते हैं। इस प्रकार, यदि हम मार्क्सवाद को स्वीकार करते हैं, या मार्क्सवादी पंथ में दाखिल हो जाते हैं, जैसा कि मैं स्वयं हो गया हूँ, तो मतभेद बहुत कम हो जाते हैं; परन्तु वे किसी भी प्रकार समाप्त या विलुप्त नहीं हो जाते। आज दुनिया में मार्क्स को माननेवाले ऐसे समाजवादी आंदोलन हैं जो आपस में काफी मतभेद रखते हैं, यहाँ तक कि एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते भी हैं। मिसाल के लिए, स्टालिनवादी और ट्राट्स्कीवादी दोनों मार्क्सवाद के ही झंडे के नीचे आगे बढ़ने की घोषणा करते हैं; परन्तु वे न केवल एक दूसरे से मतभेद रखते हैं, बल्कि एक दूसरे के रक्त के भी प्यासे बने हुए हैं। इन दोनों मार्क्सवादी पंथों में समाजवाद का सही चित्र कौन उपस्थित करता है? परस्पर युद्धरत इन दोनों शिविरों में जो नहीं हैं, वे निस्संदेह कहेंगे 'कोई नहीं।'

हमारे अपने देश में ही, साम्यवादी और रायवादी दोनों मार्क्स के नाम की कसम खाते हैं, लेकिन हम देख रहे हैं कि मार्क्स के नाम पर किस प्रकार की 'समाजवादी' नीति का उन्होंने अनुसरण किया है। हम देख रहे हैं कि उनके मार्क्सवाद में मैक्सवेल के भाड़े के टट्टू बनकर काम करना और भारतीय क्रांतिकारियों पर जासूसी करना भी शामिल है। अपितु, ये दोनों 'मार्क्सवादी'- गुट एक दूसरे के परम शत्रु हैं। इस देश में मार्क्सवाद की ध्वज उड़ानेवाले छोटे-छोटे गुट भी हैं; लेकिन मार्क्सवाद क्या है, इस पर उनमें सहमति नहीं है।

अत: इन सारी उलझनों और प्रतिस्पर्द्धापूर्ण दावों को देखते हुए मुझे लगता है कि हमें देश को आजाद करना है तो भारतीय समाजवादी आंदोलन को मार्क्सवादी चिन्तन, मार्क्स की मृत्यु के बाद के विश्व-इतिहास तथा इस देश की परिस्थिति एवं अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के प्रकाश में, समाजवाद की एक अपनी तस्वीर विकसित करनी चाहिए। मार्क्सवाद समाज का एक विज्ञान है और सामाजिक परिवर्तन की एक पद्धति है जिसमें सामाजिक क्रान्ति शामिल है। ऐसी स्थिति में, मार्क्सवादी चिन्तन में मताग्रह या कठमुल्लेपन के लिए कोई स्थान नहीं है। जो लोग एक तरफ मार्क्सवाद को वैज्ञानिक बताते हैं और दूसरी

तरफ उसमें मताग्रह दाखिल करते हैं, वे उसकी बड़ी कुसेवा करते हैं। विज्ञान में अंतिम सत्य जैसी कोई वस्तु नहीं होती। विज्ञान की प्रगति मानवीय विज्ञान में से असत्य के उत्तरोत्तर निराकरण के द्वारा होती है। यदि मार्क्सवाद विज्ञान है, तो मार्क्स अंतिम सत्यों की व्याख्या नहीं कर सके होंगे, बल्कि उन्होंने केवल ऐसे अनुमान प्रस्तुत किये होंगे जो उन सत्यों के निकट हैं। आज हमें मानवीय ज्ञान का विशाल विकसित भंडार और पूंजीवादी समाज का विशालतर अनुभव और निरीक्षण भी उपलब्ध है; इसलिए मार्क्स की अपेक्षा हम सत्य के कहीं अधिक निकटतर अनुमान प्रस्तुत करने की स्थिति में हैं। मार्क्स की अनन्त विशिष्टता इसमें है कि उन्होंने हमें इतिहास को समझने और परिवर्तित करने की एक विधि दी, जिस प्रकार डार्विन ने हमें जीवन को समझने की विधि बतायी थी। डार्विनवाद और मार्क्सवाद लगभग एक साथ पैदा हुए, लेकिन आज सबसे उत्कट डार्विनवादी भी डार्विन द्वारा किये गये प्रतिपादनों के अनुसार विकास के सिद्धाँतों में विश्वास नहीं करता है, तथापि वह डार्विनवादी होने का गौरव करेगा। विस्कॉन्सिन में जीव-विज्ञान के मेरे प्राध्यापक, डार्विन द्वारा जीव की उत्पत्ति पर लिखित ग्रन्थ को विश्व के ग्रन्थों में बाइबिल के बाद दूसरा स्थान देते थे; परंतु आगे बढ़कर जब वे यह बताते थे कि आधुनिक शोध ने कहाँ डार्विन को गलत या अंशत: सही सिद्ध किया है, तो उनके मन में क्षण भर के लिए यह विचार नहीं आता था कि अपने गुरु के प्रति उनका यह अभक्तिपूर्ण आचरण हो रहा है। उसी प्रकार मार्क्सवादी को भी यह छूट है कि वह मार्क्स द्वारा रचित ग्रंथ 'कैपिटल' को दूसरा क्यों, पहला ही स्थान दे, और फिर मार्क्सवाद के आंशिक सत्यों को विकसित एवं परिष्कृत करने का प्रयास करें।'

फिर तो वह हुआ, जिस पर बिहार ही नहीं, बल्कि पूरे देश का इतिहास गर्व से आज भी दोहराता है! - नासिक जेल से उसके निकलने के साथ ही भारत की राजनीति में एक नयी शक्ति प्रकट हुई! और, जयप्रकाश का नाम पूरे देश की जुबान पर चढ़ गया - बूढ़े बुजुर्गों के लिए जयप्रकाश! समवयस्क और युवकों के लिए - जेपी!

जिसने जेपी नाम सुना और अपनी जुबान से दोहराया उसने महसूस किया कि 'यह सिर्फ आजादी के आंदोलन का सिपाही या सेनापति नहीं है। यह तो आज के साधनों की मदद से आनेवाले उजले कल को गढ़ने की कोशिश करनेवाला क्रांतिकारी है! एक ऐसे आन्दोलन का कर्णधार है, जिसके साथ इस देश का भविष्य जुड़ा है।'

ऐतिहासिक तथ्यों के हिसाब से नासिक जेल में जयप्रकाश ने काँग्रेस के कई प्रसिद्ध नेता मीनू मसानी और अच्युत पटवर्धन और दूसरे कुछ साथियों के साथ मिलकर काँग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की रूपरेखा तैयार की और रिहाई के बाद आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में काँग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन पटना में बुलाया। उस दौरान अखिल भारतीय काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कार्यक्रम को छोड़कर संसदीय कार्यक्रम तैयार करने में लगी थी! लेकिन जयप्रकाश देश की आजादी के लिए देश भर में क्रांतिकारी समाजवाद का अलख जगाने निकल पड़े। काँग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी के संगठन महामन्त्री बनकर एक-एक प्रान्त में जाकर वहाँ क्रान्तिकारियों की खोज की। पूरे देश में काँग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की शाखाओं का गठन किया। कुछ ही महीनों के बाद बम्बई में काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की विधिवत् स्थापना हुई। जयप्रकाश उसके महामन्त्री नियुक्त किये गये। लखनऊ में काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति के सदस्य नियुक्त होने तक वे सोशालिस्ट पार्टी के मन्त्री बने रहे। फिर कुछ ही महीनों के बाद काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति से त्यागपत्र देकर जयप्रकाश दूसरी बार समाजवादी पार्टी के महामन्त्री बने।

जनता और खासकर युवा जेपी के क्रांतिकारी समाजवाद के लिए पागल हो उठे। लेकिन यहाँ भी यह साफ दिखा कि जयप्रकाश मताग्रही नहीं हैं। उनकी अंगुलियाँ जनता की नब्ज को भलीभांति पहचान सकती हैं। वह अपनी तमाम क्रांतिकारिता और उग्रता के बीच भी जिस चीज को सबसे अधिक नापसन्द

करते हैं वह है विचारों की संकुचितता। यह संकुचितता सिर्फ क्रांति-चिंतन में वैज्ञानिकता निषेध नहीं करती बल्कि क्रिया-प्रक्रिया और परिणामों तक को सीमित कर देती है। उन्होंने उसी दौरान एक किताब लिखी – 'समाजवाद क्यो?' सादी और सीधी लेखन शैली लेकिन विशेषज्ञों से लेकर सामान्य पढ़ने-लिखने वालों तक के लिए उत्कृष्ट कलाकृति! भारत के वर्तमान को ही नहीं बल्कि भारत के भविष्य को देखने-समझने और परखने वाली पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ! आजादी के आंदोलन में सक्रिय लोगों को तो जैसे किताब के रूप में क्रांति का बीज मंत्र मिल गया। किताब का भी वैसा ही असर हुआ, जैसा कि जेपी के भाषणों का। वह मंच पर खड़े होते और पहले की दृश्य में खुद साफ कर देते कि उन्हें भाषण देना नहीं आता, वह ताली पिटवाने वाला भाषणकर्ता बनना भी नहीं चाहते। लेकिन विषय की जानकारी और उसके प्रति अपनी ईमानदारी के कारण वह श्रोताओं पर इतनी गहरी छाप छोड़ते कि अच्छे से अच्छे वक्ता के लिए भी वैसी छाप छोड़ना बहुत ही कठिन होता, लोगों पर उनकी बातों का ऐसा जादू चलता कि आदतन ताली बजानेवाले भी ताली बजाना भूल जाते! – 'यहाँ यह कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि अँग्रेजी शासन के अंतर्गत कोई समाजवाद नहीं हो सकता। लेकिन आज ही यह सोचना जरूरी है कि जिस आजादी के लिए हम संघर्ष कर रहे हैं, उस आजादी का मकसद क्या है? उस आजादी के बाद ऐसा 'क्या' होना है, जिसकी कल्पना, जिसकी छवि आजादी के आज के संघर्ष को ताकत दे, उसमें जनता की सहभागिता और समर्थन को व्यापक और पुख्ता बनाये? क्या यह आज ही आजादी के आंदोलन के इस दौर में ही स्पष्ट नहीं होना चाहिए कि भारत से अँग्रेजों के जाने बाद देश में आज जैसा कोई विशेषाधिकार-प्राप्त आर्थिक या राजनीतिक वर्ग, अर्थात् आर्थिक एवं राजनीतिक सत्तायुक्त आत्म-हितकारी वर्ग, न रहे। .....अगर भारत के लोग अँग्रेजी राज को मिटाने में समर्थ होते हैं, तब यदि वे सामंतवाद ओर पूँजीवाद को समाप्त करना चाहेंगे तो उन्हें कोई रोक नहीं सकेगा। एकमात्र अवरोधी तत्व जनता की राजनीतिक चेतना के विकास की स्थिति ही होगी। दूसरे शब्दों में, यदि समाजवादी आंदोलन इतना शक्तिशाली बन जाता है कि वह जनता को सही दिशा में ले जा सके तो ये सभी परिवर्तन बिना किसी बड़ी कठिनाई या विरोध के पूरे किये जा सकेंगे। राजवंशों के उन्मूलन से शायद ही कोई ऐसी वैधानिक समस्या उपस्थित होगी जिसे समाजवाद को हल करना है। पूँजीवादी समाज के पास भी उसका हल मौजूद है, और हम पूँजीवादी क्रान्तियों के इतिहास से भी अनुभव ले सकते हैं। राजाओं को केवल गद्दी से उतार कर सामान्य नागरिकों की कोटि में रख देना है, और उनके राज्यों को – उनकी भौगोलिक स्थिति, आर्थिक साधनों एवं सांस्कृतिक संबंधों का समुचित विचार करते हुए – वैज्ञानिक रीति से निर्धारित क्षेत्रों का अंग बना देना है। जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन हमारी कृषि-प्रधान अर्थरचना के समाजवादी पुनर्गठन की दिशा में पहला कदम होगा जिसमें वस्तुतः सिद्धांत और व्यवहार के बहुत कठिन प्रश्न निहित हैं। केवल इतना कहने से कि समाजवादी भारत में कोई जमींदार नहीं रहेगा, यह स्पष्ट नहीं होता कि समाजवादी कृषि का वास्तविक रूप, जो हम इस देश में विकसित करना चाहते हैं, क्या होगा। . ...पूँजीवाद का उन्मूलन निस्संदेह समाजवाद की दिशा में एक बड़ा कदम है; लेकिन केवल इसी को समाजवाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह उसका एक नकारात्मक अर्द्धभाग है; उसके सकारात्मक अर्द्धभाग का निर्माण करना अभी बाकी है। पूँजीवाद का उन्मूलन किस ढंग से होगा और उसका स्थान क्या लेगा, यह बहुत दूर तक तय करेगा कि हम कैसा समाजवाद लाने जा रहे हैं।'

देखते-देखते काँग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी अपने राजनीतिक स्वरूप से आगे बढ़कर आजादी का शक्तिशाली आन्दोलन बन गयी। उसके सिद्धान्तों से प्रभावित होकर बड़ी संख्या में लोग आजादी के आंदोलन में कूद पड़े। बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने के लिए घर से निकल पड़े!

अगस्त क्रांति का अग्रदूत : रेडियो में अचानक एक स्पष्ट आवाज गूँज उठी–मैं जयप्रकाश बोल रहा हूँ। आपका जेपी! और हवाओं में सनसनी घुल गयी! जेपी! वह कहाँ हैं? किसी को मालूम नहीं। फिर

यह आवाज! ब्रिटिश हुकूमत को मौत का फरमान सुनाती सी।

वह 1942 में अगस्त क्रांति का दौर था। देश भर में 'करेंगे या मरेंगे' का नारा गूँज रहा था। हुकूमत ने काँग्रेस के तमाम दिग्गज नेताओं को नारा लगाने तक का मौका दिये बिना पहले ही गिरफ्तार कर लिया था। 9 अगस्त से बिहार सहित पूरे देश में जन-ज्वालामुखी फूटी। लेकिन जेल के अंदर गये नेताओं और जेल के बाहर के कार्यकर्ताओं में शुरू से यह निराशा घर करने लगी कि अगस्त आंदोलन विफल होगा। नेतृत्व के अभाव में जनता भ्रम का शिकार होगी। ब्रिटिश हुकूमत को भी लग रहा था - बस कुछ दिन में 'डू ऑर डाई' का गुब्बारा फूट जायेगा!

लेकिन नवम्बर में अचानक एक खबर तूफानी हवाओं की तरह फैली और जन-ज्वालामुखी को और लहका गयी! -जेपी हजारीबाग जेल की ऊँची दीवार फाँद गये, अपने 5 साथियों के साथ फरार हो गये! जनता को मैसेज मिल गया। नारा लगाते हुए जेल जाना नहीं, जान हथेली पर जेल से निकल भागना 'करेंगे या मरेंगे' की सर्वोत्तम मिसाल है!

ब्रिटिश हुकूमत ने तमाम उन तमाम काँग्रेसी नेताओं को शुरू में जेल में ठूँस दिया था, जो अगस्त क्रांति में जनता का नेतृत्व करने की तैयारी में थे। सिर्फ ऐसे काँग्रेसी नेताओं को छोड़ रखा था, जो जेल से बाहर रहते हुए 'समझौते के राज' का सपना देख रहे थे। यह जानते हुए भी कि जनता समझौते का सपना नहीं देखाती। काँग्रेस के जो नेता जेल से बाहर हैं, जनता को उन नेताओं के नेतृत्व की जरूरत नहीं। लेकिन उसे ऐसे संदेश की जरूरत तो थी जो उसका हौसला बढ़ाये, उसे प्रोग्राम दे, आगे की राह बताये। ब्रिटिश हुकूमत इस प्लान पर चल भी चुकी थी पुलिस-फौज का दमन चक्र चलाकर पूरे आंदोलन को चंद महीनों में दबा दिया जायेगा। नेतृत्व के अभाव में अहिंसा और हिंसा दोनों तरह के मोर्चे को संभालने में लगी जनता कितने दिन टिकेगी - क्या करेगी और कितना मरेगी!

ब्रिटिश हुकूमत ने इस बीच अपनी रणनीति के अनुरूप पर्चों, पुस्तिकाओं और अखबारों के जरिये, तस्वीर दे देकर जोरदार ढंग से प्रचार शुरू किया कि अगस्त आन्दोलन गुंडापन है; तोड़-फोड़ गुंडों और बदमाशों का प्रोग्राम है। हुकूमत के इस प्रचार को गति दी उसके पिट्ठू जमींदार और राज परिवारों ने। उन्होंने भी पर्चा निकला। उसमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति की दुहाई देते हुए आन्दोलन को गुंडापन कहा और आन्दोलनकारियों को खरी-खोटी भी सुनाई गयी थी। उस पर्चे पर ऐसे काँग्रेसी नेताओं के नाम थे, जिनको आजादी के अब तक आन्दोलन में जनता की भागीदारी के 'गुंडेपन' ने ही नेता बनाया और बढ़ाया था!

ऐसे वातावरण में फरार जयप्रकाश की जोरदार आकशवाणी गूँजने लगी और अगस्त क्रांति को लाठी-गोली से दबाने की अपनी रणनीति को सान पर चढ़ाती ब्रिटिश हुकूमत को जैसे पाला मार गया! और तो और, जेपी की आवाज के जरिये जो कुछ जनता तक पहुँचा, वह कुछ ही दिन में हू-ब-हू एक पत्र-पर्चा के रूप में निकला-बिहार की जनता के नाम, बिहार के आंदोलनकारी कार्यकर्ताओं के नाम!

'मित्रो, अगस्त-क्रांति आकस्मिक घटना नहीं है; यह तो बदलती परिस्थिति का लक्षण है, जो अब भी बदल रही है। मित्रो, क्रांति घटना नहीं होती जो घटी और समाप्त हो गयी। क्रांति एक नियम है जो काम करती है; एक गति है जो लक्ष्य पर पहुँचती ही है। इसलिए अगस्त-क्रांति को सफल होना ही है। जिन सामाजिक शक्तियों का वह लक्षण है उन शक्तियों का प्रवाह हमें सफलता की ओर ले ही जायेगा। हाँ, हमें सोचना होगा कि हम दबें क्यों? अपने दबने के कारण को ढूँढ़ना और दूर करना है। हम इसलिए दबे कि न हमारा व्यापक संगठन है और न व्यापक प्रोग्राम। बहुत से कार्यकर्त्ता जिनमें कितने पुराने और अनुभवी काँग्रेस मैन हैं अंत तक विचार द्वन्द्व में पड़े रहे कि हमें आन्दोलन में पिलना है या नहीं?

इसलिए रेल-तार तोड़ कर, थाने में बैठकर लोग समझ नहीं सके कि हमें क्या करना है? इसलिए हमें संगठित और अनुशासित होना है; हुनर सीखना है; पहले की तरह अनाड़ी जैसा काम नहीं करना है। हमें गाँवों में, कारखानों में, खानों में, रेलवे में आदमियों के बीच, पुलिस और हिन्दुस्तानी फौज के बीच प्रचार करना है, छात्रों में काम करना है। रियासतों और सरकारी इलाकों में घुसना है। .....हम 1944 की 26 जनवरी आने के पहले ही भारत को आजाद कर लेंगे। इसके लिए हम-आपको, किसानों, मजदूरों और छात्रों को साथ काम करना है। इसके साथ-साथ गुरिल्ला दल तैयार करना है। व्यवसायियों से अपील है कि वे अँग्रेज व्यवसायी और अँग्रेजी बैंक वगैरह का बहिष्कार करें। वे स्वराज करज-खाते रुपये दें। फौजवाले भी आजाद भारत (रिपब्लिक इंडिया) की वफादारी की शपथ लें और गद्दी-छोड़ अँग्रेजों के खिलाफ उठ खड़े हों। पुलिस, सरकारी नौकर-चाकर तथा दूसरों से भी यही अपील है।

.....हम-आप अँग्रेजों के खिलाफ हथियार क्यों न उठायें? हमने तो अपने को आजाद घोषित किया है, और हमारी आजादी पर अँग्रेज हमला कर रहे हैं। उनसे हमारा लड़ना कैसे अनुचित कहा जा सकता है? हमें सब तरह से तैयार रहना है। हो सकता है हमें दुश्मन पर चढ़ जाने का मौका जल्द मिल जाय, क्योंकि हमारी तैयारी देख जनता की पस्त हिम्मती दूर हो जायेगी । पर हमें उतावला नहीं बनना है। तैयारी में जुटे रहना है। पर इसका मतलब यह नहीं कि हमारी लड़ाई तत्काल के लिए बिल्कुल बन्द रहे। हाथापाई, सरहदी कार्रवाई, छोटी मोटी भिड़ंत, निशानेवाजी और गश्ती वगैरह तो होते रहना चाहिए।'

'अंडरग्राउंड' जेपी की आवाज ने आंदोलनकारी युवाओं और कार्यकर्ताओं को जनता को देखने, उसकी नब्ज को पहचाानने की नयी दृष्टि दी-'पूरे बिहार में रेल, पुल और सड़कें तोड़ने की कोशिशें लगातार जारी रहीं। अनगिनत स्थानों में सफलता मिली; फिर भी कहीं कोई नहीं मरा। जनता ने इस संबंध में जो किया, दिनदहाड़े, अधिकारियों की नजर के सामने किया। खुलेआम तोड़-फोड़ की और जब फौज पीठ पर आयी तो जनता की ताकत दुगनी हो गयी। कोई भागा नहीं। यही तो वह सत्याग्रह है, जिसका पहला पाठ गाँधी ने 1917 में पढ़ाया था - इसी बिहार में, चम्पारण की जमीन पर! उस समय गाँधी का नेतृत्व था, गाँधी के राजेंद्र प्रसाद, कृपलानी जैसे कई सच्चे अनुयायी भी बाहर थे, जो अँग्रेजी नहीं बतियाते थे। खुद नेता बनकर दूसरों के लिए 'डू ऑर डाई' का नारा नहीं उछालते थे। वे तो 'करो या मरो' नहीं बल्कि कहते थे 'करेंगे या मरेंगे।' बिहार की जनता ने उनकी अनुपस्थिति में संघर्ष का कमान अपने हाथ में थामा और यही किया। सहभागी निर्भयता, तन्मयता और श्रद्धा का परिचय दिया। तोड़-फोड़ करके तोड़-फोड़ की जगह पर डटे रहे।

जेपी जनता के बीच नहीं थे। वह कहाँ हैं, यह भी आम लोगों को मालूम नहीं। कभी उनके बारे में सुन लिया या कोई पर्चा पढ़ लिया। बस। पर्चा में दिखता कि जेपी ने जनता के दिल की बातों को शब्द दे दिये। हाँ, अगस्त-आन्दोलन में जनता की ओर से हिंसा भी हुई। उसके लिए उसको रह-रहकर अनुताप होता। तभी जेपी की आवाज आती - 'क्रांति वही है जिसमें करुणा बरसे, क्रूरता नहीं। तुम्हारी आँखों में अनुताप के आँसू हैं, इसलिए मुझे भरोसा है तुममें क्रांति की ऊर्जा है।'

उनके पर्चों, उनके पोस्टर, उनकी आवाज और उनके आजाद दस्ते के विस्फोटक कारनामों में जैसे जनता का दिल बोलने लगा। 219 थानों पर हमला हुआ। 80 थानों पर 'जन-व्यवस्था' और 'जनता-राज' कायम हो गया! वहाँ जनता के बीच से निकले कार्यकर्ता शेर हो गये। उनके सामने दोस्त थे और दुश्मन भी। उन्होंने जन व्यवस्था करते हुए दोनों की सुख-सुविधा का समान विचार किया। उनके सामने पूँजीपति थे, दलाल थे और ऐसे लोग भी थे जिनके बारे में उनको पूरा पता था कि वे क्रांति के विरोधी हैं और आगे भी रहेंगे पर उन्होंने किसी के स्वार्थ पर आँच नहीं आने दी। यदि उनमें लूट या

बदले की भावना रहती तो 'जनता-राज' का इतिहास कुछ और तरह का होता।

बहरहाल, इतिहास गवाह है कि जेपी अगस्त-क्रांति के अग्रदूत बने और जनता नेता बन गयी! जनता ने अगस्त क्रांति के नेतृत्व का कमान अपने हाथ में थाम लिया! 'करेंगे या मरेंगे' को 'जनता-राज' की परिणति तक पहुँचाने में बिहार के करीब 23 हजार लोग गिरफ्तार हुए। 5 हजार को कड़ी सजा मिली। 562 लोग (अधिसंख्य युवा) सीने पर गोली खाकर शहीद हुए। 26 लोगों ने हँसते-हँसते फाँसी के फँदे को चूम लिया!

9 अगस्त, 1942 को शुरू क्रांति जहाँ पूरे देश में 6 महीने में ही ठंडी पड़ने लगी, वहीं बिहार में उसे जेपी ने और लहका दिया। यहाँ अगस्त-क्रांति की आग तीन साल तक धधकती रही। बिहार तब शांत हुआ, जब नौ सेना में विद्रोह फूट पड़ा और ब्रिटिश हुकूमत ने खुलकर स्वीकार किया कि 'आज नहीं तो कल हमें जाना ही होगा! अब सिर्फ नेताओं को जेल में बंदकर या उन्हें सजा देकर और दमन-चक्र तेज कर देश पर राज करना संभव नहीं क्योंकि देश की जनता खुद नेता बन गयी है!'

और इसके बाद?

देश आजाद हुआ। क्रांति अधूरी रही और जेपी का अर्थ बदल गया! ऐसा अर्थ जो शब्दों में नहीं बँधता। आखिर ऐसा इतिहास बँधे भी कैसे जो जिंदा वर्तमान हो-जो चल रहा हो, गतिशील हो!

वैसे, जेपी का अर्थ जानने-पहचानने के लिए कई-कई शब्द हैं, छवियाँ, सवाल हैं, जवाब हैं। जैसे, दूसरी आजादी, लोकतंत्र, बिहार आंदोलन, इमरजेंसी, तानाशाही, सम्पूर्ण क्रांति... आज का भारत! जेपी का अर्थ जानना हो तो भारत के कश्मीर, नागालैंड और गुजरात जैसे प्रदेश से लेकर नेपाल और बंगला देश सहित दुनिया के उन देशों के उस इतिहास से भी गुजरना होगा, जो जेपी के स्पर्श से आज भी जिंदा है - अनुप्राणित है!

फिर भी जेपी का अर्थ पूरी तरह न खुले तो समय की दीवार पर लिखी उस इबारत को पढ़ना होगा, जो अब तक नहीं मिटी, शायद कभी मिटेगी भी नहीं : 'क्राति के तीन मार्ग हैं- कानून, कत्ल और करुणा। अनुभव की रोशनी में हमें यह देखना है कि इन तीन मार्गों से क्रांति हो सकती है या नहीं। लेकिन इस पर विचार करने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि क्रांति है क्या चीज। भ्रमवश कुछ लोग यह मान लेते हैं कि क्रांति का मतलब है : गरीबी दूर होना, खेती का विकास होना, अधिकाधिक स्कूल- कॉलेज खुलना, गरीब हरिजनों और बीमारों को मदद मिलना या सरकारी कर्मचारियों को नौकरी की सुरक्षा मिल जाना आदि। ये मंगलकारी कार्य जो कथित मंगलकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) के द्वारा होते हैं, क्रांति नहीं है। क्रांति में कुछ बुनियादी परिवर्तन की बातें होती हैं। समाज की बनावट में, उसकी रचना में आमूल परिवर्तन का नाम क्रांति है। क्रांति में मुख्य प्रश्न शक्ति या सत्ता (पावर) का होता है। सत्ता का तंत्र आमलोगों के हाथों में हो, और जिस बुनियाद पर वह आज खड़ा है, उसमें परिवर्तन हो तो इसको क्रांति कह सकते हैं।

अच्छा चलिये, सोच के देखिये भारत में क्रांति होती है तो उसका क्या अर्थ होगा, उसका क्या रूप होगा? यहाँ क्रांति का मतलब तो यह होगा कि जमीन की मालकियत के नाते जो शक्ति या सत्ता जमीन वालों के हाथ में है, वह खत्म होनी चाहिए और जिस आर्थिक रचना में ऐसी सत्ता उनके हाथ में है, उसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए। समाज के ढाँचे में, यानी जो शक्ति या सत्ता की रचना है, उसमें बदल होना चाहिए और एक नयी रचना खड़ी होनी चाहिए, जिसमें किसी की मनमानी नहीं चल पाये। जो आज गरीब हैं, पिछड़ी हुई जातियों के लोग हैं, जैसे हरिजन, आदिवासी आदि, जिनके पास कोई सत्ता नहीं है, उनके हाथों में, यानी आमलोगों के हाथों में, आर्थिक और राजनीतिक सत्ता जब आयेगी,

तब हम कहेंगे कि क्रांति हुई। .... क्रांति के परिणामस्वरूप सत्ता की रचना में परिवर्तन के साथ-साथ संपत्ति के संबंधों में भी बुनियादी बदल होना चाहिए। अगर यह नहीं होता है तो क्रांति अधूरी रहेगी। ... .संपत्ति के मामले में कई तरह के प्रश्न हैं। स्वामित्व का प्रश्न है, उसके प्रबंध का प्रश्न है, और यह प्रश्न है कि संपत्ति का जो उत्पादन करते हैं, उनका उसकी बचत में क्या हिस्सा होना चाहिए। ...क्रांति का परिणाम केवल सत्ता और सम्पत्ति के संबंधों में नहीं, बल्कि शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रकट होना चाहिए। क्रांति के फलस्वरूप गरीबों के हाथ में सत्ता आती है तो एक स्वतंत्र समाज बनना चाहिए, एक ऐसा समाज जिसमें लोगों को नागरिक स्वतंत्रता का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो। समाज में समता, स्वतंत्रता एवं मानव-भ्रातृत्व की स्थापना होनी चाहिए। क्रांति हो चुकने के बाद भी कोई किसी का शोषण करे, किसी पर शासन करे और समाज में समता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व का नाम न हो, यह कैसे संभव है? इसी प्रकार क्रांति के बाद भी अगर शिक्षा और संस्कृति मुट्ठी भर लोगों तक सीमित रहे और बाकी लोग अशिक्षित और असंस्कृत रहें तो क्रांति क्या हुई? क्रांति की इस परिभाषा के अनुसार आज क्या कोई भी ऐसा देश है जहाँ कह सकते हैं कि क्रांति हुई है?'

हाँ, जो दिल-दिमाग इस इबारत को पढ़ने-पकड़ने में सक्षम है, जिसमें इसे ग्रहण करने और आत्मसात करने की ईमानदारी है, वह भरोसे के साथ कह सकता है कि उसने जेपी का अर्थ पा लिया! जेपी का अर्थ हुआ-'सम्पूर्ण क्रांति की तलाश में जिंदा लोकनायक!'- जिंदा लोकनायक! जो खुद को गलाकर लोक को नायक बना दे, उस लोकनायक को क्या कहेंगे?-अमर या जिंदा?

भिक्षु जगदीश काश्यप

–प्रेम कुमार मणि

बिहार के आधुनिक इतिहास में बौद्धधर्म दर्शन के पुनरुद्वार का श्रेय जिस एक व्यक्ति को जाना चाहिए, वे हैं भिक्षु जगदीश काश्यप। लेकिन यह बिहार का दुर्भाग्य ही है कि इस महान साधक के नाम से यहाँ के ज्यादातर लोग अपरिचित हैं। नव नालंदा महाविहार जिसे सामान्य तौर से पालि इंस्टीच्यूट के रूप में जाना जाता है, भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रयत्नों का ही प्रतिफलन है। यह संस्थान न होता तो आज का नालंदा केवल पुराने भग्नावशेषों के लिए ही जाना जाता। काश्यपजी ने भग्नावशेषों के पार्श्व में इस आधुनिक संस्थान को खड़ा कर नालंदा की प्राचीन गरिमा को बीज रूप में साकार करने की कोशिश की थी। आज एक बार फिर नालंदा में विश्व स्तर के विश्वविद्यालय की स्थापना की बात चल रही है। यदि यह हुआ तो इसे काश्यपजी के सपनों का साकार होना ही कहेंगे।

भिक्षु जगदीश काश्यप का जन्म राँची में 1908 ई० में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। इनका पैतृक घर गया जिले के रौनियाँ नामक गाँव में था, जो खिदरसराय के पास फल्गु नदी के पूरब बराबर की पहाड़ियों की गोद में अवस्थित है। श्यामनारायण और बतासो देवी के पुत्र भिक्षु जगदीश काश्यप तीन भाइयों में सबसे छोटे थे और इनका कुलनाम जगदीश नारायण था। बालक जगदीश जब ग्यारह माह का ही था तो अपनी माँ के साथ नदी के तेज धारा में बह गया, और मुश्किलों से जूझता हुआ किसी तरह बच सका। सामान्य तौर से ईश्वर में विश्वास करनेवालों को लगा कि यह बालक ईश्वर की कृपा से ही बचा है। लेकिन स्वयं इस बालक ने आगे जाकर एक अनीश्वरवादी धर्म के प्रचार-प्रसार में अपनी पूरी जिंदगी लगा दी।

जगदीश नारायण पठन-पाठन में तेज थे। आरंभिक शिक्षा राँची में ही हुई। 1925 ई० में राँची के जिला स्कूल से इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की और 1929 ई० में पटना कॉलेज से बी० ए० किया। पटना कॉलेज में कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' और साहित्यकार लक्ष्मीनारायण सुधांशु इनके सहपाठी थे। बाद में वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय चले आये जहाँ से 1931 ई० में इन्होंने दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया। बाद में यहीं से इन्होंने संस्कृत में भी एम० ए० किया। इस संस्कृत ज्ञान के बूते इन्हें बैद्यनाथधाम के संस्कृत विद्यापीठ में पहले आचार्य और फिर प्राचार्य का पद मिला। यह आर्य समाजियों का संस्थापन था। आर्य समाज उन दिनों हिंदू समाज का एक क्रांतिकारी संगठन हुआ करता था जो अपने ही धर्म के कठमुल्लेपन के खिलाफ जूझ रहा था। महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी बहुत दिनों तक आर्य समाज से प्रभावित रहे थे। जगदीश नारायण को इसी विद्यापीठ में बौद्धधर्म विषयक कुछ जानकारी मिली। बाद में वे राहुल सांकृत्यायन से मिले तो उनकी मेधा से बहुत प्रभावित हुए। स्वयं जगदीश काश्यप ने एक जगह लिखा है कि राहुल जी ने उन्हें बुद्ध वचन की कुछ पंक्तियाँ पढवायी। पंक्तियाँ थीं- ''किसी बात को इसलिए मत मान लो कि यह बहुत बड़े सद्ग्रंथ में लिखा है या इसे कहनेवाला बहुत बड़ा आदमी है या इसे बहुत से लोग मानते हैं, बल्कि तुम स्वयं देखो कि क्या सचमुच इस बात से तुम्हारा और बहुजनों का उद्धार संभव है। यदि ऐसा है तभी उस बात को मानो।'' जगदीश काश्यप ने लिखा है कि राहुलजी ने इस बात को छुपाये रखा कि किसकी पंक्तियाँ है। काश्यपजी इन पंक्तियों से प्रभावित हुए और किनका वचन है यह जानने के लिए बहुत उत्सुक हुए तब जाकर राजुल जी ने बतलाया कि यह बुद्ध वचन है। काश्यपजी राहुल जी के द्वारा बुद्ध से कुछ-कुछ परिचित हो चुके थे। साम्राज्यवाद विरोधी संग्राम में वे काँग्रेस के मंच से कुछ-कुछ सक्रिय भी हो चुके थे। मन में

विद्रोही भावनाएँ थीं। इन सबकी संगति और राहुल सांकृत्यायन का सान्निध्य। काश्यपजी बौद्ध धर्म दर्शन और खासकर पालि भाषा के अध्ययन के लिए उत्सुक हुए। उस समय पालि त्रिपिटक के अध्ययन का सबसे बड़ा केन्द्र लंका का विद्यालंकार महाविहार था। काश्यपजी ने विद्यालंकाराधिपति को पत्र लिखा और वहां आने की अनुमति माँगी। लेकिन वहाँ जाने का मार्ग प्रशस्त किया राहुल जी ने। पटना में उन दिनों काशी प्रसाद जायसवाल जी विद्वानों के आकर्षण-केन्द्र हुआ करते थे। राहुल जी से काश्यपजी की मुलाकात इन्हीं के घर हुई। राहुल जी ने काश्यपजी को पत्र देकर लंका के लिए विदा किया।

श्रीलंका में जगदीश नारायण ने धम्म की प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और जगदीश काश्यप हो गये। कहते हैं जगदीश काश्यप नारायण ने माँ और अन्य पारिवारिक सदस्यों से इस प्रव्रज्या के लिए इजाजत ली थी। विवाह कर परिवार बसाने की कोई अभिलाषा जगदीश नारायण को न थी। प्रव्रज्या ग्रहण कर उन्होंने अपने जीवन के लिए एक नया रास्ता चुन लिया था काश्यपजी ने कठिन परिश्रम से जल्दी ही त्रिपिटाकाचार्य में उत्तीर्णता प्राप्त कर ली। पालिभाषा पर अधिकार प्राप्त कर इन्होंने लंका में बौद्धधर्म की स्थिति का अध्ययन किया और संस्कृत भाषा में इस विषय पर एक किताब भी लिखी। वहाँ के विद्वानों के बीच इनकी प्रतिष्ठा थी। राहुल जी भी इन पर नजर रखे हुए थे। 1934 ई० में काश्यपजी जब भारत लौटे तो राहुल जी इन्हें साथ लेकर जापान चले गये। पूरब के अनेक बौद्ध देशों में घूमकर दोनों विद्वानों ने अपना ज्ञान बढ़ाया। इस यात्रा में काश्यपजी ने चीनी भाषा सीख ली और दीघनिकाय का अनुवाद कार्य पूरा कर लिया। इसके साथ-साथ बौद्धों के ध्यानयोग जिसे विपस्सना कहते हैं, में काश्यपजी ने निपुणता प्राप्त कर ली। उन पर ज्यादा-से-ज्यादा काम करने का धुन सवार था। जल्दी ही उन्होंने प्रमुख बौद्धग्रंथ मिलिन्दपञ्हों का भी हिंदी में अनुवाद कर दिया।

भारत लौटने पर काश्यपजी ने सारनाथ को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उस समय वहाँ अनेक बौद्ध विद्वान रहते थे। यहीं पर इन्होंने प्रकांड विद्वान धम्मानंद कोसाम्बी से अभिधम्म और विसुद्धिमग्ग जैसे ग्रंथों का अध्ययन किया। उनकी विद्वता की चारों ओर प्रतिष्ठा हो रही थी, किन्तु काश्यपजी को थोथे विद्वान भर बना रहना स्वीकार नहीं था। बौद्धधर्म को लेकर एक सांस्कृतिक आंदोलन की बात उनके मन में थी और वे एक सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में काम करना चाहते थे। उनके मन में यह भी था कि उनके अपने बिहार प्रांत में ही बौद्धधर्म की कोई चर्चा नहीं है। बोधगया का मंदिर भी तब जर्जर हाल था। जनता में बुद्ध का कोई नामलेवा नहीं था। यह सब सोच कर काश्यपजी ने वाराणसी से अपना आसन उठाया और मगध क्षेत्र में आकर जम गये। वे गाँव-गाँव घूमते। मगही भाषा में लोगों को बुद्ध व उनके विचारों के बारे में बतलाते और कोई न कोई केंद्र अथवा कुटी बनाने का जुगाड़ तलाशते। इसी बीच वे नालंदा में जमे। वहाँ नालंदा कॉलेज में पालि के अध्ययन की व्यवस्था की। कोई शिक्षक न मिला तो वे स्वयं शिक्षक बन गये। इसी बीच तत्कालीन शिक्षा सचिव जगदीशचंद्र माथुर से मिलकर उन्हें नालंदा में एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर का पालि अध्ययन संस्थान खोलने के लिए राजी कर लिया। इसके बाद वे स्वयं नालंदा में आकर संभावनाओं की तलाश करने लगे। सैकड़ों लोगों से इन्होंने मुलाकात की। वह भी ऐसे कार्य के लिए जिसे जनता जानती तक नहीं थी कि पालि और त्रिपिटक क्या बला है। इसी क्रम में वे इस्लामपुर के मुस्लिम जमींदार से मिले और कहा कि आपके पूर्वजों ने कभी नालंदा को जलाया था, मैं आपसे उसे फिर से बसाने के लिए दान माँगने आया हूँ। मुस्लिम जमींदार काश्यपजी से बहुत प्रभावित हुए और तुरंत ग्यारह एकड़ जमीन पालि संस्थान के लिए काश्यपजी को दे दिया। इसी जमीन पर 20 नवंबर 1951 को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने नवनालंदा विहार की आधारशिला रखी।

नवनालंदा महाविहार काश्यपजी की देन है। इसे खड़ा कर उन्होंने एक बार फिर बिहार में बौद्धधर्म

के अध्ययन-अध्यापन की शुरुआत कर दी। आज यह संस्थान उनकी कीर्ति के रूप में खड़ा है और बार-बार हमें उस प्राचीन विश्वविश्रुत विश्वविद्यालय की याद दिलाता है।

उस महाविहार की स्थापना के बाद काश्यपजी का ध्यान लुप्त पालि वाड्मय की ओर गया। संपूर्ण पालि वाड्मय कई विदेशी लिपियों में तो था, लेकिन नागरी लिपि में ही नहीं था। पालि टेक्स्ट सोसाइटी लंदन ने सिंहली से रोमन लिपि में पालि वाड्मय का अनुवाद कराया था। इस अनुवाद से नागरी में अनुवाद करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था। जगदीश काश्यप ने इसे पूरा किया। संपूर्ण पालि वाड्मय आज इकतालीस खंडों में नागरी लिपि में उपलब्ध है। राज्य और केन्द्र सरकार से निवेदन कर इसके प्रकाशन की भी व्यवस्था काश्यपजी ने की। यह एक ऐसा कार्य है जिसके लिए उन्हें हमेशा याद किया जायेगा।

काश्यपजी का कुल रचनाकार्य इस प्रकार है-

1. पालि त्रिपिटक-41 भाग
2. पालि महाव्याकरण
3. तर्कशास्त्र (आगमन)
4. तर्कशास्त्र (निगमन)
5. अभिधम्म दर्शन- दो भाग
6. लघु पालि व्याकरण
7. बुद्धिज्म फॉर एवरीबडी
8. बुद्धिस्ट आउटलुक
9. त्रिपिटक शब्दानुक्रमणी (संपादित)

अनूदित ग्रंथ

1. दीघनिकाय (हिंदी अनुवाद)
2. संयुक्त निकाय (हिंदी अनुवाद)
3. मिलिंद प्रश्न (हिंदी अनुवाद)

काश्यपजी का नाम राहुल सांकृत्यायन और भदन्तआनंद कौशल्यायन के साथ आधुनिक भारत में बौद्धधर्म के उन्नायकों में लिया जाता है। तीनों मिलकर एक त्रयी बनते हैं। तीन का बौद्ध धर्म में अपने तरह का महत्त्व है जैसे त्रिशरण। कोई पाठ बिना तितियम्पी यानी तीन बार के पूरा नहीं होता। इन तीनों ने मिलकर महान बौद्धभिक्षु धम्मपाल अनागरिका के मिशन को पूरा किया। आज फिर देश और बिहार प्रदेश में बौद्धधर्म की चर्चा है। इस चर्चा के बीच भिक्षु जगदीश काश्यपजी का स्मरण तालाब के जलतरंगों के बीच शुभ्रकमल की तरह खिलता प्रतीत होता है। आने वाले समय में जब बिहार और प्रबुद्ध होगा तब काश्यपजी के महत्त्व को हम और गंभीरता से समझ सकेंगे।

काश्यपजी का निधन 28 जनवरी 1973 को राजगृह में हुआ। नालंदा में उनकी अंत्येष्टि हुई। नवनालंदा महाविहार के प्रांगण में उनकी स्फटिक प्रतिमा लगी है। कभी मगध के ही एक भिक्षु शीलभद्र ने नालंदा की कीर्ति में चार चाँद लगाया था। मगध के इस आधुनिक भिक्षु ने भिक्षु महाकाश्यप और भिक्षु शीलभद्र की परंपरा को इस जमाने तक खींच लाया।

राष्ट्रकवि दिनकर

–श्रीनारायण समीर

राष्ट्रकवि दिनकर ओज, शौर्य और पौरुष के अप्रतिम कवि थे। वे आधुनिक भारत की आशा और आकांक्षा के प्रतिनिधि कवि थे। वे प्रांजल गद्यकार, सुधि आलोचक और निपुण वक्ता होने के साथ-साथ इतिहास और संस्कृति के भी भावप्रवण व्याख्याता थे।

दिनकर का पूरा नाम रामधारी सिंह 'दिनकर' था। उनका जन्म 1908 ई० में बिहार में तत्कालीन मुंगेर, अब बेगूसराय, जिले के सिमरिया गाँव में हुआ था। हाई स्कूल की पढ़ाई उन्होंने मारवाड़ी उच्च विद्यालय, मोकामा में की थी। वे पटना विश्वविद्यालय से इतिहास में स्नातक थे। घर की जिम्मेदारियों के चलते उन्हें गुलाम भारत में कुछ समय के लिए अँग्रेजों की नौकरी करनी पड़ी। तब वे सीतामढ़ी में सब-रजिस्ट्रार नियुक्त हुए थे। पर अँग्रेजी राज के खिलाफ उनके बगावती तेवर में कोई कमी नहीं थी। उन्हीं दिनों उन्होंने अपनी प्रखर राष्ट्रीय कविताओं के सुविधाजनक प्रकाशन के लिए अपना छद्‌मनाम 'दिनकर' रखा, जो आगे चलकर उनका और उनकी कविताओं का पर्याय बना।

दिनकर इतिहास के अध्येता होने के साथ-साथ साहित्य और संस्कृति के भी उद्‌भट विद्वान थे। वे बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर में हिंदी विभाग के संस्थापक प्रोफेसर और अध्यक्ष थे। वे भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति भी बनाए गए थे। उन्होंने लंबे समय तक राज्यसभा के सदस्य पद को भी सुशोभित किया था। दिनकर शासक वर्ग से संबद्ध रहते हुए भी उसकी रीति-नीति के मुखर विरोधी थे। उनकी कविता सत्ता से सहकार नहीं, बल्कि विरोध और विद्रोह की कविता है। और यही उनकी लोकप्रियता का मूल कारण है। बिहार के ऐतिहासिक छात्र आंदोलन की आहट वे काफी पहले से सुनने लगे थे। अकारण नहीं 24 अप्रैल, 1974 को उन्होंने तिरुपति मंदिर में बालाजी से अपनी शेष उम्र जयप्रकाश नारायण को देने की प्रार्थना की थी। तत्क्षण मंदिर में ही उन्हें हृदयाघात हुआ और वे चल बसे।

दिनकर की प्राय: पचास कृतियाँ प्रकाशित हैं। रेणुका, हुँकार, रसवंती, द्वंद्वगीत, सामधेनी, बापू, इतिहास के आँसू, धूप और धुआँ, दिल्ली, नीम के पत्ते, नीलकुसुम, चक्रवाल, सीपी और शंख, नये सुभाषित, परशुराम की प्रतीक्षा, कोयला और कवित्व प्रणभंग आदि उनके प्रमुख कविता संग्रह हैं। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' दिनकर के अत्यंत प्रसिद्ध खंड काव्य हैं। उनकी 'उर्वशी' ओज मिश्रित श्रृंगार की अन्यतम काव्यकृति है, जिसपर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। 'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर की विराट चेतना और सभ्यता समीक्षा का प्रतिमान ग्रंथ है। इसपर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। दिनकर, उन्हीं के शब्दों में 'छायावाद की ठीक पीठ पर आए' कवि थे। देश में महात्मा गाँधी का पदार्पण हो चुका था और वे अपने नए प्रयोगों से भारतीय राजनीति की दिशा निर्धारित करने लगे थे। 'वर्तमान के वैताली'

दिनकर ने इसे लक्षित किया। फलस्वरूप उन्होंने छायावाद के निर्विकार स्वप्न और लाक्षणिक शैली से ऊबे माहौल में अपनी सहज, स्पष्ट और प्रवाहपूर्ण ओजस्वी कविताओं से नव संचार किया। दिनकर ने अपनी कविता के जाग्रत राष्ट्रबोध से काव्याकाश में छाए कुहासे को काटने का ऐतिहासिक कार्य किया। उन्होंने कविता को यथार्थ के ठीक सामने खड़ा किया और उसमें जीवन का राग जगाया। लोक ने भी इसे समझा और सराहा और उन्हें राष्ट्रकवि से विभूषित किया।

तुलसीदास के बाद दिनकर ही ऐसे कवि हैं, जिनकी कविता भारत के विराट जनगण का कंठहार बनी। वे भारत और भारतीय जनमन के कवि हैं। जनगण का सुख-दुख, जय-पराजय, श्रम और संघर्ष तथा गुस्सा और आक्रोश दिनकर की कविताओं में पूरी व्यापकता से ध्वनित हुआ है। उनकी प्रसिद्ध कविता विपथगा की पंक्तियाँ हैं-

''श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेंच जब ब्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते है,
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमंत्रण।''

दिनकर समझौताहीन संघर्ष के स्वप्निल कवि थे। उनकी कविता व्यवस्था से समझौता करना नहीं सिखाती, बल्कि विद्रोह का भाव जगाती है। दिनकर की राष्ट्रीयता रूमानी होते हुए भी पूरी तरह अहिंसावादी नहीं थी। दूसरे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त से इसी धरातल पर वे भिन्न थे। लोगों में दिनकर की कविता के प्रति दीवानगी का सबसे बड़ा कारण यही है। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने लोक और समुदाय की अपराजेयता में अपनी आस्था यूँ व्यक्त की है-

"कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है,
पाशविकता खड्ग जो लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।
योगियों की शक्ति से संसार में
हारता लेकिन नहीं समुदाय है।"

दिनकर की कविता इतिहास की अविराम यात्रा है। यह यात्रा पराधीन भारत में स्वाधीनता का बोध जगाने के उद्देश्य से प्रेरित यात्रा है। इस यात्रा में कवि दलित और उपेक्षित शक्तियों के पराक्रम से अभिभूत है। वह अतिरिक्त प्रकार से उनका समादर और सम्मान करता है। भारत के विराट जनगण की एकता और अभिन्नता के लिए कवि इसे जरूरी मानता है। 'रश्मिरथी' दिनकर के इस महत्त प्रयास का अविस्मरणीय काव्य है।

दिनकर जागरण और समग्रता में वर्ग-जागरण के कवि थे। अवज्ञा करने की स्वतंत्रता से उद्‌भूत उनकी कविता सत्ता को ललकारने में कभी पीछे नहीं रही। उन्होंने क्या खूब लिखा है-

''फावड़े और हल राजदंड बनने को हैं,
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है,
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।''

यही कविता इमरजेंसी के दौरान निरंकुश सत्ता को चुनौती देने में भारतीय जनगण का नारा बनी थी। इमरजेंसी का इतिहास जब कभी लिखा जाएगा, इस कविता को नजरअंदाज करना असंभव होगा। वैसे कविता का नारा बनाना कोई अच्छी बात नहीं होती। पर नारा जब कविता में गूंजने लगता है तो बड़ी बात जरूर होती है। दिनकर इतने समर्थ कवि थे कि नारा उनकी कविता में आश्रय पाता था।

दिनकर 'काल के चारण' थे। उनकी काव्य-भूमि व्यापक और विस्तीर्ण थी। आम तौर पर कवि, सर्जक अपनी रचना के प्रति मोहासक्त होते हैं। दिनकर ऐसा नहीं थे। उनका आलोचक मन अपनी

कविता को भी काफी तटस्थ भाव से देखता था। यही कारण है कि उन्होंने एक ही रंग की कविता नहीं लिखी, वरन् नाना प्रकार के प्रयोग किए। उनका 'उर्वशी' काव्य उनके प्रयोगी और सौंदर्यप्रेमी मन का अन्यतम उदाहरण है। इसमें जीवन की उदात्त आकांक्षा और ओजमय शृंगार का दुर्लभ निदर्शन मिलता है।

भूलना नहीं चाहिए कि छायावादोत्तर काव्य में निराला और दिनकर ही दो ऐसे कवि मिलते हैं, जिनमें अंतर्विरोधों के बावजूद पर्याप्त जन चेतना है। निराला का कहीं-कहीं आध्यात्मिक दिखाई पड़ना जिस प्रकार से उनकी रचनाओं की जनसंबद्धता की तौहीन नहीं है, उसी प्रकार से दिनकर का शृंगारिक काव्य उनकी जनपक्षधरता पर दाग नहीं है। रश्मिरथी खंड काव्य के साथ-साथ उनकी विपथगा, कविता की पुकार, दिल्ली और मास्को, बापू, नेता, जनतंत्र का जन्म, भारत का रेशमी नगर, शबनम की जंजीर, मध्यवर्ग आदि कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

दिनकर का राष्ट्रप्रेम केवल भारत भूमि के प्रति प्रेम नहीं है। भारत के उज्ज्वल इतिहास के प्रति भी नहीं है। भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा के प्रति भी नहीं है। किसी विरासत के प्रति भी नहीं है। किसी आशा और उत्साह से उद्वेलित भी नहीं है। संभावनाओं की डोर में बँधा प्रेम भी नहीं है। उनका राष्ट्रप्रेम भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विडंबनाओं का प्रतिकार करते हुए किसानों और मजदूरों के जीवन में खुशहाली का साकांक्षा प्रेम है। उन्होंने 1954 ई० में ही लिखा था-

''गंदगी, गरीबी, मैलेपन को दूर रखो
शुद्धोदन के पहरेवाले चिल्लाते हैं,
है कपिलवस्तु पर फूलों का शृंगार पड़ा
रथ समारूढ़ सिद्धार्थ घूमने जाते हैं,
सिद्धार्थ देख रम्यता रोज ही फिर आते
मन में कुत्सा का भाव नहीं, पर जगता है,
समझाये उनको कौन नहीं भारत वैसा
दिल्ली के दर्पण में जैसा वह दिखता है।''

दिनकर ने कुछ बहुत ही अच्छी कविताएँ अपने व्यक्तिगत जीवन के संबंध में लिखी हैं। इनमें हिंदी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति अनुपम रूप में व्यक्त हुई है। इनमें करुणा का संस्पर्श और व्यंग्य का संयोग अद्भुत है। ऐसी कविताओं की भाषा आमफहम और बोलचाल की है। बोलचाल में कितनी कविता संभव है, यह दिनकर की खुद पर लिखी कविताओं को पढ़ने से ही पता चलता है।

दिनकर अत्यंत प्रांजल गद्यकार भी थे। उनकी कविता का ओज उनके गद्य में भी मुखर हुआ है। वे महाकवि जयशंकर प्रसाद और महाप्राण निराला की परंपरा के आलोचक भी थे। रीतिकाल के परवर्ती कवियों, विशेषकर घनानंद तथा प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त पर उनके लेख गद्य साहित्य की मूल्यवान उपलब्धि हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है, "यदि वे (दिनकर) कवि न होते तो आलोचक रूप में अधिक प्रसिद्धि पाते।"

दिनकर ने कुछ बेहद जानदार संस्मरण भी लिखे हैं। वे वाक कला में भी निपुण और निष्णात थे। कहते हैं कि वे जनसमूह को अपने ज्ञान, तर्क, विश्लेषण शैली और मेघ-मंद्र-स्वर से मंत्र-मुग्ध कर देते थे।

कहना न होगा कि दिनकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्रत्येक बड़े साहित्यकार की तरह दिनकर के कृतित्व के भी अनेक पक्ष हैं। वे जितने बड़े सर्जक थे, उतने ही बड़े इंसान थे। अपने समकालीन रचनाकारों और हितैषियों को लिखे गए उनके पत्र उनकी इंसानियत और बड़प्पन के सबूत हैं।

प्रतिभा के इस वरद्पुत्र पर बिहार को हमेशा नाज रहेगा।

कर्पूरी ठाकुर

-मिथिलेश कुमार

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन्स ने सिद्धाँत दिया कि ''संसार का हर जीव अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए संघर्ष करता है और संघर्ष कर ही अपने वजूद को कायम रख पाने में सफल हो पाता है।'' ठीक इसी प्रकार अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते, दम तोड़ते, आदमी की आँखों से फूटती चिंगारी एवं कसी हुई मुट्ठियों की निकली आखिरी आवाज के रूप में कर्पूरी ठाकुर को लोग जानते हैं। जिन्होंने न केवल समाज के दबे-कुचले लोगों में जीने का नया उत्साह पैदा किया, बल्कि गरीबी, लाचारी और सामाजिक ताना-बाना को किनारे कर पिछड़ों को समाज की मुख्य धारा में शामिल होने को प्रेरित किया। समस्तीपुर जिले के पितौंझिया जो कि अब 'कर्पूरी ग्राम' के नाम से जाना जाता है में 24 जनवरी 1921 ई० को पैदा हुए कर्पूरी ठाकुर ने फटेहाली के बीच ही स्नातक की शिक्षा प्राप्त की और इसी बीच आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। दिनेश कुमार नारायण ने कर्पूरीजी की जीवनी लिखते हुए उल्लेख किया - ''गरीब परिवार में जन्म लेने के कारण न तो इनका जन्मोत्सव हुआ और न ही जन्मकुंडली बनी। अत: इनकी निश्चित जन्म-तिथि किसी को मालूम नहीं है। किन्तु विद्यालय में नामांकन होते समय जो जन्मतिथि अंकित की गई थी उसमें 24 जनवरी 1924 ई० है। कर्पूरीजी 1920 ई० बतलाते हैं, पर महीना, दिन और तिथि न तो उन्हें मालूम है और न उनके पिता को।''

ठाकुरजी का बाल्यकाल अन्य गरीब परिवार के बच्चों की तरह बीता। अधिक समय खेल-कूद तथा गाय और पशुओं के चराने में बीता। कर्पूरीजी को दौड़ने और तैरने का शौक था। सयाने होने पर दो-तीन मीलों तक तो आसानी से दौड़ लेते थे। जब छ: वर्षों के हुए तभी उन्हें गाँव की पाठशाला में दाखिल कराया गया। इससे पता चलता है कि इनके माता-पिता शिक्षा का महत्त्व समझते थे। नहीं तो उस जमाने में अपने अन्य अनेक ग्रामीण गरीब परिवार की तरह इन्हें भी घरेलू काम में लगा दिया जा सकता था। फिर भी, कुछ ग्रामीण रोजगार में इन्हें परिवार का हाथ बँटाना पड़ता था।

महात्मा गाँधी ने जब असहयोग आन्दोलन छेड़ा, तो कर्परी ठाकुर इस आन्दोलन के साथ हो लिए इस कारण उन्हें 26 महीनों तक जेल की सजा काटनी पड़ी। कहा जाता है कि कर्पूरी ठाकुर ने अपनी राजनीतिक जीवन की शुरुआत काँग्रेस पार्टी से की थी। बाद में वे प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य बन गए। यहाँ से इनकी आरंभ हुई राजनीतिक यात्रा विधान सभा, लोक सभा तथा विरोधी दल के नेता, उपमुख्यमंत्री और मुख्यमंत्री की कुर्सी तक गई। 1952 ई० के पहले आम चुनाव से लेकर 1988 ई० तक आजीवन किसी-न-किसी सदन के सदस्य रहे। आजीवन जनप्रतिनिधि रहने के कारण कर्पूरी ठाकुर को 'जननायक' कहा जाने लगा । 1952 ई० में समस्तीपुर के ताजपुर विधान सभा क्षेत्र से विधायक के रूप में पहली बार निर्वाचित हुए कर्पूरी ठाकुर की प्रारंभिक शिक्षा ताजपुर के ही प्राथमिक विद्यालय और माध्यमिक शिक्षा तिरहुत एकेडमी में संपन्न हुई। माध्यमिक शिक्षा के बाद उन्होंने दरभंगा के चन्द्रधारी मिथिला महाविद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए नामांकन लिया था। बाद में उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से आई० ए० की परीक्षा पास की। 1942 ई० में वे जब स्नातक के छात्र थे तभी गाँधीजी की राह पर निकल पड़े। 26 माह जेल की यात्रा करने के बाद भी आजादी की लड़ाई में उनकी सक्रियता बढ़ती गयी। देश आजाद होने के बाद कर्पूरी ठाकुर ने 1948 ई० से 1952 ई० तक दरभंगा जिला काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी एवं जिला किसान सभा के संदर्भ मंत्री तथा महामंत्री के पद को भी सुशोभित किया। 1952 ई० के बाद कर्पूरीजी 1957 ई० और 1962 ई० में प्रजा समाजवादी पार्टी के

उम्मीदवार के रूप में ताजपुर विधान सभा क्षेत्र का प्रतिनिधित्व किया। 1969 ई० और 1972 ई० के विधान सभा चुनाव में उन्होंने संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार के रूप में चुनाव जीती। 1977 ई० के आम चुनाव में जनता पार्टी के उम्मीदवार के रूप में वे समस्तीपुर लोक सभा सीट से चुनाव जीतकर संसद पहुँचे। दो वर्षों बाद जब 1980 ई० में देश को मध्यावधि चुनाव कराना पड़ा, तो कर्पूरी ठाकुर 1980 ई० से समस्तीपुर विधान सभा क्षेत्र से चुनाव जीतकर विधान सभा पहुँचे। 1985 ई० में उन्होंने सोनबरसा विधान सभा क्षेत्र का प्रतिनिधित्व किया। 1967 में पहली बार जब गैर-काँग्रेसी सरकार बनी और 05 मार्च 1967 ई० को गैर-काँग्रेसी दलों के गठबंधन में संयुक्त मोर्चे के मुख्यमंत्री के रूप में महामाया प्रसाद सिन्हा ने मुख्यमंत्री के पद की शपथ ली, तो कर्पूरी ठाकुर उप-मुख्यमंत्री बनाये गये। इस दौरान उप-मुख्यमंत्री द्वारा उनके लिये गये निर्णयों से आम लोगों को काफी राहत मिली। 22 दिसंबर 1970 ई० को कर्पूरी ठाकुर ने पहली बार बिहार के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ली। वे 2 जून 1971 तक मुख्य मंत्री रहे। बाद में कई सरकारें बनीं और गिरीं. अब दिन लोकनायक जयप्रकाश नारायण के छात्र आन्दोलन के आ गये थे। कर्पूरी ठाकुर ने भी इस आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसी परिप्रेक्ष्य में जब 1977 में सातवीं विधान सभा के लिए चुनाव हुआ, 24 जून 1977 ई० को बिहार विधान सभा का गठन हुआ और कर्पूरी ठाकुर को जनता पार्टी विधायक दल का नेता चुना गया। इसी दिन उन्होंने राज्य के 19वें मुख्य मंत्री के रूप में पदभार ग्रहण किया। इस दौरान कर्पूरीजी 21 अप्रील 1979 ई० तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। मुख्यमंत्री के रूप में उनके द्वारा लिये गये कड़े निर्णय प्रशासनिक हलकों में महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। कर्पूरीजी 29 मार्च 1972 ई० से 1973 ई० तक तथा 30 जून 1980 ई० से 12 फरवरी 1988 ई० तक लगातार बिहार विधान सभा में विरोधी दल के नेता के पद को सुशोभित किया। जीवन के अंतिम क्षणों तक वे विरोधी दल के नेता बने रहे। 17 फरवरी 1988 की सुबह करीब सवा नौ बजे कर्पूरी ठाकुर का असामयिक निधन हो गया।

अपने राजनीतिक और सामाजिक जीवन में कर्पूरी ठाकुर सादगी के प्रतीक बने रहे। समाज के दबे-कुचलों को जहाँ उन्होंने लामबंद किया वहीं अपने परिजनों तक को राजनीति में लाने से परहेज करते रहे। मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने जब अपनी पुत्री की शादी तय की तो विवाह संपन्न उन्होंने अपने पैतृक गाँव पितौंझिया में ही किया। इस दौरान उन्होंनें एक भी अधिकारी और नेताओं को निमंत्रित नहीं किया था। आज भी एक मुख्यमंत्री की बेटी की शादी चर्चित है, वर्तमान में उनके पुत्र श्री रामनाथ ठाकुर राजनीति में सक्रिय हैं तथा संप्रति बिहार सरकार में भूमि-सुधार और राजस्व मंत्री हैं।

जनकवि नागार्जुन

–श्रीनारायण समीर

हिंदी के आदिकवि सरहपा (सरहपाद) की क्रांतिकारी परंपरा के उन्नायक और उत्तराधिकारी नागार्जुन आधुनिक हिंदी और मैथिली के विलक्षण कवि हैं। विराट जनगण के प्रति अपनी विरल आबद्धता, संबद्धता तथा प्रतिबद्धता के चलते पूरे भारत में बाबा के नाम से समादृत नागार्जुन अप्रतिम जनकवि, आपादमस्तक प्रगतिशील, अदम्य साहस के प्रतिमान, अटूट संबंधों के जादूगर, अथक यात्री आदि के अद्‌भुत समाहार हैं।

नागार्जुन का मूलनाम वैद्यमान मिश्र था और मैथिली में वे 'यात्री' नाम से लिखते थे। उनका जन्म 1911 ई० में ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा के दिन सतलखा गाँव (ननिहाल), वर्तमान जिला मधुबनी में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री गोकुल मिश्र था और माँ का नाम श्रीमती उमा देवी। उनकी पत्नी का नाम अपराजिता देवी था। उनके पैतृक गाँव तरौनी (जिला दरभंगा) में उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। काशी और कलकत्ता में संस्कृत में क्रमश: शास्त्री और काव्यतीर्थ की उपाधि प्राप्त करने के बाद नागार्जुन पंजाब, राजस्थान, हिमाचल, गुजरात आदि की यायावरी करते-करते 1936 ई० में सिंहल द्वीप (कोलंबो, श्रीलंका) जा पहुंचे। सिंहल में विद्यालंकार परिवेश में उन्होंने बौद्धधर्म की दीक्षा ली और नागार्जुन नाम ग्रहण किया।

पाली, प्राकृत, संस्कृत, मैथिली, बंगला, हिंदी और गुजराती भाषाओं के गहरे ज्ञाता नागार्जुन ने अपने लेखन के आरंभिक दिनों में ढक्कन, मिसिर, बैद्यनाथ, वैदेह, यात्री आदि कई नामों से लिखा। इन नामों की तरह ही उनकी शख्सियत के कई पहलू थे। वे आम आदमी के सच्चे हमदम और हमसफर थे। फलत: ब्राह्मण समाज में अछूत थे।

1938 ई० में वे स्वामी सहजानंद सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन तथा सुभाषचंद्र बोस के संपर्क में आए। बिहार किसान आंदोलन के नेता स्वामी सहजानंद सरस्वती से प्रेरित होकर उन्होंने 1939 ई० में अमवारी (छपरा) में किसानों के आंदोलन का नेतृत्व किया और जेल गए। 1946 ई० में वे कम्युनिस्ट आंदोलन से जुड़े और दरभंगा जिला किसान सभा के अध्यक्ष बनाए गए। लेकिन कालांतर में 1975 ई० में जब देश में आपातकाल लगाया गया तो वे इसके विरुद्ध जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहे छात्र आंदोलन में कूद पड़े और जेल गए। उन दिनों उनकी 'इंदूजी, इंदूजी, क्या हुआ आपको' शीर्षक कविता की धूम पूरे भारत में व्याप्त थी। इस जनकवि ने 5 नवंबर, 1998 को दरभंगा में लंबी बिमारी के बाद सर्वदा के लिए आँखें मूंद ली।

नागार्जुन को कई पुरस्कार मिले, जिनमें प्रमुख हैं- बिहार सरकार का राजेंद्र शिखर सम्मान, भारत भारती सम्मान एवं मैथिलीशरण गुप्त सम्मान। 1969 ई० में उन्हें मैथिली कृति 'षत्रहीन नग्न गाछ' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। 1994 ई० में साहित्य अकादमी ने उन्हें अपने सर्वोच्च सम्मान 'मानद फेलोशिप' से भी नवाजा था।

नागार्जुन ने अपने समय की धड़कन को कविता के साथ-साथ उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, समीक्षा, संस्मरण आदि सभी विधाओं में उकेरा था। उनके प्रमुख कविता-संग्रह हैं- युगधारा, सतरंगे पंखों वाली, प्यासी पथराई आँखें, तालाब की मछलियाँ, तुमने कहा था, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, हजार-हजार

बाँहों वाली, पुरानी जूतियों का कोरस, ऐसे भी हम क्या, ऐसे भी तुम क्या, ऐसा क्या कह दिया मैंने, इस गुब्बारे की छाया में तथा भस्मांकुर (प्रबंध काव्य)। उनके मैथिली काव्य संग्रह हैं- चित्रा, पत्रहीन नग्न गाछ और पका है कटहल। मैं मिल्ट्री का बूढ़ा घोड़ा (बांग्ला कविता-संग्रह) धर्मालोक शतकम (सिंहली लिपि में) तथा देश दशकम्, कृषक दशकम और श्रमिक दशकम् (संस्कृत कविता) भी उनकी कारयित्री प्रतिभा के अप्रतिम उदाहरण हैं। रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे, दुखमोचन, कुंभीपाक, उग्रतारा, इमरतिया, गरीब दास आदि उपन्यास भी उनके काफी प्रसिद्ध हैं।

जाहिर है कि नागार्जुन बहुआयामी प्रतिभा के पुंज थे। किंतु, कविता उनके लिए सर्वोत्तम साधना थी। जीवन-साधना। जिसमें वे अपने को निरंतर अभिव्यक्त करते रहे। जिसके साथ वे अपने दुर्लभ निर्लिप्तताओं के बावजूद बेहद संलिप्त थे। विलक्षणताओं के अद्‌भुत समाहार जनकवि नागार्जुन के महत्त्वांकन के लिए यहाँ उनकी काव्य यात्रा पर थोड़ी चर्चा जरूरी है।

नागार्जुन का कविकर्म चुनौती का कविकर्म है। बीहड़ में अकेला चलने जैसा दुष्कर और अनंत में लक्ष्य-संधान करने जैसा चुनौतीपूर्ण कविकर्म। उनकी कविता आम आदमी की जिन्दगी को, जिन्दगी की शर्तों को तथा जीवनादर्शों को सुन्दर, सरल और सहज बनाती है। उनकी कविता स्वभाव से जनकविता है और अपने पूरे प्रभाव में जनसामान्य को शक्तिवान बनाती है। निस्संदेह उनकी कविता आम आदमी को जाने-अनजाने हर प्रकार के जनसंघर्षों के योग्य तथा उनमें सफलतापूर्वक विजयी होने का संबल प्रदान करती है। किंतु, उनकी कविता यह काम राजनीति से अलग रहकर नहीं कर पाती। तथापि राजनीति से सम्बद्ध होकर भी कविता कविता बनी रहे- यह कठिन और चुनौतीपूर्ण होता है। कविता की इसी कठिन राह पर चलकर और चुनौती से टकराकर नागार्जुन जनकवि और युगकवि कहलाने के हकदार बने।

नागार्जुन ने लिखा भी है- "जन सामान्य ही हमारी आशाओं का प्राण केन्द्र है।" उनकी दृढ़ आस्था है कि अंततः जीत संघर्षरत जनता की ही होती है। और यही आस्था उनकी 'शासन की बंदूक' शीर्ष कविता में यूँ ढली है-

"जली ठूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक।
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक।।"

नागार्जुन बड़े बेलाग कवि थे। सामाजिक विसंगतियों और अत्याचारों पर वे बड़ी तीखी प्रतिक्रिया करते थे। उन्हीं की पंक्तियाँ हैं:-

''जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ
जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ
जनकवि हूँ मैं क्यों चाटूँ मैं थूक तुम्हारी
श्रमिकों पर क्यों चलने दूँ बंदूक तुम्हारी?''

नागार्जुन में गहन मानवीय संवेदना तथा वस्तुपरक विश्वदृष्टि का अद्‌भुत समायोग मिलता है। यह समायोग निश्चय ही जनता की जमीन और जेहन के स्तर पर कवि के खड़े होने से संभव हुआ है। यही कारण है कि नागार्जुन की कविता जिस जनता को संबोधित और समर्पित है वह मध्यवर्ग से लेकर निम्नवर्ग की निचली कतार तक फैली है। इस कतार में देश का बहुसंख्यक अशिक्षित और दमित-शोषित जन सामान्य भी है और अपेक्षाकृत सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत तबका भी। और यह दिलचस्प तथ्य है कि नागार्जुन की काव्य व्यंजनाओं को लेकर जिन तथाकथित भद्रजनों के साथ प्रेषणीयता की समस्या पैदा

होती है उनकी खबर लेने में वे जरा भी कोताही नहीं करते। 'वे और तुम' शीर्षक कविता में यह 'खबर' इस तरह से ली गई है-

''वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे हैं
तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन?
उनींदी घड़ियों में चुरती है
वे हुलसित हैं
अपनी ही फसलों में डूब गए हैं
तुम हुलसित हो
चितकबरी चाँदनियों में खोए हो
उनको दुख है
नये आम की मंजरियों को पाला मार गया है
तुमको दु:ख है
काव्य-संकलन दीमक चाट गए हैं।''

नागार्जुन की कविता तद्‌भव लोक-जीवन में तत्सम के आधिपत्य के अस्वीकार की कविता है। इसलिए उनकी कविता में भाषिक संरचना का जंजालजाल बुनने का कोई उपक्रम नहीं मिलता। भाषा बिल्कुल सरल, आमफहम और बोलचाल की तथा शिल्प भाषा की ही तरह सहज, आडम्बररहित और प्रवाहपूर्ण। भाषा और शिल्प की यह सहजता नागार्जुन में शुरू से मिलती है और यह 20वीं सदी के पाँचवें तथा छठवें दशक वाली नयी कविता के 'निस्सहाय नकारात्मकता' तथा 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि' वाले दौर में भी तथावत् बनी रही।

सन्नाटा बुनने वालों का प्रतिवाद है नागार्जुन की कविता। समकालीन काव्य परिदृश्य में भी जो लोग सन्नाटा, रिक्तता, संभ्रम या ठहराव देखते हैं, उन्हें नागार्जुन की कविताएँ पढ़नी चाहिए। इन कविताओं में जो अभिव्यक्ति की अभिव्यंजना है, दृष्टि और विचार है, मानवीय अनुराग तथा आत्मीय संवेदना है- वह अप्रतिम और अतुलनीय है। नागार्जुन के ये काव्य वैशिष्ट्य विलक्षण हैं और कवि को अपने समय की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम बनाते हैं। 'अबके इस मौसम में, कोयल आज बोली है पहली बार' तथा 'कर गई चाक, तिमिर का सीना, जोत की फाँक, यह तुम थीं' आदि ऐसी कविताएँ हैं, जिनकी आत्मीयता, संवेदनात्मक बुनावट तथा कलात्मकता की कोई सानी नहीं। भाषिक संरचना तथा विम्ब विधान की दृष्टि से ये कविताएँ जन-सामान्य की जिन्दगी के इतना करीब हैं कि इनकी संवेदना से कोई भी तबका प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक कविता तो इस कोटि की प्रतिनिधि रचना है।

आधुनिक काव्य को प्रयोगवाद तथा अकविता के भँवरजाल से निकालकर उसे जनबद्ध चरित्र प्रदान करने में नागार्जुन के कविकर्म की सहजता तथा सरलता ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अलबत्ता इसके लिए नागार्जुन को निराला की भाँति कीमत भी काफी चुकानी पड़ी। उन्हें शेष दुनिया को भुलाकर जनता के जीवन में रचना-बसना पड़ा। तमाम आकर्षणों, लिप्साओं और आकांक्षाओं से

अपने को परे रखना पड़ा। अपना सर्वस्व होम करना पड़ा और कबीर की तरह अपना ही घर जलाना पड़ा। रचनाशीलता का यह जनबद्ध चरित्र नागार्जुन की विशुद्ध रागात्मक संवेदना की निजी जीवनप्रसंगों वाली कविताओं में भी कम नहीं उभरा है। 'यह दंतुरित मुस्कान', 'गुलाबी चूड़ियाँ', 'प्रत्यावर्तन', 'उन्हें प्रणाम्', 'जया', 'तुम जगीं संसार जाये जाग', 'मनुष्य हूँ', 'आओ प्रिय, आओ', 'बहुत दिनों के बाद', 'तुम किशोर, तुम तरुण' आदि व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को आधार बनाकर लिखी गई उनकी ऐसी अद्‌भुत कविताएँ हैं, जिनकी बराबरी निराला को छोड़कर, पूरे भारतीय वाङ्मय में ढूँढें नहीं मिलती। मानव सम्बन्धों को आधार बनाकर रची गईं ये कविताएँ इतनी सरल, अनुभूतिप्रवण एवं मर्मस्पर्शी हैं कि रोजमर्रा की जरूरतों को पाटनेवाली मशीन बनी हमारी संवेदनाविहीन जिन्दगी की टेक बन सकती हैं। इन कविताओं में रागात्मक संवेदना व्यापक, मानवीय तथा सामाजिक सरोकारों के तहत बड़े विस्तार एवं गहराई के साथ चित्रित है और इनकी आत्मीयता में अंचल विशेष के संस्कार ही नहीं, समूचा देश, देश की धरती तथा धरती पर रहने वाला मनुष्य- सब कुछ सिमट आया है। 'सिंदुर तिलकिल भाल' तथा 'यह तुम थीं' शीर्षक कविताएँ इस शृंखला की अप्रतिम रचनाएँ हैं। ये विशुद्ध प्रेम और दाम्पत्य-प्रेम की कविताएँ हैं। यह दाम्पत्य-प्रेम भी परिणय सूत्र में सद्यः बँधे जवान जोड़ों का नहीं, बल्कि वृद्धावस्था का घनीभूत और सहज रूप से प्रगाढ़ हुआ दाम्पत्य प्रेम है। इनमें बड़े सार्थक बिम्बों के माध्यम से जीवन के अवसानावस्था में पहुँचे दंपति के राग-अनुराग को संजीवनी शक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। आचार्च रामचन्द्र शुक्ल ने भी दाम्पत्य प्रेम को परंपरा के अनुरूप सबसे ऊँचा माना है, जो उम्र में साथ प्रगाढ़ और घनीभूत होता जाता है। उनके अनुसार प्रेम साहचर्य का प्रतिफल होता है और यह साहचर्य जितना लम्बा होगा, प्रेम वैसा ही परिपुष्ट और प्रगाढ़ होगा।

नागार्जुन मूलतः पूरी भारतीयता के कवि हैं। देश, जन, जन को धारण करने वाली धरती और धरती की प्राकृतिक सुषमा पर भी उन्होंने ढेर सारी कविताएँ लिखीं हैं। वे इन सबकी खूबियों पर अगर आहलादित हुए हैं तो इनकी विकृतियों पर असंतुष्ट भी। 'धरती', तुम रह जाते दस साल और', 'अच्छा किया उठ गए हो दुष्ट', 'चंदू, मैंने सपना देखा', 'कब होगी इनकी दीवाली?', 'वसंत की अगवानी', 'फिसल रही चाँदनी', '26 जनवरी, 15 अगस्त', 'हरिजनगाथा' आदि कविताएँ इसका प्रमाण हैं। ये कविताएँ आज के भारत की सच्ची तस्वीर हैं और इनसे मुक्तिकामी जनता के अभियान में आनेवाले भ्रमों के जाल में न फँसने का संदेश भी मिलता है। इन कविताओं में कवि की प्रतिबद्धता ही नहीं उजागर हुई है, वरन पक्षधरता भी स्पष्ट हुई है। उन्होंने खुद लिखा भी है-

यही धुआँ मैं ढूँढ़ रहा था
यही आग मैं खोज रहा था
यही गंध थी मुझे चाहिए।
बारुदी छर्रे की खुशबू।

बारूदी छर्रे की कोई खुशबू नहीं होती, नाकफाड़ू गंध होती है। फिर भी कवि को यदि इसमें खुशबू मिलती है तो जाहिर है कि उसकी पक्षधरता वर्गों में बँटे इस समाज में उनके प्रति है जो शोषित हैं, दमित और पीड़ित हैं। और इनकी मुक्ति के लिए कवि अंततः जन मिलीशिया में शिरकत करने से परहेज भी नहीं करता। नागार्जुन लिखते हैं-

''मुन्ना, मुझको
पटना-दिल्ली मत जाने दो
भूमिपुत्र के संग्रामी तेवर लिखने दो
पुलिस दमन का स्वाद मुझे भी तो चखने दो

मुन्ना, मुझे पास आने दो।
पटना-दिल्ली मत जाने दो।''

यह कविता हिन्दी साहित्य की जीवंत परंपरा में विकसित तथा संघर्षरत जनसामान्य के साहसी अभियान की कविता है। वस्तु तथा शिल्प के मामले में यह हिन्दी की ऐसी अछूती कविता है जिसके सांगोपांग विश्लेषण एवं मूल्यांकन के लिए हिन्दी आलोचनाशास्त्र के मान निर्धारित होने अभी बाकी हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना सही है कि एक बड़ा कवि अपने बड़प्पन के अनुपात में ही आलोचना के स्वीकृत मान-मूल्यों के लिए चुनौती होता है। नागार्जुन के संदर्भ में यह चुनौती उनकी काव्य प्रतिभा की दुर्लभ विशेषताओं और विलक्षणताओं के कारण और बड़ी हो जाती है।

काव्य-प्रेरणा के जनजीवन से उद्भूत होने पर जनजीवन की स्थितियाँ और उसके सुख-दु:ख सब कुछ काव्यानुभूति के विषय बनते हैं। तब जो कविता फूटती है, उसका अभिप्राय स्वांत: सुखाय कदापि नहीं होता। विडम्बना है कि ऐसी कविताओं को भी लोग बहुधा टिप्पणी या वक्तव्य करार देते हैं। ऐसे लोग शायद भूल जाते हैं कि राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में ही भिन्न हैं। अन्यथा दोनों का उत्स एक है- समसामयिक यथार्थ, माने जनता का यथार्थ, माने जनता के जीवन का लक्ष्य और संघर्ष। इसमें कोई शक नहीं कि कविता को वक्तव्य बनाना कविता की शर्तों का अतिक्रमण करना है। ऐसी कविता स्थायीभाव की नहीं होती, किन्तु जिस समाज में सलीके से जीना मुहाल हो, जहाँ दमन और उत्पीड़न, शोषण और कमीशन, जाति और धर्म तथा दंगा और दहेज-दहन ही जीवनाचार बन गया हो और सब कुछ ऊपर ही ऊपर पी जाने का रिवाज बन गया हो, वहाँ जीने की न्यूनतम जरूरतों की जद्दोजहद का स्थायीभाव बनना स्वाभाविक है। ऐसे समाज के कवि से क्लासिक अथवा क्लासिक भाव के काव्य की माँग करना उसे समाज विमुख, अप्रासंगिक और वायवीय बनाना है। नागार्जुन इसी जमीन से सशक्त प्रतिरोध के कवि सिद्ध होते हैं। ऐसे कवि, जिसकी कविता अपनी प्रतिबद्धताओं, विश्वासों और मान्यताओं के लिए कभी वक्तव्य बनती है, तो कभी नारा। मगर किसी भी सूरत में व्यर्थ, बकवास नहीं बनती। नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं की यही अर्थवत्ता है और यही है महत्ता। इन कविताओं की सार्थकता देश के राजनीतिक जीवन में आजादी के बाद से अब तक जो कुछ महत्त्वपूर्ण घटा है, उसका पूरा-का-पूरा आकलन प्रस्तुत करने में है। यानी यदि कविता वास्तव में समकालीन जीवन में कोई प्रत्यक्ष भूमिका अदा करती है तो नागार्जुन की तात्कालिकता से प्रेरित राजनीतिक कविताओं ने यह काम पूरी मुस्तैदी से किया है। नागार्जुन ने खुद भी कहा है, "प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है मेरे कवि का।" जाहिर है कि रोज-रोज नाना प्रकार की समस्याओं से जूझती सर्वसाधारण की तबाह जिंदगी को और फटेहाल बनाने की जब कभी और जिस किसी ने भी कोशिश की, जनकवि ने बेधड़क कविता को हथियार बनाया और हमलावर का जमकर प्रतिकार किया। बहुचर्चित कविता "क्या हुआ आपको" इसका अद्भुत साक्ष्य है-

''क्या हुआ आपको?
क्या हुआ आपको?
सत्ता की मस्ती में भूल गयीं बाप को!
इंदुजी, इंदुजी, क्या हुआ आपको?
बेटे को तार दिया बोर दिया बाप को!''

जनबोध और जनअवस्था की जैसी विविधता नागार्जुन के यहाँ मिली है, अन्यत्र दुर्लभ है। उनके यहाँ यथार्थ के अनेक आयाम मिलते हैं। कभी वे कर्फ्यू के आतंक को देखते हैं, कभी बोतल के टुकड़ों पर उछल रही चाँदनी को, कभी सुदूर नवादा स्टेशन पर होनेवाले रक्तपात को, कभी हरिजन दहन को,

कभी भोजपुर की मिट्टी में घुली-मिली बारूदी छर्रे की खुशबू को, तो कभी बस ड्राइवर की स्टीयरिंग पर टँगी उन चूड़ियों को जिन्हें उसकी नन्हीं बिटिया ने टाँग दिया था। उनकी आपातकालीन कविताओं में अक्सर आए पशुओं के बिम्ब एवं प्रतीक भी अकारण नहीं हैं।

जनसाधारण के खिलाफ रचे जाने वाले तमाम कुचक्रों का पूरी तत्परता से पर्दाफाश करने वाले तथा व्यवस्था के मनुष्य विरोधी गठजोड़ों का जिम्मेदारी के साथ भंडाफोड़ करने वाले जनकवि नागार्जुन की 'प्रेत का बयान', 'तालाब की मछलियाँ', 'वे और तुम', 'घिन तो नहीं आतीं', 'आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी', 'तीनों बंदर बापू के', 'शासन की बंदूक', 'बाघिन', 'पैने दाँतों वाली', 'तुम रह जाते दस साल और', 'खड़ाऊँ थी गद्दी पर' जैसी व्यंग्य कविताएँ निश्चय ही हिन्दी कविता की महान उपलब्धि हैं। ऐसी उपलब्धि जिनके आधार पर स्वाधीन भारत का इतिहास लिखा जा सकता है। इस लिहाज से नागार्जुन ने कबीर की परम्परा को समृद्ध तो किया ही है, एक नई परम्परा का निर्माण भी किया है। नागार्जुन इसी अर्थ में हिन्दी के अपांक्तेय कवि हैं। ऐसे विलक्षण और जन-जन के प्रिय कवि बाबा नागार्जुन पर बिहार को सर्वदा गर्व रहेगा।

पद्मश्री कलावती देवी

-रंजन

अररिया जिले के रानीगंज में एक महिला रहती थी। वह सूड़ी जाति की एक गरीब विधवा थी एवं अनपढ़ थी। खुद धान से चावल तैयार करती थी। चूड़ा-मूढ़ी बनाती थी तथा उसे बाजार लेकर जाकर बेचती थी। वह अकेली होकर भी इज्जत से जीना चाहती थी। उसने बहुत दुख झेला। परेशानियों का सामना किया। तब जाना कि पैसा से सिर्फ पेट भर सकता है। इज्जत की जिंदगी के लिए पैसे से ज्यादा जरूरी शिक्षा है। चाहने पर भी उसे खुद पढ़ने की फुर्सत नहीं मिली। तब उसने एक अनोखा फैसला किया। एक बेमिसाल काम कर दिखाने का फैसला। उसने बेमिसाल काम करके दिखा भी दिया। ऐसा काम, जिसे हर किसी ने सराहा। उसको तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने बुलाया। राष्ट्रपति ने पदमश्री से सम्मानित किया। जानते हैं वह महिला कौन थी? वह महान महिला थीं-कलावती देवी।

पद्मश्री कलावती देवी का जन्म अररिया जिला के रानीगंज में 1922 ई० में हुआ था। जन्म के बाद उनका प्रारंभिक शिक्षा से कोई वास्ता नहीं रहा। स्कूली शिक्षा से वास्ता नहीं रहने के बावजूद कलावती देवी को एक स्कूल खोलने का सपना था। सामाजिक सरोकार महसूस करने के बाद उसने जाना कि जीवन जीने के लिए शिक्षित होना निहायत जरूरी है। खासकर लडकियों को शिक्षित करने की दिशा में कलावती देवी ने विशेप रूचि ली।

कलावती देवी का एक सपना था। वह चाहती थी कि लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था हो। लड़कियाँ उनकी तरह अनपढ़ न रहें। उनकी दो बेटियाँ थीं। उनको केवल अपनी लड़कियों की चिंता नहीं थी। सारे समाज की चिंता थी। उन दिनों महिलाओं में शिक्षा का घोर अभाव था। उन्होंने उस वक्त ठान लिया कि मैं स्कूल जरूर बनवाऊँगी। कलावती देवी ने चूड़ा-मूढ़ी बेचकर थोड़ा-थोड़ा पैसा बचाया। 1968 ई० में रानीगंज में एक बालिका मध्य विद्यालय बनवाया। इसके बाद कलावती देवी गाँव-गाँव घूमीं। महिलाओं को शिक्षित बनाने के लिए लोगों को जागरूक किया। लड़कियों को स्कूल भेजने के लिए तैयार किया। कलावती देवी ने गाँवों के लोगों को समझाया कि इज्जत के साथ जीने के लिए बेटियों को पढ़ाना जरूरी है। उनको स्कूल भेजिए। कलावती देवी की मेहनत रंग लायी। गाँव की लड़कियाँ स्कूल आने लगीं। धीरे-धीरे लड़कियों की शिक्षा के लिए उच्च विद्यालय भी बन गया। मैट्रिक तक पढाई होने गयी। आज यहाँ कॉलेज बन चुका है। यह कमाल किया अनपढ़ गरीब कलावती ने। स्कूल खोलने के बाद लड़कियों को रहने के लिए कलावती देवी के दिमाग में हॉस्टल बनाने का ख्याल आया। एक समय की बात है। कलावती लड़कियों के लिए हॉस्टल बनाना चाहती थीं। उसने एक बगीचा खारीदा। बगीचा देखाने के बाद उसने सोचा कि यह जगह ठीक रहेगी। लेकिन बगीचा के मालिक ने कलावती देवी को बताया कि बगीचा में भूत रहता है। जमीन मालिक ने मना करते हुए कहा कि यहाँ हॉस्टल मत बनवाओ। कलावती देवी का हौसला बुलंद था। उसने कहा कि मैं भूत-प्रेत में विश्वास नहीं रखाती। कलावती देवी बहुत बहादुर महिला थीं। वह रातभर अकेली उसी बगीचे में सोई। कोई भूत नहीं आया। रातभर रहने के बाद उसने जाना कि यहाँ कोई भूत नहीं है, बल्कि यह ग्रामीणों का अंधविश्वास है। आखिरकार कलावती देवी के अथक प्रयास के बाद बगीचा में ही लड़कियों के हॉस्टल बना। आज भी लड़कियाँ उसमें रहती हैं, पढ़ती-लिखाती है और अपना जीवन संवारती हैं।

कलावती देवी अपने काम से मशहूर हुई। 3 अप्रैल, 1976 ई० को उन्हें पदमश्री का सम्मान मिला। राष्ट्रपति फखरूद्दीन अली अहमद ने अपने हाथों से यह पुरस्कार दिया। श्रीमती इंदिरा गाँधी तब प्रधानमंत्री थीं। उन्होंने भी कलावती देवी को बुलाकर भेंट की। उनका हौसला बढ़ाया। उसके दो साल बाद कलावती देवी की मुलाकात 1978 ई० में मदर टेरेसा से हुई। पद्मश्री मिलने के बाद 54 वर्प की उम्र में कलावती देवी साक्षर हुई। कलावती देवी का निधन 23 नवंबर, 1988 ई० को हुआ। अपने कामों के कारण वे अमर हो गयीं। जब भी हमारे देश में महिला शिक्षा की बात चलेगी, लोग उन्हें अवश्य याद करेंगे।

बिस्मिल्ला खाँ

-सुबोध कुमार नंदन

संगीत जगत में भारत रत्न उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ एक ऐसे विश्व विख्यात कलाकार थे, जो किसी परिचय, सम्मान या पुरस्कार के मोहताज नहीं। यह हमारे देश के एक सम्मानीय धरोहर रहे। विश्व में शायद ही कोई ऐसा स्थान बचा हो, जहाँ बिस्मिल्ला साहब ने अपनी शहनाई से श्रोताओं का दिल न जीता हो। कोई भी मांगलिक कार्य या संगीत समारोह शहनाई के बिना अधूरा सा लगता था। उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ ने संगीत के कई इतिहास बनाए थे तथा शहनाई के क्षेत्र में कई मानदंड स्थापित किये थे। शहनाई जैसे लोकवाद्य को जो अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली, शहनाई वादकों को जो ऊँचा सम्मान मिला है इसी के फलस्वरूप उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ और शहनाई आज एक-दूसरे का पर्याय बन गये हैं।

भारत रत्न उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ संपूर्ण जीवन शहनाई और भारतीय संगीत को समर्पित था। वे प्रतिदिन सुबह की नमाज अदा करने के बाद बिना जल ग्रहण किये लगभग एक घंटा संगीत की आराधना में डूब जाते थे। उस्ताद धर्मनिष्ठ मुसलमान होने के बावजूद ज्ञान और कला की देवी सरस्वती के उपासक रहे।

पुण्यनगरी और संगीत नगरी वाराणसी स्थित बेनिया बाग मुहल्ले के एक साधारण सी गली में रहने वाले बिस्मिल्ला खाँ की रगों में बनारसी मिजाज खूब गहरायी तक रचा-बसा था। विश्व के लगभग हर बड़े शहरों में शहनाई वादन कर आए, जहां भी गए ठेठ हिन्दुस्तानी कुर्ता-पैजामा, खाना भी अपना (भारतीय व्यंजन) ही खाया और कोशिश की पानी भी अपना ही रहे। आधुनिक दुनिया की चकाचौंध में घूमते-फिरते हुए भी आधुनिकता, विलासिता इनके सोच को लेस मात्र भी प्रभावित नहीं कर सका था। यही कारण था कि इन्हें चालीस साल पहले अमेरिका में बसने का न्यौता मिला था। लेकिन अपने शहर और गंगा मइया न मिल पाने के कारण अमेरिका जैसे समृद्धशाली देश में बसने से इन्होंने इंकार कर दिया था। श्री खाँ हमेशा संगीत साधना में आकंठ डूबे रहकर हर दिन सुरों में कुछ नयापन खोजने में जुटे रहते थे। मलमल का कुर्ता और चौड़ी मोहरी की सफेद गाँधी टोपी, हल्की दाढ़ी और छोटे-छोटे बाल दाहिने कान में सुनहरे तार का छल्ला और चेहरे पर हल्की मुस्कान। यहीं थी उस्ताद साहब के व्यक्तित्व्य की पहचान।

आश्चर्य की बात यह है कि कम ही लोग जानते हैं कि भारत रत्न उस्ताद विस्मिल्ला खाँ की जन्मभूमि बिहार है। भारत के इस सांस्कृतिक दूत का जन्म 21 मार्च 1916 ई० को बिहार राज्य के डुमरांव नगर (बक्सर जिला) के बंधन पट्टवा मुहल्ले में बचई मियाँ (पैगम्बर बक्स खाँ) के आँगन में हुआ था। बिस्मिल्ला खाँ तीन भाइयों (सम्सुद्दीन तथा पंचकौड़ी) तथा दो बहनों (शकीना और मदीना) में सबसे बड़े थे। इनके परदादा हुसैन बक्स खाँ, दादा रसूल बक्स खाँ तथा पिता भोजपुर दरबार के दरबारी कलाकार थे और राजपरिवार के मांगलिक अवसरों एवं उत्सवों पर शहनाई बजाया करते थे। इसके अलावा इनके नाना रजवअली खां तथा परनाना रमजान खाँ ग्वालियर राज्य के दरबारी गायक थे। उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ का असली नाम कमरूद्दीन था। कहा जाता है कि इस बालक के पैदा होते ही अल्लाह को शुक्रिया अदा करते हुए इनके दादा ने सर्वप्रथम बिस्मिल्ला शब्द का उच्चारण किया था और संयोगवश इसी शब्द ने उनके नाम का रूप ले लिया और इनकी ख्याति का कारण बना। बिस्मिल्ला खाँ को बाल्यकाल से ही संगीत में रूचि थी परंतु शहनाई के प्रति इनके मन में विशेष अनुराग था। पाँच वर्ष

की आयु से ही बिस्मिल्ला खाँ ने पढ़ने-लिखने के बदले संगीत की ओर अपना झुकाव प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया था। अपने बड़े-बुजुर्ग के साये में पलते हुए अल्पायु से ही खाँ साहब ने शहनाई की हर फूँक और उसकी गहराई को बड़ी बारीकी से सीखा था। जबकि इनके पिता की हार्दिक इच्छा थी कि उनका पुत्र पढ़-लिखकर सरकारी अधिकारी बने। पर बालक बिस्मिल्ला खाँ की जिद थी कि वह संगीतकार ही बनेंगे। इसके लिए उन्हें काफी प्रताड़ना सहनी पड़ी। लेकिन लाड़ले की जिद के आगे इनके माता-पिता को झुकना पड़ा था।

अपने बचपन को याद करते हुए उन्होंने बताया था कि डुमराँव में बिहारी जी मंदिर के सामने सुबह-शाम आरती के समय वे छुटपन में शहनाई बजाया करते थे। सिंहासन बत्तीसी केवल डुमराँव महाराज के दरबार में ही था। पूजा में मोती चूर का लड्डू चढ़ता था। मंदिर में देवी-देवताओं की 52 मूर्तियाँ थीं जो शुद्ध सोने की थीं। पूजा के बाद प्रसाद के रूप में सवा सेर का एक लड्डू मिलता था जिसे परिवार के सभी सदस्य बाँट कर खाते थे। खूब मजा आता था। उन्होंने गोलियाँ (कंचे) खेलना और शहनाई बजाना लगभग एक साथ सीखा था। पढ़ने-लिखने में उनकी खास दिलचस्पी नहीं थी फिर भी उन्होंने थोड़ी अरबी, उर्दू, फारसी आदि पढ़ी थी। जब उनके साथी-यार किताबों से खेलते थे, तब वे गोलियाँ (कंचे) खेलते रहते थे। एक दिन वे बहुत अधिक बीमार पड़ गए। महीनों दिन बीमार रहे। इससे बड़ी कमजोरी आ गई और दिमाग पर भी उसका असर आ गया। फिर पढ़ना-लिखना छूट गया। उसके बात तो कॉपी-किताब के बदले उन्होंने जो शहनाई पकड़ी, तो आजीवन पकड़े रहे।

बिस्मिल्ला खाँ के मामू अली बक्स खां ने, जो स्वयं संगीत की दुनिया के दीवाने थे, उनका पूरा-पूरा पक्ष लेकर उन्हें इसी ओर आने के लिए उत्साहित किया। अली बक्स खाँ ने स्वयं एक ऐसी शहनाई की रचना की थी जो उनका भांजा आसानी से बजा सके। फिर क्या था बिस्मिल्ला खाँ का सारा समय उसी को बजाने के रियाज में बीतने लगा। आयु बढ़ने के साथ-साथ खाँ के शहनाई वादन में भी गजब का निखार आता गया।

शहनाई के इस सम्राट ने पहली बार डुमराँव महाराज के किले में स्थित बिहारी जी मंदिर में ही अपने मुँह से शहनाई लगायी थी। श्री खाँ जब पाँच वर्ष के थे तभी इनकी माँ का साया सिर से उठ गया। तब उनके पिता ने अपना गम भूलाने के लिए बिस्मिल्ला खां पर अपना ध्यान केंद्रित किया और पाँच साल तक अपने धरोहर को सिंचित और पल्लवित किया। इसी बीच इनके पिता बचई मियां ने दूसरी शादी कर ली। मगर नयी माँ ने उनका लालन-पालन अच्छे ढंग से किया। जब खाँ साहब ने दसवें वर्ष में कदम रखा तो इनके पिता ने उन्हें ननिहाल बेनिया बाग बनारस में मामू अली बक्स खाँ के संरक्षण में भेज दिया। जहाँ उन्होंने इस अमूल्य धरोहर को सिंचित और पल्लवित किया। अली बक्स खाँ संगीत के प्रकाण्ड विद्वान थे। ये बनारस के काशी विश्वनाथ मंदिर में शहनाई बजाया करते थे। अच्छे गुरु की प्रेरणा एवं कुशल मार्गदर्शन तथा कठोर अनुशासन और रियाज से खाँ के शहनाई वादन में दिनोंदिन निखार आता गया। गंगा के पवित्र तट पर बने मंदिरों (बालाजी) के शांत एवं आध्यात्मिक वातावरण में बड़े मामू विलायत हुसैन खाँ और मामू अली बक्स खाँ के साथ वे मंदिर के एक कमरे में घंटों रियाज किया करते थे। श्री खाँ का मानना था कि सुर को साधना बड़ा कठिन है जिसने इसे साध लिया, उसने संगीत के मर्म को समझा लिया। संगीत की आवाज दर्द से लवरेज है जिस संगीत में दर्द नहीं वह संगीत निरर्थक है। सच्चा संगीत जहाँ श्रोताओं के मन को शांति देता है वहीं संगीतकार और गायक को भी तृप्ति मिलती है।

जवानी के समय वे चौक के पास की गली दालमंडी में रहते थे, जो कोठे के लिए प्रसिद्ध था और

यहाँ बनारस और काशी की प्रसिद्ध गायिकाएं और नर्तकियाँ रहा करती थीं। रसूलन बाई, राजेश्वरी और बेटिया कमला, मोती बाई और सिद्धेश्वरी भी इसी गली में रहती थी। शाम ढलते ही यहाँ की गलियाँ संगीत की सुमधुर स्वर लहरियों से फूल की तरह खिल उठतीं और संगीत प्रेमियों से गुलजार हो उठती थीं। इनका घर इन गलियों के पास होने से जब बालाजी मंदिर (बनारस) से रात की आरती के बाद वे घर लौटते थे तो उन्हें राग-रागीनियाँ, कजरी, ठुमरी, दादरा आदि सुनने को मिलती थी। इस तरह इन गायिकाओं की परम्पराओं की अनेक बंदिशों को बार-बार सुनने के कारण वे बंदिशें पूरी तरह उनके जहन में घर कर गयी, जो आजीवन पूरी तरह उन्हें याद रहीं। जवानी में वे अपनी सेहत का पूरा ख्याल रखाते थे। घंटों कसरत करते थे। इसमें पूरे तीन सौ दंड मार लेते थे। मगर जैसे-जैसे कला में रमते गए वैसे-वैसे कसरत छूटता गया। शौक से पहलवानी करते थे। दंगल में कुश्ती लड़ते थे। उस्ताद साहब के बेहद पसंदीदा रागों में था मारू, बिहाग, बागेश्वरी, जयजयवंती, भूप, ललित, केदार, रागेश्वर, गोरख कल्याण आदि। मगर उन्हें सबसे अधिक पसंद था राग मालकौंस।

वो भी क्या दिन थे। लोग जाति-धर्म के प्रति इतने संवेदनशील नहीं थे। वे एकांत में रियाज के लिए बालाजी मंदिर और मंगला गौरी मंदिर, जड़ाऊ मंदिर तथा काशी विश्वनाथ मंदिरों में चले जाते थे। आज तो शायद वैसी कल्पना करना भी मुश्किल है। श्री खाँ कहा करते थे संगीत, सुर और नमाज सभी एक हैं। हम अनेक रास्तों से अल्लाह या भगवान के पास पहुँचते हैं।

श्री खाँ आजादी के पूर्व ही श्रेष्ठ शहनाई वादक के रूप में स्थापित हो चुके थे। स्वाधीनता की पहली वर्षगाँठ पर लाल किला पर शहनाई वादन के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया था। इस दिन उस्ताद ने राग काफी बजाकर अपनी शहनाई के जादू से हिन्दुस्तान भर के लोगों को सम्मोहित कर दिया था।

बिस्मिल्ला खाँ को फिल्मी दुनिया पसंद नहीं थी, फिर भी तीन फिल्मों में उन्होंने शहनाई बजायी है। लेकिन कलाप्रेमी केवल एक ही फिल्म के बारे में जानते हैं। प्रसिद्ध फिल्म संगीतकार बसंत देसाई की फिल्म 'गूंज उठी शहनाई' में संगीत निर्देशक विजय भट्ट और शंकर भट्ट के निर्देशन में श्री खाँ ने शहनाई की तान पर 'दिल का खिलौना हाय टूट गया' बजाया था जो काफी लोकप्रिय हुआ था। इसके अलावा उन्होंने भोजपुरी फिल्म 'बाजे शहनाई हमार अँगना' तथा अंतिम बार मद्रास के लिए प्रोड्यूसर विक्रम श्रीनिवास की कन्नड़ फिल्म 'सनाधी आपना' में वादन किया था। उसके बाद उनके पास कितने ही प्रस्ताव आये, मगर सभी का नम्रतापूर्वक इंकार करते गए। उस्ताद खाँ के रिकार्डस तथा कैसेट काफी प्रसिद्ध हुए हैं। उस्ताद खाँ बी० रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी देवी, बड़ी मोती जैसी सुरों की मलिकाओं के अलावा उस्ताद अल्ला रक्खा, डॉ० एम० राजन, विलायत खाँ, पंडित रविशंकर, सोमा घोष आदि के साथ जुगलबंदी किया था। जिनमें पंडित वी० पी० जोग की वायलिन तथा हामीज जाफर के सितार तथा उनकी शहनाई की जुगलबंदी विशेष प्रसिद्ध हैं।

विदेशों में कार्यक्रमों का सिलसिला अफगानिस्तान (1962 ई०) से प्रारम्भ हुआ। जब उन्होंने अफगानिस्तान के राष्ट्रीय दिवस के मौके पर शहनाई बजायी और इसी साल उन्होंने पाकिस्तान में भी अपना शहनाई वादन किया। 1965 ई० में एडिनवर्ग अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमंडल कला समारोह के तहत लंदन गये। साथ ही साथ इराक और इरान की यात्रा की। 1967 ई० में कनाडा, 1968 ई० शिशिराज महोत्सव (ईरान) इसी वर्ष नेपाल यात्रा का अवसर मिला, जहाँ रॉयल नेपाल आर्ट अकादमी के सर्वोच्च सम्मान से इन्हें सम्मानित किया गया। 1969 ई० में यूरोप में यूनेस्को के सांस्कृतिक कार्यक्रम के तहत फ्रांस में 1970 ई० में जापान में, 1973 ई० में दक्षिण अमेरिका के सिल्बर जुबली ऑफ इंडिपेंडेन्स डे पर कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इसके बाद वेस्टइंडीज, गुयाना, सूरीनाम, क्यूबा, मैक्सिको, स्पेन, बेल्जियम,

जर्मनी, इटली, हॉलैण्ड, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, कनाडा, शारजाह, हांगकांग आदि देशों में कार्यक्रम प्रस्तुत किया। भारतरत्न उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ को पुरस्कार व सम्मान मिलने का सिलसिला 1956 ई० में शुरू हुआ था। जब उन्हें संगीत नाटक अकादमी का सम्मान मिला। वे पद्मश्री (1961 ई०), पद्म भूषण (1968 ई०), पद्मविभूषण (1980 ई०), नेहरू अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना पुरस्कार रूस (1973 ई०), स्वर लय अवार्ड (1994 ई०), राष्ट्रीय संगीत रत्न (1996 ई०), बिहार गौरव (2003 ई०) आदि जैसे अनेक पुरसर एवं सम्मान से वे सम्मानित किये गये हैं।

भारत रत्न उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ अपने आखिरी वक्त तक जिस तरह शहनाई वादन करते रहे वह युवा पीढ़ी के लिए एक मिसाल है। बीमारी तथा घुटने के दर्द के कारण वे गिने-चुने हुए समारोह में ही भाग लेते थे तथा कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे। उनकी विशेषता रही कि जीवन के इस पड़ाव पर भी धार्मिक उत्सवों-अवसरों में पूर्व की ही तरह अपनी नि:शुल्क सेवा अर्पित करते थे। अपनी तमाम तकलीफों के बावजूद उस्ताद फातमान में चाँदी की मखसूस शहनाई पर मातमी धुनों के द्वारा शीहदान-ए-कर्बला की आँसुओं का नजराना पेश करते थे तो उस वक्त वहाँ का माहौल बड़ा दर्दनाक हो जाता था। जुलूस में शामिल हजारों लोगों की आँखों से आँसू टपकने लगते थे। इसी तरह उस्ताद गंगा पूजन में 'गंगा दुआरे बधइया बाजे' बजाते समय झूम उठते थे। श्री खाँ बाबा विश्वनाथ के आंगन में शहनाई बजाते थे तो वहाँ का पूरा माहौल भक्तिमय हो जाता था और बाबा के भक्तों के हर-हर महादेव के उद्घोष से सारा वातावरण गूँज उठता था। मानो शहनाई के मधुर संगीत से बाबा जाग गए हों।

उस्ताद के हाथों में शहनाई एक अनुपम लालित्यवाला साज बन जाता था। राग-रागनियों को एक नया अर्थ नई शब्दावली मिलती थी। प्रत्येक स्वर में एक वायदा भरा होता था, हरेक सुरीली अभिव्यक्ति में पूर्णता होती थी। जैसे-जैसे वे द्रुत की ओर बढ़ते थे एक ऐसे दिव्य संगीत का एहसास होता था, जो लयात्मक, उत्प्रेरक और इतना कोमल होता था कि उसका वर्णन संभव नहीं है। जब वे साज पर कोई लोक धुन छेड़ते थे, तो उनका संगीत और अधिक रूमानी बन जाता था। लोगों के सामने एक नया सौंदर्य खुलता था, वैसा सौंदर्य उभरता था जो गँवई आकर्षण से लबालब भरा रहता था।

उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ बिहार की माटी में उपजे विश्व के अमर संगीतकार हुये।

सत्येन्द्र कुमार दूबे

–नरेन

घने अंधेरे के खिलाफ एक खुली आँख से भी कम भरोसा नहीं जागता है मन में। एक खुली आँख यानी एक जागी हुयी आँख। जागे हुये चेतनापुंज की जुबान। आँखें जब जागी हुयी होंगी, तो वह खरा देखेगी और खरा बोलेंगी। बिहारी सपूत सत्येन्द्र दूबे घने अंधेरे के खिलाफ उसी जागी हुयी आँख का नाम था।

27 नवम्बर 2003 को भोर में 3 बजे वे ट्रेन से वाराणसी से गया पहुँचे थे और घर लौटते समय अंधेरों की साजिश का शिकार बन गये सत्येन्द्र दूबे। अंधेरगर्दों को रास नहीं आते थे सत्येन्द्र दूबे सो वे उनकी आँखों की किरकिरी बने हुये थे। जो अंधेरी ताकतें हमारे कथित लोकतंत्र में भी आम-अवाम के हितों को दुर्दमनीय जंगली भैंसों के समान चरने के अभ्यस्त रही हैं उन्हें ईमानदारी के खारे हीरे के सुचिक्कन सतहों से कौंध मारती तेज चमक भला कैसे सहन होती। जाड़े की अंधेरी भोर में गया स्टेशन से घर लौटते हुय सत्येन्द्र दूबे को ए०पी० कॉलोनी के समीप किसी ने गोली मार दी।

यह लूटपाट के दौरान किसी आम आदमी की कर दी गयी हत्या नहीं थी। अपनी हत्या के कुछ ही दिनों पूर्व सत्येन्द्र दूबे नेशनल हाईवे अथॉरिटी ऑफ इंडिया के डिपुटी जेनरल मैनेजर चुने गये थे। बिहार में सड़क निर्माण के क्षेत्र में कोडरमा परियोजना कार्यान्वयन इकाई की देख-रेख के लिये अंतिम रूप से उनके नाम का चयन कर लिया गया था जहाँ उन्हें परियोजना निदेशक के रूप में जाना जानेवाला था और उन्हें 5200 किलोमीटर विस्तृत क्षेत्र में सड़कों के आधुनिकीकरण के कार्य का निर्देशन करना था। 2002 ई० में सहायक परियोजना प्रबंधक के रूप में नेशनल हाईवे अथॉरिटी ऑफ इंडिया में काम करने के लिये सत्येन्द्र दूबे की प्रतिनियुक्ति हुयी थी और उन्हें राष्ट्रीय राजमार्ग 1 के एक अंश पर औरंगाबाद-बाराचट्टी क्षेत्र में स्वर्णिम चतुर्भुज कारिडोर परियोजना के तहत सड़क उन्नयन-संबंधी कार्ययोजना को अंजाम देना था। इसमें 450 करोड़ रुपये खर्च किये गये थे। घोर ईमानदार सत्येन्द्र दूबे ने इस राशि के खर्च किये जाने की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार के भ्रष्टाचार को जरा भी प्रश्रय नहीं दिया था। उन्होंने भ्रष्ट ठेकेदार की नाक में दम कर दिया था। वे चिलचिलाती गर्मी में भी सप्ताह में 4-5 बार कार्य-स्थल का निरीक्षण करने पहुँच जाया करते थे जबकि उनके स्तर का इंजीनियर पहले महीने में बमुश्किलन कार्य-स्थल पर एकाध बार ही पहुँचा करते थे। एक बार एक ठेकेदार ने 6 किलोमीटर लम्बी सड़क का निर्माण किया था, जिसे दूबे ने निर्धारित स्तर से काफी निम्न स्तर का पाया। उन्होंने उस भ्रष्ट ठेकेदार को बाध्य कर दिया था कि वह फिर से उस सड़क को अनुशंसित स्तर तक का बनाये। इस दौरान दूबे न तो धमकियों से डरे, न राजनैतिक स्तर से दिये जा रहे दबाव की परवाह की और न ही ठेकेदार द्वारा दिये जा रहे लोभ के वशीभूत हुये। बल्कि उन्होंने ठेकेदार को बाध्य कर दिया कि वे अपने तीन भ्रष्ट आचरणों वाले इंजीनियरों को बर्खाश्त कर दे। सत्येन्द्र दूबे की ईमानदारी का तेज भ्रष्ट ठेकेदार एकदम बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे। उन्हें तरह-तरह की धमकियाँ मिल रही थीं, लेकिन वे किसी धमकी के सामने झुके नहीं।

उन्होंने विस्तारपूर्वक नेशनल हाईवे अथॉरिटी ऑफ इंडिया और भारत के प्रधानमंत्री को लिखा था कि परियोजना में किस प्रकार भयंकर आर्थिक गड़बड़ियाँ हो रही हैं। संभवत: इसी शिकायत किये जाने से चिढ़कर भ्रष्ट ठेकेदारों और राजनेताओं ने सांठ-गांठ करके ईमानदार इंजीनियर सत्येन्द्र दूबे को अपने रास्ते से हटा दिया।

सत्येन्द्र दूबे का जन्म 1973 ई० में सीवान जिला के शाहपुर गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम बागेश्वरी दूबे और माता का नाम फूलमती देवी था। बागेश्वरी दूबे के दो बेटों और पाँच बेटियों में सत्येन्द्र उनके दूसरे पुत्र थे। अत्यंत खराब सड़क की वजह से सत्येन्द्र का गाँव लगभग दुर्गम था। सत्येन्द्र के पिता पड़ोस की चीनी मिल में अल्प वेतन भोगी एक किरानी थे। थोड़े से जो खेत थे, उनकी उपज से परिवार का गुजर-बसर होना आसान नहीं था सो जरा अतिरिक्त आय की लालसा से बागेश्वरी जी चीनी मिल में किरानी का काम कर रहे थे।

15 वर्ष की आयु तक सत्येन्द्र अपने गाँव के स्कूल गंग बक्श कन्नौडी हाई स्कूल में ही शिक्षा ग्रहण करते रहे। फिर उच्च शिक्षा हाशिल करने के लिये वे इलाहाबाद चले गये। उनके मन में ऐसा कुछ कर गुजरने का हौसला था जैसा उनके गाँव के किसी अन्य लड़के ने कभी सपने में भी नहीं सोचा था। सत्येन्द्र ने अपने पिता को निराश नहीं किया। उन्होंने शिक्षा की वह ऊँचाइयाँ तय की जो उनके गाँव के किसी युवक ने तो क्या, आस-पास के इलाके में भी किसी ने तय नहीं की थी।

इलाहाबाद में सत्येन्द्र किराये के एक छोटे से कमरे में रहते थे। अपना खाना वे खुद बनाते थे और उसी थोड़ी से नगण्य राशि से पूरे महीने अपना गुजर-बसर करते थे, जो उनके गरीब पिता उन्हें हर महीने भेजा करते थे। उन्होंने खूब कड़ी मेहनत की और इंजीनियरिंग की पढ़ाई पर अपना ध्यान केंद्रित किया। उनकी कठिन मेहनत ने रंग लाया और 1990 ई० में आई०आई०टी० कानपुर में उनका नामांकन हो गया जहाँ उन्हें सिविल इंजीनियरिंग विभाग में जगह मिली। सत्येन्द्र बहुत बढ़िया छात्र थे। 1990 ई० में उन्होंने अपनी कक्षा में द्वितीय रह कर स्नातक की डिग्री हासिल की। उनके सहपाठी और शिक्षक आज भी उन्हें लगनशीन, सादगी से रहनेवाले एक ऐसे ईमानदार युवक के रूप में याद करते हैं जिनकी सकारात्मक मूल्यों में गहरी आस्था थी। मूल्यों के प्रति उनकी गहरी आस्था ने ही उन्हें साहस के साथ आजीवन ईमानदार बनाये रखा और जिसकी कीमत उन्होंने अपनी जान देकर चुकायी। ईमानदारी और सादगी, उनके आचार-विचार और संस्कार का हिस्सा था।

मूल्यों के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देनेवाले अपने इस सपूत पर बिहारवासियों को हमेशा नाज रहेगा।

तिलकामाँझी

डॉ० योगेन्द्र

अक्सर ऐसा होता है कि सत्ता जिसकी अपेक्षा कर देती है, जनता उसे अपनी स्मृतियों में संजो लेती है। इस कथ्य के अन्यतम उदाहरण हैं- शहीद तिलकामाँझी। सत्ता एवं सत्ता समर्थक बुद्धिजीवी एवं इतिहासकार ने शहीद तिलकामाँझी को भुला दिया, लेकिन होड़ लोगों की स्मृतियों में वे जीवित रहे। होड़ लोगों के बीच प्रचलित लोकगीत की पंक्तियाँ हैं- "तिलका बाबाय ढारवाब केदा/गोटा टांडीय लाई केदा/इंगराज दोवोन लागा कोठोया/आबू कोवाक् जुमी रे/खाजना को कोकोय काम/इंगराज दोबेन लागाकोठोया।" इन पंक्तियों के हिंदी अनुवाद हैं- "तिलका बाबा ने पत्ता घुमवाया। उन्होंने सभी जगह बतलाया कि हम अंग्रेजों को भगायेंगे ही। हमारी जमीन में वे मालगुजारी मांगते हैं, हम अंग्रेजों को भगायेंगे ही।"

अंग्रेजों को मार भगानेवाले वीर शहीद तिलकामाँझी का जन्म 11 फरवरी 1750 को हुआ था। इनके पिता का नाम सुन्द्रा माँझी तथा माता का नाम सोमी था। ये अपने साथियों के साथ जंगलतरी में संघर्षरत रहे। 1774 से 1778 तक जंगलतरी के गर्वनर पद पर कार्यरत कैप्टन जेम्स ब्राउन ने जंगलतरी का भौगोलिक खाका खींचा है। उन्होंने 'इंडियन ट्रेक्ट्स' में लिखा है कि उत्तर में भागलपुर और कहलगांव के मैदान एवं गंगा, उत्तर-पश्चिम में खड़गपुर की पहाड़ियाँ, पश्चिम में गिद्धौर, दक्षिण-पूर्व में वीरभूम, पूर्व में राजमहल की पहाड़ियाँ और उत्तर-पूर्व में गंगा और राजमहल के पहाड़ियों के हिस्से जंगलतरी के अंतर्गत आते हैं। यहाँ के लोग केंद्रीय सत्ता को कभी तरजीह नहीं देते थे और उनकी लगातार अवहेलना करते थे। बनारस डिवीजन के जज जेम्स स्टुअर्ड ने लिखा है, "अंग्रेजी सत्ता के प्रारंभिक काल में वीरभूम से लेकर भागलपुर तक के इलाके में अव्यवस्था चरम पर थी। यहाँ के लोग खुलेआम सरकार के खिलाफ मुखालफत करते थे और उस पर आक्रमण करते थे।" 1772 में बंगाल के तत्कालीन गर्वनर वारेन हेस्टिंग्स ने अपने सैनिक कमाण्डर जनरल वारकर की सलाह पर आठ सौ सैनिकों के साथ जनरल ब्रुक को जंगलतरी भेजा। उस वक्त लक्ष्मीपुर के जमींदार जगन्नाथ देव भूईयाँ साथियों के साथ अंग्रेज कंपनी के खिलाफ युद्धरत थे। उन्होंने देवघर से कुछ दूरी पर स्थित टिउर पहाड़ी पर एक किला बना रखा था। जहाँ से वे अपना युद्ध संचालन करते थे। कई दिनों के संघर्ष के बाद भी जनरल ब्रुक को कोई सफलता नहीं मिली। फिर पटना से युद्ध सामग्री और सैनिक आये। दोनों ने एक साथ हमला कर टिउर किले को ध्वस्त कर दिया। कहा जाता है कि इसके बाद जनरल ब्रुक ने स्थानीय लोगों से समझौता किया। कैदियों के साथ सद्व्यवहार किया और खेती-बाड़ी करने में लोगों की मदद की। इसके बाद इस क्षेत्र के गवर्नर ब्राउन बने जो लगभग छह वर्षों तक कार्यरत रहे। 1775 में जगन्नाथ देव और उनके समर्थकों के पक्ष में बड़ा विद्रोह हुआ जिसे निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया। 1778 में स्थानीय प्रशासिनक व्यवस्था को मान्यता दिलाने के लिए जेम्स ब्राउन ने कलकत्ता की कौंसिल की स्वीकृति के लिए एक प्रस्ताव भेजा। कौंसिल उनके प्रस्ताव से सहमत हुई। इसके अनुसार पहाडियाँ कई क्षेत्रों में विभाजित थीं। हर क्षेत्र को परगना कहा जाता था। हर परगने के लिए एक सरदार होता था। एक परगना में कई गाँव होते थे। प्रत्येक गाँव की व्यवस्थ एक माँझी देखता था। जेम्स ब्राउन ने स्थानीय लोगों से संबंध कायम किया और शांतिपूर्वक शासन चलाने के लिए कुछ रियायतें दीं। 1776 में अगस्टस क्लीवलैंड उस वक्त मात्र 21 वर्ष के युवा थे। उन्होंने सरदारों और माँझियों को मासिक वेतना देना शुरू किया। सरदारों को दस-दस रूपये एवं मांझियों को दो-दो रूपये मिलते थे। बावजूद

इसके अंग्रेजी शासन व्यवस्था स्थानीय लोगों की उम्मीदों पर खरा नहीं उतर सकी। क्लीवलैंड की व्यवस्था पूरे क्षेत्र में एक रूप नहीं थी। वैसे क्लीवलैंड को प्यार से चिलमिली साहब भी कहा जाता था, लेकिन स्थानीय जनता को अपनी ही जमीन की मालगुजारी देनी पड़ती थी और कई तरह के दंश झेलने पड़ते थे, इसलिए जनता में तीव्र असंतोष था। रह-रह कर जनता का गुस्सा फूटता रहता था। 1781-82 में पाकुड़ के महेश राज की रानी सर्वेश्वरी ने सरदारों के साथ मिलकर अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ बिगुल भी फूंका।

ऐसी ही परिस्थिति में जंगलतरी इलाके के मुस्लिम, हिंदू एवं होड़ तिलकामाँझी के नेतृत्व में संगठित होने लगे। लोकगीत की पंक्तियाँ भी इसे प्रमाणित करती है- "तिलका बाबाय हो होयेदा/दिलोम बोपहा चिर गोलोक् बोन/इंगराज होपोन दिसोम दोको रेच्एत्बोन/ सारतेबोन तुमकोवा/काफी तेबीन हेलेच्कोवा/इंगरात हो पोन दिसाम खोन बोन लागाकोवा रे।" इन पंक्तियों के हिंदी अनुवाद हैं- "तिलका बाबा पुकार रहे हैं। देश के भाइयों, सजग हो जायें। अंग्रेज हमलोगों का देश छीन रहे हैं। हम उन्हें तीर से मारेंगे। हम उन्हें फरसे से काटेंगे। हम अंग्रेजों को देश से भगायेंगे।" अंग्रेजों को तीर से मारने और फरसे से काटने के लिए तिलकामाँझी ने शाल वृक्ष की छाल में गिरह देकर स्थानीय लोगों को एकजुट होने के लिए आमंत्रण दिया। तिलकामाँझी अपने साथियों के साथ कहलगाँव की तीन पहाड़ियों के बीच बिछी झील सी गंगा में ईस्ट इंडिया कंपनी के खजाने को लूटते थे और उसे शोषण के शिकार लोगों के बीच बाँट देते थे। खजाने लूटने का यक कार्य मारगो दर्रे और तेलियागढ़ी दर्रे में भी होता था। अंग्रेजी शासन की 'बांटो और राज करो' की नीति के तहत स्थानीय लोगों को भी बाँटा। एक-दूसरे के विरूद्ध उन्होंने उन्हें खड़ा किया। अंग्रेजपरस्ट गुट का नेतृत्व जउराह कर रहे थे। वे अंग्रेजों की मदद करते थे और विद्रोहियों को पकड़वाते थे।

तिलकामाँझी के हूल को दबाने के लिए एक सौ सैनिकों के साथ कैप्टन फिलिप ने तीतापानी जंगल में बसे गाँवों पर हमला किया, किंतु उन्हें मुंह की खानी पड़ी। वे खुद तीर से घायल होकर भाग खड़े हुए। इसके बाद क्लीवलैंड ने क्रमश: छह फौजी टुकड़ियों को हूल कुचलने के लिए भेजा जिसके कप्तान क्रमश: मोरेल, हैबर, ग्रेबील, औस्काट, मिटफोर्ड और ह्वीलर थे। इन फौजी टुकड़ियों को तिलकामाँझी एवं उनके बहादुर साथियों ने बुरी तरह से हराया। इसके बाद अंग्रेज उन्मत्त होकर कई गाँवों पर-खासकर जाठा और कोटेरा गाँव पर हमला किया। गाँवों में आग लगा दी गयी। अंधाधुंध दमन प्रारंभ हुआ, तब भी तिलकामाँझी डटे रहे। अंतत: भागलपुर के कलेक्टर ऑगस्टस क्लीवलैंड ने खुद कमाल संभाली। तीतापानी के जंगल में दोनों के बीच भयानक संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में तिलकामाँझी के तीर एवं गुलेल से क्लीवलैंड जख्मी हुए। क्लीवलैंड के जख्मी होने से अंग्रेजी फौज भयभीत हो गयी और भाग खड़ी हुई। क्लीवलैंड अपने सहायक चार्ल्स कॉकरेल को प्रभार सौंपकर चिकित्सा हेतु स्वदेश लौटने लगे। कहा जाता है कि रास्तें में 13 जनवरी 1784 को क्लीवलैंड की मृत्यु हो गयी।

इस सफलता से प्रसन्न होकर तिलकामाँझी और उनके साथी जश्न मना रहे थे कि रात के अंधेरे में सर आयरकूट के नेतृत्व में उनपर आक्रमधस हुआ। सर आयरकूट के साथ अंग्रेज परस्त जउराह भी शामिल थे। बहुत से लोग मारे गये और पकड़े गये। तिलकामाँझी ने सुलतानगंज स्थित जंगल में शरण ली और अंग्रेजों के खिलाफ मोर्चाबंदी की। वर्ष भर छिटपुट लड़ाई चलती रही। अंतत: 1785 में तिलकपुर गाँव स्थित जंगल में लड़ाई हुआ, जहाँ तिलकामाँझी को कंधे में चोट लगी। घायलावस्था में तिलकामाँझी को भागलपुर लाया गया और उन्हें घोड़े की टाँग में बाँधकर सरेआम घसीटा गया। 13 जनवरी 1785 को भागलपुर तिलकामाँझी चौद स्थित बरगद के पेड़ से लटकाकर उन्हें फाँसी दे दी गयी।

मेजर जेरविस ने लिखा है कि होड़ युद्ध में जीत को नहीं जानते थे। जब राष्ट्रीय नगाड़ा युद्ध की आवाज से बजता था तो औरत, मर्द, बच्चे, बूढ़े सभी मरने-मारने के लिए दौड़ पड़ते थे। उस समय ऐसा कोई भी सिपाही नहीं था जो इन पर गोली चलाते हुए शर्म महसूस न किया हो।

भागलपुर की जनता ने अपने प्रिय स्वतंत्रता सेनानी को अपनी स्मृतियों में संजो कर रखा है, इसलिए उनके नाम पर तिलकामाँझी चौक, तिलकामाँझी हाट, तिलकपुर गाँव और अब तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय हैं। भले इतिहास के पन्नों में उन्हें पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया है, लेकिन उनके संघर्ष एवं जीवन गाथा को कंद्रित कर आर्थर एक्का, बकलैंड, एल. एम. विद्यार्थी, एल. पी. विद्यार्थी, डॉ० एस. के. सिंह, रतनलाल जोशी, शिवलाल माँझी, देवेन्द्रनाथ सिंहकु एवं महाश्वेता देवी ने उल्लेखनीय कार्य किया है। तिलकामाँझी लोक स्मृतियों में जीवित हैं। वे एक ऐसे मिथकीय चरित्र बन गये हैं जिनसे जनता प्रेरणा ग्रहण करती है। भारतीय संस्कृति में इतिहास से ज्यादा मिथ महत्वपूर्ण हो उठता है। उदाहरण के लिए राम एवं कृष्ण के व्यक्तित्व है। वे इतिहास के पात्र नहीं हैं, लेकिन किसी भी ऐतिहासिक चरित्र से सबल हैं। बिहार की माटी की उपज तिलकामाँझी भी ऐसे ही मिथकीय चरित्र हैं। बेहद महत्वपूर्ण एवं सत्य और न्याय के लिए जूझनेवाली यह शख्सियत हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत हैं।

बाणभट्ट

आनंद वर्द्धन

संस्कृत गद्य की परंपरा में बाणभट्ट अद्वितीय नाम है। प्राचीन भारतीय वाड्.मय में बाणभट्ट रचित 'हर्ष चरित' एवं 'कादम्बरी' जैसे ग्रंथों की अपनी महत्ता है। बाणभट्ट गद्य साहित्य के श्रेष्ठतम लेखक माने गये हैं। इसका कारण है उनकी रचनाओं में भाव एवं भाषा का सम्यग् संगुम्फन एवं प्रवाहमयता।

बाणभट्ट का जन्म स्थान शोण नदी के तट पर अवस्थित प्रीतिकूट नामक ग्राम था। यह स्थान वर्त्तमान में बिहार के शाहाबाद जिले का अंग है। बाणभट्ट की ऐतिहासिकता, समय एवं पैतृक-स्थान नितान्त असंदिग्ध है क्योंकि गद्यकवि ने अपनी वंशावली की परिचर्चा 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छवास में की है।

बाणभट्ट सकलोतरापथनाय महाराजाधिराज हर्ष के समकालीन थे। राजा हर्ष का राज्यकाल सामान्यत: 606 से 648 ई० के मध्य माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि महाकवि बाणभट्ट ने अपनी समस्त कीर्तियों की रचना कन्नौज अधीश्वर पुष्यभूति हर्ष वर्द्धन के राजाश्रय में की। यह अवधारणा उपयुक्त भी है। 'हर्ष चरित' का कथा-विन्यास और उसमें वर्ण्य-विषय का हर्ष युगीन घटनाक्रमों से स्पष्ट सम्बंध ऐसा सहज ही स्पष्ट करता है। बाणभट्ट का हर्ष चरित भारत की साहित्यिक परम्परा में प्रथम रचना है जिसकी कथा की मुख्यधारा का स्वरूप पूर्णत: ऐतिहासिक है। ऐसा चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग के वृतान्त की 'हर्ष चरित' के साथ तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है।

जिस समय बाणभट्ट अपनी रचनाओं को मूर्त-रूप प्रदान कर रहे थे, उस समय मगध पर उत्तर गुप्त शासकों का शासन था। मगध के तत्कालीन शासक माधवगुप्त हर्ष के अन्यतम सहयोगी थे। यह भारतीय इतिहास का वह समय है जब उत्तर भारत की राजसत्ता का केन्द्र कान्य-कुब्ज (कन्नौज) हो गया था पर शोण एवं गंगा के मध्य अवस्थित भूमि ने अपनी विद्वता भरी परम्परा एवं अपूर्व मेधा नहीं खोयी थी। बाणभट्ट इस क्षेत्र की निरन्तर गतिमान परम्परा के प्रतीक-पुरूष थे। तभी तो 'नागानन्द, प्रियदर्शिका' एवं 'रत्नावली' नामक नाटकों के रचनाकर हर्षवर्द्धन को भी बाणभट्ट को अपने राज-प्रांगण में आमंत्रित करना पड़ा।

एक लेखक के रूप में महाकवि बाणभट्टकी पाँच कालजयी कृतियाँ हैं- (1) हर्ष चरित (2) कादम्बरी (3) पार्वती परिणय (4) चण्डीशतक (5) मुकुटताडितक। इन पांचों पुस्तकों में हर्षचरित एवं कादम्बरी का पद विन्यास एवं रचनाशैली अत्यंत आकर्षक है।

हर्षचरित एक आख्यायिका है। यह आठ उच्छ्वासों में लिखा गया है। कल्हण की 'रजततंगिणी' के पूर्व ऐतिहासिक घटनाक्रमों पर आधारित यह प्रथम रचना है। इस पुस्तक से थानेश्वर के पृष्ठभूमि राजवंश, गौड़ शासक शशांक एवं कन्नौज के मौरवरी शासक ग्रहवर्मा आदि के विषय में व्यापक जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि हर्ष के वर्णन में बाणभट्ट की राजा के प्रति उनकी वैयक्तिक निष्ठा उनकी आलंकारिक वाणी एवं अतिशयोक्तियों से प्रकट होती है, परंतु तत्कालीन अत्तरभारतीय राजनीति एवं कन्नौज के लिए शक्ति-संघर्ष का इतिहास इसमें कथात्मक रूप में चित्रित हुआ है।

बाणभट्ट का कवित्व एवं शब्द समायोजना की अद्वितीयता का निदर्शन उनके कथा ग्रन्थ कादम्बरी में हुआ है जहाँ उनकी लेखनी ने करूण रूप विप्रलम्भ श्रृंगार को जन्म-जन्मांतर तक प्रवाहित होने वाली

भावना के रूप में वर्णित किया है।

संस्कृति बाड्मय में गुणाढय की वृहत्कथा एवं सुबन्धुकृत वासवदत्ता के पश्चात अपने ढंग की यह अनूठी काव्य रचना है। कादम्बरी एवं चंद्रापीड के प्रेमाख्यान को वर्णित करने में बाणभट्ट ने जिस प्रकार की रचनाशैली का प्रयोग किया वह सम्पूर्ण भारत के गद्य लेखकों के लिए प्रेरणास्रोत बन गया।

बाण की तृतीय प्रमुख रचना 'चण्डीशतक' दुर्गा की स्तुति है। बाणभट्ट रचित 'पार्वती परिणय' एक नाटक है। कथात्मक दृष्टिकोण से इस रचना का साम्य कालिदास की रचना 'कुमार संभवम्' नामक गीतिकाव्य से स्पष्ट है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'पार्वती परिणय' के लेखक दक्षिणाव्य थे। परंतु इस संदर्भ में कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं होगा।

बाणभट्ट ने 'मुकुटताडितक' नामक एक और नाटक की रचना भी की थी, किन्तु यह नाटक अप्राप्य है।

बाणभट्ट की रचना वैशिव्ट्य के समालोचक उन्हे पांचाली रीति का कवि मानते हैं। पाद्माली रीति का तात्पर्य है वर्ण्य विषय के अनुरूप समस्त पदों एवं चूर्णक शैली अर्थात छोटे-छोटे पदों का प्रयोग। सरस्वती कंठाभरण के लेखक राजा भोज ने बाणभट्ट की इस विशिष्टता की प्रशंषा करते हुये लिखा है-

शब्दार्थयो: समोगुम्फ: पाञ्चाली रीति रिवयते।
शिलाभट्टारिका वाचि वाणोक्तिषु च सा यदि।।

बाणभट्ट की ओजस्विता एवं उर्जस्विता संस्कृत के प्रवर समीक्षकों एवं टीकाकारों को प्रभावित करता रहा है। कवि त्रिलोचन ने उनकी भाषा के अविच्छिन्न प्रवाह की प्रशंषा करते हुये लिखा है।

इद्धि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोडपि पदक्रम:।
भवेत् कवि कुरंगाणाम् चापलं तत्र कारणम्।।

अर्थात बाणभट्ट के कवित्व के आगे अन्य कवियों की रचनाये केवल औपचारिकता चपलता मात्र प्रतीत होती हैं।

कवि बाणभट्ट की शैली अपूर्व रमणीयता का संचार करने एवं अलंकारों के विविधात्मक प्रयोग के लिए प्रसिद्ध है। अर्थ एवं भाव के समन्वय में वे संस्कृत के समस्त कवियों में अग्रगण्य हैं। उनके द्वारा उपस्थित किया जाने वाला शब्द-चित्र जीवन्त है। बाणभट्ट के साहित्य का मुख्य उद्देश्य रस परिपाक है। वे अपने शब्दों से विलक्षण स्वर माधुर्य उत्पन्न करते हैं। यह उदाहरण देखा जा सकता है।

मधुरकुलकलंककालीकृतकालेय कुसुमकुड्मलेषु
(महाश्वेता वृतान्त, कादम्बरी)

इनके इसी गुण से प्रभावित होकर धर्मदास ने उनकी वाणी को रसभाववती कहा है-

रूचिर स्वरवर्णापद्य रसभाववती जगनानो हरति।
सा कि तरूणी नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्थ।।

वस्तुत: बाणभट्ट अपनी परिष्कृत पदावली एवं प्राञ्जाम भाषा के कारण संस्कृत गद्य के विलक्षण सम्राट बन गये।

आलांकारिक गद्य की रचना में बाणभट्ट ने अद्वितीय शाब्दिक क्रीड़ा का प्रयोग किया है। उनकी इस गत्यात्मक शैली एवं प्रभावशीलता से प्रभावित गोवर्धनाचार्य ने लिखा है कि जिस प्रकार शिखण्डिनी नामक राजकुमारी शिखण्डी बनी, प्रगल्मता प्राप्त करने के लिए सरस्वती ने उसी प्रकार बाणभट्ट के रूप

में जन्म लिया।

बाणभट्ट की लोकानुरंजन की शक्ति की प्रशंसा संस्कृत के मूर्धन्य समालोचनाकार त्रिविक्रम ने किया है कि जिस प्रकार धनुष-वाण रक्तरंजित कर देता है वैसे ही बाणभट्ट ने अपने काव्य से लोगों को अपने प्रति अनुरक्त बना लिया है।

"शश्वद् बाण द्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
अनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः।।"

बाणभट्ट विषय-वस्तु के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है, जिसमें उनके लौकिक एवं शास्त्रीय ज्ञान में प्रगल्यता एवं विदग्धता सहज ही स्पष्ट होती है। बाणभट्ट प्रथम इतिहास द्रष्टा कवि हैं, करूण विप्रल्मय के उद्भावक लेखक हैं, प्राकृति सुषमा का शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में वे अतुलनीय हैं, तभी तो शोण नदी की उपत्यका में जन्में इस कवि मनीषि के लिए बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् का आभाणक लोकप्रचलित हो गया।

आनंदवर्द्धन

व्याख्याता-विरासत प्रबंधन एवं संग्रहालय विज्ञान दिल्ली विरासत शोध एवं प्रबंधन संस्थान, नई दिल्ली

:: राष्ट्रीय टीकट संग्राहलय दिल्ली के नवीन स्वरूप दिया।

:: कला इतिहास लेखन एवं कला प्रदर्शनी से जुड़े हैं

:: प्रकाशित पुस्तक- 'हेरिटेज एवं हिस्ट्री थ्रू मैपस'

खुदाबख़्श ओरियन्टल पब्लिक लाइब्रेरी
गौरवशाली बिहार का अमूल्य धरोहर

प्राचीनकाल में पाटलीपुत्र, मध्यकाल में अज़ीमाबाद और वर्तमान में बिहार की राजधानी पटना के गंगा तट पर अवस्थित खुदाबख्श ओरियन्टल पब्लिक लाईब्रेरी राज्य के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक धरोहरों में से एक है, जो न केवल राष्ट्रीय महत्व का अमूल्य केंद्र है, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे ख्याति प्राप्त है। अतीत के महान धरोहरों को पाण्डुलिपियों के रूप में संजोये यह लाइब्रेरी विशेष रूप से मध्य एवं दक्षिण एशिया के इस्लामिक, शैक्षणिक एवं साहित्यिक ज्ञान का एक अद्भुत केंद्र है। यहां 21 हजार से अधिक पाण्डुलिपियां मौजूद हैं। जिसमें अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत, पश्तो एवं तुर्की भाषाओं की दुर्लभ प्रतियां शामिल हैं। इनमें कुछ ऐसी नायाब प्रतियां भी हैं, जिसकी कोई अन्य प्रतियां दुनिया में और कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यह पाण्डुलिपियां कागज, ताड़पत्र, भोजपत्र, कपड़े, हिरण की खाल एवं कुछ अन्य वस्तुओं पर लिखी हुई हैं। इसके अलावा इस लाइब्रेरी में लगभग ढ़ाई लाख मुद्रित पुस्तकें भी हैं। जो अरबी, फारसी, उर्दू, हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी, जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी एवं जापानी भाषाओं में हैं। दुर्लभ पाण्डुलिपियों और पुस्तकों के विशाल संग्रह के अलावा यह लाइब्रेरी वर्तमान में शैक्षिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण केंद्र भी है।

खुदाबख्श ओरियन्टल पब्लिक लाइब्रेरी का इतिहास बिहार के ही छपरा जिले के ओखी गांव से जुड़ा हुआ है, जहां 2 अगस्त 1842 को इस लाइब्रेरी के संस्थापक खुदा बख्श का जन्म हुआ था। वहां उनके पिता मौलवी मोहम्मद बख्श ने अपनी अभिरूची से लगभग 1400 पाण्डुलिपियां एकत्र करके मुहम्मदिया पुस्तकालय की स्थापना की थी। मुहम्मद बख्श ने 1876 ई० में मृत्यु से पूर्व अपने बड़े बेटे खुदा बख्श को यह संग्रह सौंप दिया और यह इच्छा व्यक्त की कि यह संग्रह इधर-उधर न होने पाये बल्कि हो सके तो शहर पटना में एक बड़ी लाइब्रेरी का रूप दें जो लाइब्रेरी विशेष रूप से पूर्वी ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार का केंद्र बन जाए। क्योंकि पूर्वी ज्ञान की प्राप्ति का शौक मीकालें के मौखिक हमलों और कुछ अंग्रेजी भाषा के बढ़ते प्रभाव से फीका पड़ता जा रहा था। जवां हिम्मत बेटे ने, जिन्हें विरासत में पाण्डुलिपियों और पुस्तकों के संग्रह के अलावा कुछ न मिला था अपने पिता की इच्छा पूरी कर दिखाई। खुदा बख्श रोजी-रोटी की तलाश के दौरान पहले वकील फिर जज की हैसियत से सैकड़ों लोगों से मिले और किताबें जमा कीं। उन्होंने पुस्तकों की संग्रह के लिए सरहदों की भी कोई परवाह नहीं की और अपनी इस आकांक्षाओं की पूर्ती के लिए अपना एक दूत भी नियुक्त किया जो अरब निवासी था, वह लगातार 18 वर्षों तक काहिरा, दमिश्क, बैरूत, मिस्त्र और ईरान के पुस्तकालयों को खंगालता रहा और उन्होंने अद्भुत कृतियों को जमा किया। खुदा बख्श ने पुस्तकों और पाण्डुलिपियों के संग्रह ओर उसे रखाने के लिए पटना में गंगा नदी के तट से निकट 1888 में अपने आवास पर ही पुस्तकालय भवन का निर्माण अपने खर्च से कराया और जब उनके पास अरबी, फारसी औद उर्दू की लगभग 4000 पाण्डुलिपियां और ढ़ाई हजार अंग्रेजी, अरबी, फारसी और उर्दू की महत्वपूर्ण पुस्तकें जमा हो गयीं तो 14 जनवरी 1891 को खुदा बख्श ने विधिवत न्यास पत्र के द्वारा यह पुस्तकालय पटना की जनता को समर्पित किया। इसी वर्ष 5 अक्टूबर को बंगाल के गर्वनर सर चार्ल्स एलिएट ने पुस्तकालय का विधिवत उद्घाटन किया। (उस समय बिहार बंगाल प्रांत का ही एक भाग था) आरंभ में यह पुस्तकालय बांकीपुर ओरियन्टल लाइब्रेरी अथवा ओरियन्टल पब्लिक लाइब्रेरी के नाम से जाना जाता था।

इसी की स्थापना के नतीजे में खुदा बख्श को ब्रिटिश सरकार ने खान बहादुर की उपाधि से अलंकृत किया। खुदा बख्श आजीवन पुस्तकालय के सचिव रहे। 3 अगस्त 1908 ई० में खुदा बख्श का देहान्त हो गया और उन्हें इसी लाइब्रेरी परिसर में ही दफन किया गया। मानो अब भी यह महान पुस्तक प्रेमी अपने अद्भुत संग्रह की रखवाली कर रहे हैं जिस पर आज हम सब लोग गर्व करते हैं।

खुदाबख्श की मृत्यु के बाद निजी प्रशासनिक व्यवस्था के अंतर्गत इस लाइब्रेरी का संचालन होता रहा। लेकिन वर्ष 1969 ई० में भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित कर दिया और इसके लिये संसद में विशेष कानून पारित किया। उसी समय पुस्तकालय को श्रद्वांजलि स्वरूप खुदा बख्श ओरिएन्टल पब्लिक लाइब्रेरी का नाम विधिवत रूप से दिया गया।

खुदा बख्श ओरिएन्टल लाईब्रेरी विशेष रूप से जिन अमूल्य संग्रह और दुर्लभ कृतियों की वजह से आज भी विश्व आकर्षण का केंद्र बना हुआ है, उनमें प्राचीनतम की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण कुरान पाक का एक पृष्ठ है जो कूफी लिपि में मृगछाल पर लिखा हुआ है। कहा जाता है कि यह हजरत अली के हाथों लिख हुआ है। कुरान की ही एक दूसरी प्रति अब्बासी युग के प्रख्यात लिपिविद याकूत मुस्तासिमी की लिपि में है। यह तेरहवीं सदी ई० की लिपि है। इसके अलावा मुगल शाही पुस्तकालय की स्वर्ण सज्जा से अलंकृत कुरान शरीफ जो 17 वीं शताब्दी की है, यहाँ मौजूद है। बिहार के कार्यकारी राज्यपाल राजा राम नारायण मौजूँ के निजी पुस्तकालय में सुरक्षित कुरान पाक की एक प्रति भी यहां है। 13वीं शताब्दी ई० में लिखित नस्तालीक लिपि में 'दिवाने हाफिज़' की एक अप्राप्य प्रति भी यहां सुरक्षित है। जिससे मुगल बादशाह फाल निकालते थे। इसके कोर पर हुमायूँ एवं जहांगीर की लिखावट भी है। इसके अलावा अकबर कालीन तारीखे खानदाने तैमूरिया अर्थात हिन्दूस्तान के मुगल बादशाह जिस परिवार से संबंध रखते थे, परिवार के इतिहास की एक दुर्लभ, उत्कृष्ट और नफीस प्रति भी है। इसका सम्पादन अकबर के राज्याभिषेक के बाईसवें वर्ष में हुआ था। इसको शाहजहाँ ने अपने हाथ से प्रमाणित किया है। इसमें अकबर काल के प्रसिद्ध चित्रकारों के द्वारा बनाये गये 133 चित्र भी हैं। इस पाण्डुलिपि की कोई अन्य प्रति कहीं नहीं है। अन्य अमूल्य पाण्डुलिपि में सीरते फिरोजशाही है जिसमें सुल्तान फीरोजशाह के 38 वर्षीय शासल काल की परिस्थितियों का विस्तृत विवरण है। 16 वीं सदी ईसवी का हुसैनी कृत शाहनामा भी यहां मौजूद है, जिसमें तुर्की के सुलतान मुहम्मद सालिस के काल का विवरण है। कभी यह शाहजहाँ के निजी पुस्तकालय की शोभा थी। इस पर कई मुगल अमीरों एवं शाहजादों की मुहरें हैं। विशेषकर शाहजादी जहां आरा की। कज़्वीनी का बादशाहनामा भी 17 वीं शताब्दी में नस्तालीक लिपि में लिखित है। इसकी विशेषता शाहजहाँ कालीन वास्तुकला, विशेषकर ताजमहल, जामा मस्जिद, दीवाने खास आदि के कलमी चित्र है। 1911 ई० में दिल्ली दरबार के अवसर पर यह पाण्डुलिपि जार्ज पंचम एवं सम्राज्ञी मेरी के समक्ष पेश की गयी थी। इनके हस्ताक्षर और पुष्टि लेख इस पर अंकित हैं।

अरबी पाण्डुलिपियों ने 11 वीं शताब्दी ई० में लिखित किताबुल हशाइश है। इसमें साढ़ तीन सौ से अधिक जड़ी बूटियों के चित्र तथा उनकी आयुर्वेदिक विशेषताओं का भी उल्लेख है। इसी प्रकार एक अन्य अति महत्वपूर्ण पाण्डुलिपि अल-जहरावी की किताबुल-तफसीर भी है। 17 वीं सदी की यह रचना सचित्र है। इसमें शल्य चिकित्सा में उपयोग होने वाले अधिकांश उपकरणों के चित्र हैं। इसके अलावा कई अति महत्वपूर्ण पुस्तकें भी यहाँ सुरक्षित हैं, जिनमें अंतरिक्ष विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, खगोलशास्त्र, वनस्पति शास्त्र, कृषि विज्ञान और औषधीय पौधों का विस्तृत विवरण है। इनमें कुछ पुस्तकें अलबेरूनी द्वारा लिखित हैं जिसकी अन्य प्रतियां कहीं और उपलब्ध नहीं हैं।

उर्दू पाण्डुलिपियों में सबसे महत्वपूर्ण 18 वीं सदी ई० की 'मुरक्कउल मुलूक' की सचित्र प्रति है जिसमें तैमूरी बादशाहों एवं मध्यकालीन अन्य मुस्लिम शासकों का सचित्र संक्षिप्त विवरण है।

इस लाइब्रेरी में संस्कृत की 40 दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ भी हैं, जो ताड़पत्र पर अंकित हैं। उनमें नागरी एवं मिथिलाक्षर लिपि का प्रयोग है। यह उपनिषदों की प्रतियां हैं जो पाँच शताब्दी से भी अधिक प्राचीन हैं। इसके अलावा कलमी चित्रों की भी दुर्लभ प्रतियां यहां सुरक्षित हैं। जिनमें पटना कलम के चित्र अबरक के पन्नों पर बनाये गये हैं तथा मोगल चित्रकला की कुछ कृतियां हाथी दांत पर बनाई हुई हैं।

इस विशेष महत्व वाली लाईब्रेरी में सुरक्षित दुर्लभ मुद्रित पुस्तकों में सबसे पुरानी 1625 ई० में प्रकाशित अरबों का इतिहास है, जिसमें अरबी मूल ग्रंथ के साथ लैटिन अनुवाद भी शामिल है। 1806 ई० में प्रकाशित डेविडह्यूम की हिस्ट्र ऑफ इंगलैण्ड के सभी खण्ड भी यहाँ सुरक्षित हैं। लार्ड बाइरन की कविताओं का संकलन भी उपलब्ध है। जिसमें बाईरन की निजी लेखनी भी देखी जा सकती है। इसी प्रकार नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी की एक प्रति इस लाइब्रेरी में उपलब्ध है, जो नेपोलियन बोनापार्ट तृतीय के निजी पुस्तकालय की शोभा हुआ करती थी। इस प्रकार की अन्य पुस्तकों का संग्रह भी इस लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं जिसकी यहां उपलब्धता अन्य विश्व प्रसिद्व पुस्तकालयों में इसे एक असाधारण दर्जा दिलाता है।

वर्तमान में भी इस लाइब्रेरी को आधुनिक स्वरूप दिया जा रहा है और यहां आधुनिक तकनीकी व्यवस्थाएं की जा रही हैं। शोधकर्त्ताओं की सुविधा के लिए यहां संदर्भ सेवा भी है और आवश्यक संदर्भों अथवा सामान्य सूचनाओं को ई-मेल अथवा पत्रों के द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। लाइब्रेरी का 'रिप्रोग्राफिक' अनुभाग आवश्यकतानुसार माईक्रो फिल्म अथवा छाया प्रतियां भी उपलब्ध कराता है। लाइब्रेरी के वेबसाईट (www.kblibrary.nic.in) पर समस्त सूचनायें उपलब्ध हैं। वर्तमान में पुस्तकालय का प्रकाशन अनुभाव पुस्तकों के पुनः प्रकाशन और शोध आलेखों के मुद्रण में लगा हुआ है। लाइब्रेरी में पाण्डुलिपियों के डिजीटाईजेशन का काम जारी है। लाईब्रेरी में शोध एवं अनुसंधान की उत्तम व्यवस्था है। यहां खुदाबख्श व्याख्यान श्रृंखला के अंतर्गत समय-समय पर शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सामयिक विषयों पर प्रख्यात विद्वानों के लेक्चर का आयोजन होता है। लाईब्रेरी के Audio Visual अभिलेखागार में ऐसे आयोजनों के ऑडियो टेप, विडियो कैसेट और सीडी सुरक्षित हैं। समयनुसार लाईब्रेरी को नया आयाम देने के प्रयास अनवरत जारी है। अपनी एक अद्वितीय पहचान रखने वाली इस लाईब्रेरी में आज भी देश-विदेशों से लोग शोधकार्यों के लिए पहुंचते हैं और मध्य एवं दक्षिण एशिया के इस्लामिक, शैक्षणिक एवं साहित्यिक ज्ञान से परिचित होते हैं। आज हम सब बिहार वासियों को ज्ञान के इस अमूल्य धरोहर पर गर्व है क्योंकि अतीत के साथ-साथ वर्तमान में भी हमें यह गौरवशाली बिहार की याद दिला रहा है।

जीवक

डॉ० रवीन्द्र कुमार पाठक

बौद्ध साहित्य में जीवक की कथा, दीघनिकाय की विभिन्न ठीकाओं, विनयपिटक की समंतपासाविका टीका, विनय पिटक के जीवक वत्थु आदि में कई प्रसंगों में आती है। बिना जीवक के बुद्धकालीन समाज की कथा अधूरी है। जीवक के बारे में अन्य श्रोतों से भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है फिर भी उनका प्रारंभिक एवं मूल स्रोत पालि साहित्य है।

जीवक की कथा जितनी ही दर्दनाक है, उसका जीवन उतना ही करूणामय है। जीवक ने तिरस्कार, वियोग, सुख-संपत्ति, स्नेह साधना, करूणा आदि भावों का अपने जीवन में गहन साक्षात्कार किया है।

पालि विनय पिटक में जीवक वत्थु नाम से एक स्वतंत्र कथा है। उसके अनुसार जब वैशाली में आम्रपालि नगरवधू की रूपकथा जोरों पर थी उसी समय राजगृह के सेठ ने मगध में भी राजा से आग्रह कर एक लड़की को नगरवधू घोषित करने की परंपरा का आरंभ कराया। राजा ने उसी सेठ पर जिम्मेवारी सौंपी और उसने राजगृह में सालवती नाम की एक सुंदर कुमारी का चयन कर उसे नगर की गणिका के पद पर स्थापित किया। उसे नृत्य, गीत आदि की संपूर्ण शिक्षा भी दी गई और वह उसमें दक्ष भी हो गई।

नगरवधू की परंपरा में गणिका का गर्भधारण करना वर्जित होता है। इसके कारण उसे गणिका का पद एवं उसके साथ प्राप्त संपूर्ण वैभव लौटाना पड़ता। सालवती ने गर्भ को छुपाने के लिए बीमारी का बहाना बनाकर किसी तरह अपने गर्भकाल का समय व्यतीत किया और एक पुत्र को जन्म दिया। उसने अपनी दासी को आज्ञा दी कि इसे रास्तें में पड़ने वाले कूड़े के ढ़ेर पर फेंक आओ और आदेशानुसार उस नवजात शिशु को फेंक दिया गया। कौओं के चिल्लाने से लड़कों ने उसे घेर लिया और संयोगवश राजकुमार अभय उसी तरफ से गुजर रहे थे। राजकुमार अभय ने उसे अपने अंत:पुर में मंगवाकर धायों को उस शिशु को पालने का आदेश दिया और कि बच्चा जीता है या नहीं? “जीवति, मर्जति?” जीवति, देवाऽ। इसी आधार पर जीने-वाला जीवक नाम से वह जाना जाने लगा। चूंकि कुमार अभय ने उसे पालन-पोषण कराया इसलिए ‘कुमार के द्वारा पाला गया’ इस अर्थ में कोमारभच्चो नाम से भी जाना गया। जीवको कोमारमच्चो नाम से वह बालक प्रख्यात हुआ।

इस प्रकार आजीवक की माता का नाम सालवती के रूप में तो जाना जाता है किंतु उसके पिता के नाम की कोई चर्चा नहीं है। अपने बचपन की पीड़ा ने जीवक को बाल चिकित्सा को विस्तृत एवं स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित करने की प्रेरणा दी।

पालि साहित्य का जीवक आयुर्वेद में जीवक के साथ आजीवक नाम से भी उल्लिखित है। इतना ही नहीं आयुर्वेदिक मूल (बिना कूटी-पिसी अपने प्राकृतिक रूप में) दवाओं के संग्रह एवं व्यापार करन वाली बिरादरी को जीवक एवं जीवकिया भी कहा जाता है। पिछले 30 वर्ष पूर्व तक इनके व्यापार एवं इनकी परंपरा को जानन-समझने का अवसर मुझे मिला है। अब इनका रोजगार लगभग समाप्त हो गया है। ये हींग एवं शिलाजित का व्यापार करने तक सीमित हो गए हैं। दु:ख निवारण का प्रत्यक्ष कार्य इस संसार में चिकित्सक करते हैं। चिकित्सक के लिए कारूपिक (करूणायुक्त) होना जरूरी है। उसमें बालक जो अपनी पीड़ा एवं भाव को ठीक ढ़ंग से व्यक्त ही नहीं कर पाते उनकी पीड़ा का समाधान

करना तो बहुत जरूरी था। जैसे बौद्ध धर्म आर्य (श्रेष्ठ) अष्टांगिक (आठ अंगो वाला) है उसी प्रकार भारतीय चिकित्सा परंपरा का आयुर्वेदिक मार्ग भी आठ अंगोवाला है- काय, शल्य, शाल्याक, अगढ़, बावजीकरण, भूतविधा, प्रसूति और कौमारभृत्य। इसमें से आठवें अंग कौमार भृत्य के प्रणेता बनने का गौरव जीवक को प्राप्त होता है।

जीवक एक कोमारयच्च शब्द की व्युत्पति एवं व्याख्या में जीवक के व्यक्तित्व के कई पक्ष स्पष्ट होते हैं। आजीवक नाम उसकी दीर्घायु के लिए रखा गया है। वह बच्चों को जिलानेवाले शास्त्र का प्रणेता बना इस अर्थ में भी आजीवक नाम सार्थक है। कुमारा भच्चो-कुमारों का भरण-पोषण करने वाला अर्थ भी सार्थक है। आर्युवेद में बाल चिकित्सा को कौमार भृत्य कहा जाता है। आजीवक ने इस प्रकार भारतीय चिकित्सा शास्त्र में एक नए अध्याय का प्रारंभ किया जो कालांतर में और अधिक विकसित किया गया।

आर्युवेद नाम बाद का है। प्रचलित शास्त्रीय नाम, तंत्र, भैषज्य एवं वैद्यकी है। भैषज्य अथवा तंत्र के विकास में वैदिक एवं बौद्ध दोनों धाराओं ने योगदान किया है। इसका सरल प्रमाण आर्युवेद की शाखाओं को तंत्र कहा जाता है, जैसे- शल्य तंत्र, शालाक्य तंत्र, प्रसूति तंत्र। कौमार मृत्यु को तंत्र नहीं कहा गया क्योंकि महायान-वज्रयान के विकास पहले ही बुद्ध के समय जीवक की विद्या प्रतिष्ठित हो गई थी। बिंबिसार एवं अजातशत्रु के साथ भगवान बुद्ध की निकटता को बढ़ाने में जीवक की भूमिका प्रमुख थी। भगवान बुद्ध को अपने संघ के सदस्यों की संख्या में वृद्धि कि साथ नियमों में लगातार संशोधन करते रहना पड़ा। कुछ संशोधनों से भगवान बुद्ध सहमत भी नहीं थे। भिक्षुओं के बीमार पड़ने पर उन्हें दवा एवं पथ्य की सूची बढ़ानी पड़ी थी। इसमें जीवक की सलाह महत्वपूर्ण थी। आजीवक ने राजगीर में भगवान को अपने बगीचे (अम्ब वन/आमवन) में संघ के साथ विश्राम करने के लिए सहमत किया था। इसके बाद जंगलों के साथ बगीचों में टिकने की परंपरा भी शुरू हुई। जीवक के आम्रवन का अवशेष राजगीर में किले से काफी दक्षिण शांति स्तूप के मार्ग में है। यह दूरी लगभग 3 कि० मी० है। जीवक मगध के महान शास्काओं में से एक हैं। उनका समय अजातशत्रु का समय है। वे उनके आश्रय में पले-बढ़े एवं बाद में राजवैद्य हुए। उनके बचपन के बारे में कई प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं। लिखित विवरण के रूप में पालि त्रिपिटक एवं उसपर लिखी गई अश्वघोष की अट्कथा (अर्थात विस्तृत व्याख्या) में उनके बचपन का विवरण मिलता है। उसके अनुसार वे एक ऐसे अनाथ बालक थे जिसका पालन-पोषण मगध राज्य के राज्याश्रय में हुआ और बाद में उन्होंने तक्षमशिला में चिकित्सा शास्त्र (भैषज्य) की पूरी विद्या प्राप्त की।

उनकी विद्या की परीक्षा हेतु उनके गुरू ने कहा कि कोई ऐसा पौधा लाओ जिसका चिकित्सा में उपयोग न हो। जीवक घूम-फिर कर लौट आए। अपने गुरू को बताया कि उन्हें ऐसा कोई पौधा नहीं मिला जो चिकित्सा के लिए उपयोगी न हो। इस उत्तर से आर्युवेद के संबंध में उनकी स्पष्ट दृष्टि, प्रवरता तथा चिकित्सकीय द्रव्यों के गुण धर्मों के विस्तृत अध्ययन का ज्ञान होता है। कफ-बात-पित्त जब किसी भी पदार्थ के मूल में है तो फिर उनका उपयोग कैसे नहीं हो सकता? यह कथा उनके परिचय का अनिवार्य भाग है।

मगध में लोक विद्याओं को बहुत प्रतिष्ठा दी गई है। तर्कशास्त्र के गूढ़ विषयों से अधिक साधना परक प्रायोगिक विद्याओं के विकास को समान या कुछ अधिक महत्व दिया गया। परिणामत: कई बार भगवान बुद्ध को अपनी खानदानी या क्षेत्रीय दृष्टि को छोड़कर मागधी सांस्कृतिक बिंबों में अपना परिचय देना पड़ा। उन्हें मगध की दृष्टि एवं शैली में अपने को किसान एवं महावैद्य कहना पड़ा। 'कासि

भरद्वाज' सुत्त में वे अपने को किसान कहते हैं। भिषक् कर्म को वैदिक धारा में निन्दित कर्म माना जाता रहा है। चिकित्सा करने वाले लोगों को अत्यंत तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया है। ठीक इसके विपरीत बुद्ध को महाभिषक् की उपाधि दी गई। जो एक जन्म के किसी एक दो रोग से मुक्ति दिलाए वह भिषक् और जो जन्म-जन्मांतर के दु:ख से मुक्ति दिलाए वह महाभिषक भैषज्य की इस प्रतिष्ठा को बौद्ध परंपरा में सम्मिलित कराने का श्रेय जीवक को जाता है। भिषक जीवक ने बुद्ध को महाभिषक के पद पर प्रतिष्ठित किया। जीवक ने अपने जीवन में जो-जो कष्ट अनुभव किए उससे संसार के लोगों को मुक्त कराने का प्रयास किया। जीवक विधाध्ययन कर जब तक्षशिला से लौट रहे थे श्रावस्ती के आस-पास उनका पाथेय समाप्त हो गया इससे उन्हें पार्थय एवं दवाओं का महत्व समझ में आया और भगवान बुद्ध को उन्होंने परामर्श दिया कि भिक्षुओं को अपने पास कुछ-कुछ सामान एवं दवा रखने की छूट दी जाए।

जीवक की उदारता एवं यश का लाभ सभी लोग लेना चाहते थे। एक अकेला जीवक के लिए राजा के परिवार एवं भिक्षु संघ से ही फुरसत पाना कठिन था। उस समय मगध में चार भयानक बीमारियों का प्रकोप था। इसकी सूचना 'फचाबाधावत्थु' में मिलती है। दुर्भाग्य से आज तक यह धरती इन बीमारियों से मुक्त नहीं हो पाई है। वे हैं (कुष्ठ), गण्ड (खुजली, दिनाय, चर्म रोग), किलास (शरीर का कमजोर होना- टी. बी., पुराना ज्वर आदि) सोस (सूखना) अपभारो (मिरगी, अपस्भार)।

लोगों ने सोचा कि भिक्षु बन जाने से इन बीमारियों की चिकित्सा का लाभ मिलेगा। भिक्षुओं के सम्मान में राज्याश्रय में दवा और जीवक जैसे वैद्य की चिकित्सा मिलेगी। इन बड़ी व्याधियों में कई एक दूसरे फैलनेवाली संक्रामक भी हैं। जीवक ने बुद्ध से आग्रह किया कि संक्रामक रोगों से ग्रस्त भिक्षुओं को संघ में प्रव्रज्या न दी जाए। वे मुफ्त का माल उड़ाने के लिए संघ में प्रवेश करते हैं और प्रजाजनों से भी दवा एवं पथ्य मांगते फिरते हैं। इससे मेरे अन्य कार्यों में विघ्न आते हैं।

इस समस्या का रोचक वर्णन 'पञ्चाबाधवत्थु' में मिलता है। इसके बाद जीवक के आग्रह पर इन पांच प्रकार के रोगों से ग्रस्त लोगों को संघ में प्रवेश समाप्त हो या। शील-समाधि-प्रज्ञा के मार्ग में चिकित्सा की लालच से प्रवेश को रोकना भले ही किसी को ठीक नहीं लगे किंतु यह रोक जीवके के कारण हई।

बाद में इस समस्या के समाधान के लिए नालंदा आदि के महाविहारों में भैषज्य की सभी शाखाओं की शिक्षा भी दी जाने लगी। रसायनशाला के अवशेष अभी भी नालंदा के खण्डहर में उपलब्ध हैं। नागार्जुन को महान रसवैद्य माना गया है।

बुद्ध की चिकित्सा की पूरी जिम्मेवारी ही जीवक पर थी। वह इससे कभी-कभी परेशान भी हो जाता था। इसका विवरण 'राजामच्चकथा' में मिलता है।

एक समय भगवान बुद्ध बीमार पड़ गए। उनकी सोने की व्यवस्था करने के बाद जीवक ने सोचा कि यह वेल्लुवन दूर में है और मेरा आम्रवन पास में है। अत: उसने अपने आम्रवन को चारदीवारी से घेरकर उसमें रात में बैठने के स्थान दिन में बैठने के स्थान, कुटी, मण्डप आदि का निर्माण कराकर फिर उसमें बुद्ध के लिए गंधकुटी (संभवत: खास की) बनाकर विधिवत बुद्ध एवं सघ के विहार के लिए उन्हें समर्पित कर दिया। इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि राजगीर में जीवक का आवास वर्तमान किले के पास न होकर आम्रवन के पास में था।

उपर्युक्त रूप से जीवक मगध का एक अद्भुत चिकित्सक, बुद्ध का परम प्रिय व्यक्ति और

कौमारभृत्य अर्थात् बाल चिकित्सा का प्रणेता होकर सदा के लिए अमर हो गया।

संपादक:
नरेन

प्रकाशक:
वन बिहार टीम
रिमझिम टेक्सटाईल के ऊपर
मेर बोरिंग रोड
पटना- 800 001.

अवधारणा:
नवीन शर्मा
वन बिहार टीम

कम्प्युटर टंकण:
अभिषेक कुमार प्रसाद, पटना

डिजाईन:
चंदन सिंह
वन बिहार टीम, पटना

कॉपी राईट
वन बिहार टीम, पटना, 2007.

Website	**http://www.proudbihari.com**
Blogspot	http://1bihar.blogspot.com/
Feedback	feedback.gauravshalibihar@gmail.com
Order	order.gauravshalibihar@gmail.com
E-mail of the Team	onebihar@yahoogroups.co.in
Telephone	+91 612 6450916

पटना, भारत में प्रकाशित
द ऑफसेटर्स (इंडिया) प्राइवेट लि०
मुखर्जी हाऊस, 69/4 डॉ० टी. एन. बनर्जी रोड
छज्जूबाग, पटना- 800 001.

मूल्य: रु० 390/- (भारत में)
मूल्य: डॉलर 19.90 (भारत के बाहर)

Image during Release of Book Gauravshali Bihar

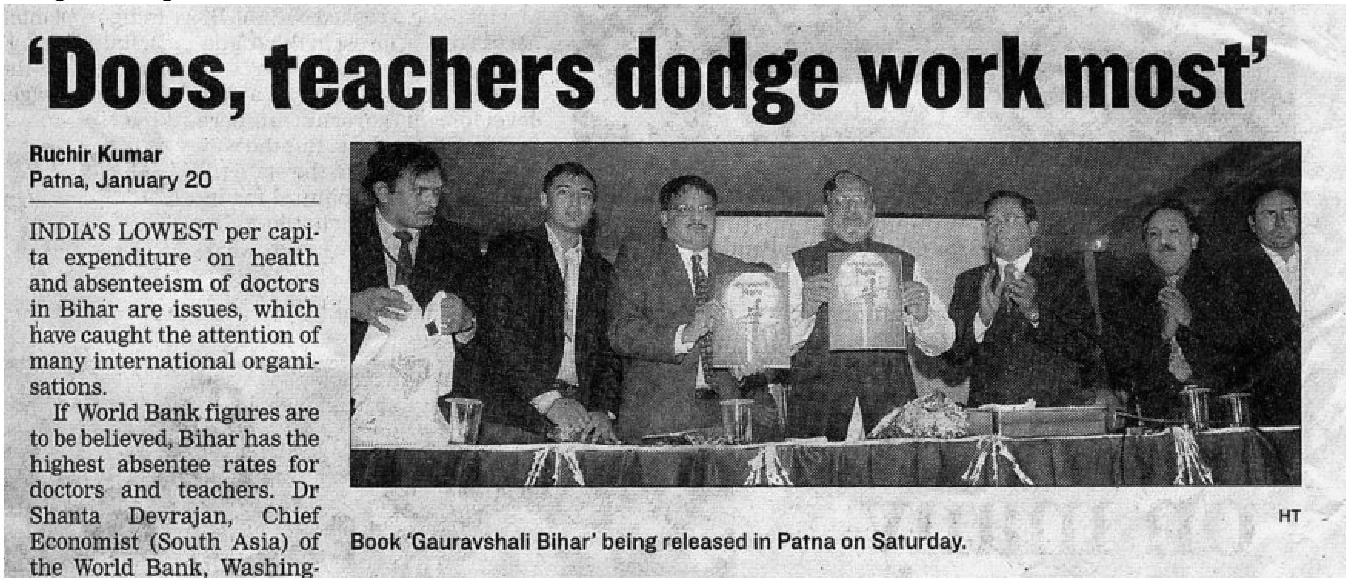

'Docs, teachers dodge work most'

Ruchir Kumar
Patna, January 20

INDIA'S LOWEST per capita expenditure on health and absenteeism of doctors in Bihar are issues, which have caught the attention of many international organisations.

If World Bank figures are to be believed, Bihar has the highest absentee rates for doctors and teachers. Dr Shanta Devrajan, Chief Economist (South Asia) of the World Bank, Washing-

HT

Book 'Gauravshali Bihar' being released in Patna on Saturday.

Sri Nitish Kumar CM Bihar reading the book

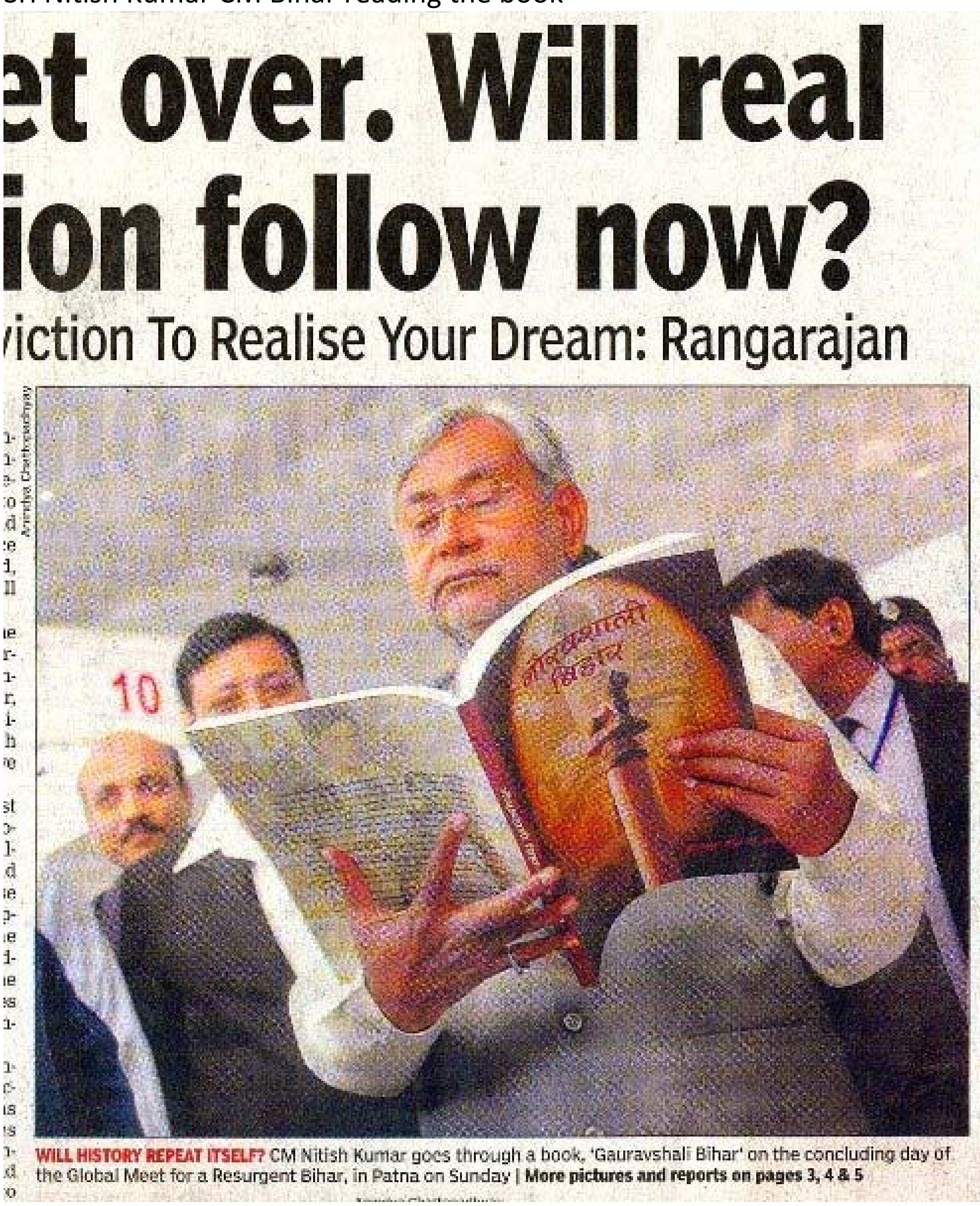

et over. Will real ion follow now?

viction To Realise Your Dream: Rangarajan

WILL HISTORY REPEAT ITSELF? CM Nitish Kumar goes through a book, 'Gauravshali Bihar' on the concluding day of the Global Meet for a Resurgent Bihar, in Patna on Sunday | **More pictures and reports on pages 3, 4 & 5**

बाद शीर्षक और अपनी टिप्पणी 4 बजे अपराह्न तक 4242 पर एसएमएस अवश्य कर दें।)

किताब खरीदकर पढ़ें : नीतीश

पटना (हि.ब्यू.)। ग्लोबल मीट के आखिरी दिन मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने दो किताबें खरीदीं। उन्होंने एक प्रकाशक के उपहारस्वरूप किताब देने की पेशकश को यह कह कर ठुकरा दिया कि किताब खरीद कर ही पढ़नी चाहिए। मुफ्त की किताबों से ज्ञान नहीं मिलता। श्री कुमार रविवार को विधान पार्षद संजय झा और प्रधान सचिव आरसीपी सिन्हा के साथ करीब 12 बजे दिन में आयोजन स्थल पर पहुंचे। सबसे पहले बुक स्टाल पर जहां उनकी नजर वेनेजुएला में 2002 में हुई असफल सैनिक क्रांति से संबंधित किताब 'अंडरस्टैंडिंग द वेनेजुएला रिवोल्यूशन' पर पड़ी। पहली नजर में ही उन्होंने किताब खरीदने का फैसला किया। इसके लिए 150 रुपये चुकाए। पसंद की दूसरी पुस्तक बनी-गौरवशाली बिहार। इसकी कीमत 350 रुपये है। प्रकाशक चाहते थे कि मुख्यमंत्री उपहार के तौर पर इसे स्वीकार कर लें। मुख्यमंत्री ने इससे इनकार किया। इस पुस्तक में धर्म, इतिहास और समाज के दूसरे मुद्दों को प्रभावित करनेवाले बिहारी नायकों की गाथा है। यह पुस्तक पहाड़ काट कर रास्ता बनानेवाले दशरथ मांझी को समर्पित है।

About One-Bihar Team ☺

THE TIMES OF INDIA, PATNA-RANCHI NATIONAL
FRIDAY, JANUARY 19, 2007

One Bihar : It's a flat world

They're living in California, New York, Melbourne, Mumbai, Bangalore, Delhi and Patna. Many of them haven't even met each other face to face. They're IT professionals, writers, educationists, entrepreneurs, health professionals. They're the One Bihar team. And they've come out with a 216 page book '*Gauravshali Bihar*'. It's an anthology of biographical sketches, showcasing the lives of 55 exceptional Biharis down the ages.

The range of personalities featured is diverse : Valmiki, Pir Ali, Aryabhat, Bikhari Thakur, Satyendra Dubey, Sita, Kalawati Devi, Amrapali .... The idea, says Naveen Sharma, one of the brains behind the book, is to catalyse Biharis to fulfil their half-finished dreams. As he says, any society becomes backward when its members think of themselves as backward. Biharis have changed the fortunes of India for the better down the ages. This collection of exceptional men and women from an 'incomparable' state is aptly dedicated to Dashrath Manjhi, the man who cut through a mountain single handed in order to bring his village closer to civilisation. The book is expected to be released at 'Resurgent Bihar' conference.